धन्य-मुनिदशा

(खण्ड - 1)

ॐ

श्री परमात्मने नमः

धन्य मुनिदशा

भाग - 1

दिगम्बर मुनिदशा की भावना, महिमा, एवं अन्तर्बाह्य स्वरूप को दर्शानेवाले,

मुनिभक्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के

मङ्गल प्रवचनों का अनुपम सङ्कलन

सङ्कलन, हिन्दी रूपान्तरण एवं सम्पादनः

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रकाशन सहयोग :

श्रीमती पानादेवी धर्मपत्नी मोहनलाल सेठी,

(गोहाटीवाले) जयपुर

प्रकाशक :

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश)

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
तृतीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
मङ्गलायतन विश्वविद्यालय में आयोजित **श्री आदिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के** शुभ अवसर पर प्रकाशित एवं प्रसारित

ISBN : **978-81-906776-1-5**

न्योछावर राशि : रुपये 35.00

AVAILABLE AT -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,** Sasni - 204216, Hathras (U.P.) India
e-mail : info@mangalayatan.com

— **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN,** A-4, Bapu Nagar, Jaipur - 302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH, SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST,**
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056; Ph. : 022-26130820, (Res.) 24015434
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA,** Songarh (Guj.)

U. K.

— **PRESIDENT, SHRI DIGAMBER JAIN ASSOCIATION**
1, The Broadway, Wealdstone, Harrow, Middlesex, HE3 7EH, U.K.

— **SMT. SHEETAL VIJEN SHAH**
Flat No. 9, Maplewood Court, 31-Eastbury Ave., Northwood,
Middlesex, U.K. (HA6 3LL); e-mail : sheetalvs@aol.com

U.S.A.

— **SECRETARY, DIGAMBER JAIN SWADHYAYA MANDIR SONGARH**
304, Tall Oak Trail, Tarpon Springs, Florida 34688, U.S.A.
e-mail : kahanguru@hotmail.com

— **DR. KIRIT P. GOSALIYA,** 14853, North 12th Street, Phoenix, Arizona, 85022 U.S.A.
e-mail : digjain@aol.com

— **SMT. JYOTSANA V. SHAH**, 602, Hamilton Avenue, Kingston, PA 18704-5622, U.S.A.
e-mail : jyotsana2@yahoo.com

KENYA

— **PRESIDENT, DIGAMBER JAIN MUMUKSHU MANDAL, NAIROBI**
M/s. Coblantra Ltd., G.P.O. 00100, P.O. Box - 41619, Nairobi, Kenya
e-mail : spraja@mitsuminet.com

टाइप सेटिंग : **मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़**

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर**

प्रकाशकीय

(तृतीयावृत्ति)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के, परमपूज्य दिगम्बर जैन मुनिदशा की भावना, महिमा एवं अन्तर्बाह्य स्वरूप को दर्शानेवाले मङ्गल प्रवचनों का अद्भुत सङ्कलन **धन्य-मुनिदशा (खण्ड -1)** का तृतीय संस्करण सद्धर्म प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए, हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया ? क्या नहीं छोड़ा ? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम

काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार–प्रसार में संलग्न है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त बहिनश्री चम्पाबेन के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी **तीर्थधाम मङ्गलायतन** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ **'धन्य–मुनिदशा (खण्ड–1)'** प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में समागत प्रवचनों का सङ्कलन पूज्य गुरुदेवश्री के विविध परमागमों पर हुए प्रवचनों से किया गया है, जो आत्मधर्म के प्राचीन अङ्कों, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद दैनिक एवं विविध प्रवचन ग्रन्थों में गुजराती भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ में समाहित प्रवचनों का सुव्यवस्थित सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद कार्य **मङ्गलायतन** के विद्वान् पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलिया द्वारा सम्पन्न किया गया है। इस कार्य में डॉ. राकेश जैन शास्त्री का भी भरपूर सहयोग रहा है।

यह तो सर्व विदित ही है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** से प्रत्येक माह **मङ्गलायतन** पत्रिका का प्रकाशन होता है। इस पत्रिका की उल्लेखनीय विशेषता विविध विषयों पर विशेषाङ्कों का प्रकाशन है। वर्तमान में धन्य मुनिदशा विशेषाङ्कों की शृंखला में जैन जगत् में एक इतिहास रचा है। अब तक **धन्य मुनिदशा** के 37 विशेषाङ्क हम समाज को समर्पित कर चुके हैं। इन विशेषाङ्कों में प्रकाशित सम्पादकीय, पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रवचन, वचनामृत एवं मुनि जीवन की प्रेरक कथाओं को आवश्यक परिवर्द्धन के साथ अलग–अलग ग्रन्थों प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत प्रकाशन **धन्य–मुनिदशा (खण्ड–1)** इसी शृंखला की एक कड़ी है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन के इस उपक्रम से जहाँ समाज को मुनिदशा से सम्बन्धित सत्साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध होगा, वहीं इस भ्रम का प्रक्षालन भी होगा कि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, मुनि विरोधी हैं। साथ ही मुनिमार्ग में व्याप्त शिथिलाचार पर अंकुश लगाने में भी यह साहित्य मील का पत्थर सिद्ध होगा – ऐसी आशा है। मुनिदशा से सम्बन्धित इन ग्रन्थों के अध्ययन से जहाँ साधर्मीजनों में वीतरागी सन्तों के प्रति बहुमान का भाव जागृत होगा, वहीं शिथिलाचार के प्रति सतर्कता और सजगता वृद्धिगत होगी।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ***मङ्गलायतन*** मासिक पत्रिका की धन्य मुनिदशा शृङ्खला को सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज ने आशातीत अनुमोदन प्रदान किया है। इस कार्य में पूज्य गुरुदेवश्री के अनुयायी मुमुक्षुजनों का तो भरपूर समर्थन प्राप्त हुआ ही है; गुरुदेवश्री के द्वारा प्रदत्त वीतरागी तत्त्वज्ञान से असहमति रखनेवाले हमारे साधर्मीजनों एवं कई मुनिसंघों ने भी इस पत्रिका की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करके हमारा उत्साहवर्द्धन किया है – तदर्थ हम सभी के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

साधर्मीजनों से प्राप्त उत्साह से प्रेरित होकर ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** में 'धन्य मुनिदशा' प्रकल्प का निर्माण किया गया है, जिसमें ध्वनि एवं प्रकाश के माध्यम से परम पूज्य मुनि भगवन्तों की आत्मसाधना को चित्रित किया गया है। हम सभी साधर्मीजनों को सपरिवार इष्टमित्रोंसहित ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के साथ-साथ इस अद्भुत रचना के दर्शनों का आमन्त्रण प्रेषित करते हुए अत्यन्त हर्षित हैं। आईये, पधारिये – यहाँ आपका स्वागत है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशनकर्ता के रूप में **श्रीमती पानादेवी धर्मपत्नी मोहनलाल सेठी, गोहाटीवाले, जयपुर** के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। साथ ही प्रस्तुत प्रकाशन को अल्प मूल्य में प्रचारित करने में सहयोगदाताओं के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें – यही भावना है।

पवन जैन

दिनाङ्क, 23 दिसम्बर 2010

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सम्पादकीय

वीतरागमार्ग के साधक / उपासक ज्ञानी धर्मात्माओं के अन्त:स्थल में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति दृढ़ आस्था, समर्पण एवं उछलती हुई भक्ति विद्यमान होती है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि साधक का अन्तरङ्ग, संयम की उत्कृष्ट भावना से ओतप्रोत होता है। अपनी चारित्रिक निर्बलता के कारण संयम धारण न कर पाने पर भी उनके जीवन में संयम एवं संयमियों के प्रति अहो भाव विद्यमान रहता है।

जैनदर्शन के अनुसार वीतरागी देव तो पूर्णता को प्राप्त परमात्मा कहलाते हैं, वे कृतकृत्य एवं पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द के भोगी सर्वज्ञ होते हैं। उनकी वाणी एवं उसी परम्परा से कथित वीतरागी सन्तों, ज्ञानी धर्मात्माओं की वाणी, जिनवाणी कहलाती है। जो पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हैं, अतीन्द्रिय आनन्द के भोजी एवं विषय-वासनाओं की भावना से अत्यन्त दूर, ज्ञान-ध्यान और तप में लीन हैं, वे मुनिराज ही हमारे गुरु कहलाते हैं।

मुनिराज की अन्त:परिणति को दर्शाते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि —

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते॥ 10॥

अर्थात् जो पाँच इन्द्रियों के विषयों की आशा, अर्थात् वाँछा से रहित हों; छह काय के जीवों का जिसमें घात होता है, ऐसे आरम्भ से रहित हों; अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग समस्त परिग्रहों से रहित हों; ज्ञान-ध्यान-तप में आसक्त हों, वे तपस्वी, अर्थात् गुरु हैं, वे ही प्रशंसनीय हैं।

अनेक ग्रन्थों के आधार पर पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ (पृष्ठ-3) में मुनिदशा का सजीव चित्रण इस प्रकार किया है —

'जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अङ्गीकार करके – अन्तरङ्ग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने को आपरूप अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, तथा अपने ज्ञानादिक स्वभाव ही को अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभाषित होते हैं, उन्हें जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते; शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती है, वैसे बनती है, खींचकर उनको नहीं करते तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं तथा कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है – उससे जो शुद्धोपयोग के बाह्य साधन हैं, उनमें अनुराग करते हैं परन्तु उस रागभाव को हेय जानकर दूर करना चाहते हैं तथा तीव्र कषाय के उदय का अभाव होने से हिंसादिरूप अशुभोपयोगपरिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है – ऐसी अन्तरङ्ग (अवस्था) होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं। शरीर का सँवारना आदि विक्रियाओं से रहित हुए हैं; वनखण्डादि में वास करते हैं; अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं; बाईस परीषहों को सहन करते हैं; बारह प्रकार के तपों को आदरते हैं; कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं; कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्मक्रियाओं में प्रवर्तते हैं; कदाचित् मुनिधर्म के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु योग्य आहार-विहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं।

— ऐसे जैन मुनि हैं, उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है।'

वर्तमान शताब्दी के सर्वाधिक चर्चित व्यक्तित्व एवं हमारे जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अन्तरङ्ग में ऐसे मुनि भगवन्तों के प्रति अपार भक्तिभाव तो था ही, वे स्वयं भी उस दशा की भावना भाते थे – जो उनके इन विचारों से स्पष्ट परिलक्षित होता है —

'जैसे, पिता को देखते ही पुत्र को हर्ष होता है; उसी प्रकार अपने धर्मपिता को देखते ही धर्मात्मा के मन में हर्ष होता है। जिसे स्वप्न में भी ऐसे दिगम्बर सन्त के दर्शन के प्रति

अरुचि का भाव आता है, वह जीव, पापी है। अरे! देवता भी जिनके चरणों में नमते हैं, कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे महान सन्त भी जिनके लिये धन्य-धन्य कहते हैं – ऐसे दिगम्बर सन्त -मुनियों के प्रति जिस जीव को प्रमोद-भक्ति-बहुमान नहीं आता, वह जीव, मिथ्यादृष्टि है।

(अष्टपाहुड़ प्रवचन, 185)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक वीतरागता के पिण्ड, मुनि चले आ रहे हों, वह तो मानो साक्षात् मोक्षतत्त्व आया है। अहा! ऐसी मुनिदशारूप जिनमुद्रा जिसे नहीं रुचती, उसे आराधना का प्रेम ही नहीं है। ऐसी जिनमुद्राधारक मुनि के साक्षात् दर्शन होने पर मुमुक्षु जीव का हृदय आराधना के प्रति, भक्ति से उछल पड़ता है।

अरे! स्वप्न में भी जिसे ऐसी मुनिदशा के प्रति अरुचि आये अथवा उसके प्रति अवज्ञा हो, वह जीव गहन भववन में भटकता है, क्योंकि उसे आराधना के प्रति तिरस्कार है। धर्मी को तो स्वप्न में भी वीतरागी सन्त-धर्मात्मा का बहुमान आता है। स्वप्न में भी मुनि इत्यादि धर्मात्मा के दर्शन होने पर भक्ति से धर्मी का रोम-रोम उल्लसित हो जाता है।

(भावपाहुड़ पर प्रवचन से)

अहो! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। **दिगम्बर साधु; अर्थात्, साक्षात् मुक्ति का मार्ग। अहो! ये तो छोटे सिद्ध हैं!** अन्तर चिदानन्दस्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनिराज की महिमा की क्या बात ? **ऐसे मुनिराज के दर्शन हों तो भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणाविन्द को नमन करते हैं। धन्य मुनिदशा! हम भी इस दशा की भावना भाते हैं।** *(- गुरुदेवश्री के वचनामृत, 142, पृष्ठ 90)*

सम्यग्दर्शनसहित चारित्रदशा होती है, वहाँ बाहर में भी दिगम्बर द्रव्यलिङ्ग होता है; इस प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वीतरागी जिनमुद्रा धारण करनेवाले सन्त मुनि स्वाधीन आत्मसुख का अनुभव करते हैं। आचार्यदेव स्वयं ऐसे स्वाधीन सुख का अनुभव करते हैं। ऐसी जिनमुद्रा धारक धर्मात्मा मुनियों के दर्शन में जिसे प्रमोद और भक्ति नहीं आती, वह जीव, आराधना से भ्रष्ट वर्तता हुआ संसार में ही भ्रमण करता है।

धर्मी जीव तो ऐसे आराधक मुनियों को देखते ही प्रमुदित होता है कि वाह धन्य आपकी आराधना! धन्य आपकी चारित्रदशा!! धन्य आपका अवतार!!! आप साक्षात् मोक्ष का साधन कर रहे हैं। इस प्रकार धर्मी जीव, प्रमोदपूर्वक अपनी रत्नत्रय की आराधना की भावना पुष्ट करता है।' ***(भावपाहुड़ पर प्रवचन से)***

मुनिदशा के सम्बन्ध में गुरुदेवश्री के चिन्तन की वास्तविक वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी कतिपय निहित स्वार्थों के कारण पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनके अनुयायियों पर मुनि विरोधी होने के आरोप सदा से लगाये जाते रहे हैं। यद्यपि वे आरोप, मात्र अनर्गल कल्पना ही हैं, तथापि उससे सामाजिक वातावरण तो दूषित होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री पर मुनि विरोधी होने का अनर्गल आरोप शायद इसलिए भी लगाया गया कि उन्होंने कभी शिथिलाचार एवं शिथिलाचारियों का समर्थन नहीं किया। उन्होंने आगम, युक्ति और तर्क के आधार पर अपनी बात को रखा और उसने शिथिलाचार के विरुद्ध एक सशक्त वातावरण का निर्माण किया। शायद यही कारण रहा कि शिथिलाचार के समर्थक वर्ग द्वारा उन्हें मुनि विरोधी कहा जाने लगा।

यदि शिथिलाचार का निषेध और मुनि के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन ही मुनि –विरोध है तो आचार्य कुन्दकुन्द, वट्टकेर, सकलकीर्ति, गुणभद्र, समन्तभद्र इत्यादि सभी वीतरागी सन्त, मुनि–विरोधी सिद्ध हो जाएँगे, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं भी शिथिलाचार का समर्थन या पोषण नहीं किया है, अपितु उसके विरुद्ध दृढ़तापूर्वक अपनी लेखनी चलाई है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने भी उन्हीं वीतरागी सन्तों की दिव्यदेशना को अपनी सरलतम भाषा में प्रस्तुत कर, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज पर अपरिमित उपकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावनोदय से स्थापित **तीर्थधाम मङ्गलायतन** से प्रति माह प्रकाशित होनेवाली **मङ्गलायतन** पत्रिका अपनी विशिष्ट शैली एवं रोचक प्रस्तुति के कारण आज अत्यन्त लोकप्रिय हो चुकी है। इस पत्रिका के माध्यम से हमने अब तक **धन्य मुनिदशा** के 37 विशेषाङ्क प्रकाशित किये हैं। इन विशेषाङ्कों में आगम–आधार पर लिखे गये सम्पादकीय, गुरुदेवश्री के प्रवचन, वचनामृत एवं मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में लोकप्रियता के चरम पर पहुँच चुके हैं। आज विवेकीजन यह सोचने पर मजबूर हुए हैं कि

क्या वास्तव में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मुनि विरोधी हैं ?

हमारे कार्यालय में गुरुदेवश्री द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान से असहमति रखनेवाले सैकड़ों साधर्मियों द्वारा एवं कई मुनि संघों द्वारा भी इस पत्रिका के प्रमेय की मुक्त कण्ठ से की गयी प्रशंसा ने हमारा उत्साहवर्द्धन किया है।

इसी पत्रिका के धन्य मुनिदशा विशेषाङ्कों से प्रेरित होकर **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के प्राङ्गण में धन्य मुनिदशा प्रकल्प का निर्माण आज सम्पूर्ण विश्व की अमूल्य धरोहर बन चुका है। हजारों साधर्मी एवं जैनेतर बन्धु भी इस प्रकल्प के दर्शन करके मुनिराज के दिगम्बरत्व स्वरूप से परिचित एवं प्रमुदित होते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अनुयायियों द्वारा इससे बड़ी मुनिभक्ति का दूसरा क्या प्रमाण हो सकता है ?

मङ्गलायतन (मासिक) के अलग-अलग अङ्कों में प्रकाशित लेखों से अध्ययन में एकरूपता नहीं आ पाती; अत: उक्त सम्पूर्ण सामग्री को आवश्यक संशोधन / परिवर्द्धन के साथ **धन्य मुनिदशा** (चार खण्ड), **ते गुरु मेरे उर बसो** (वचनामृत खण्ड) एवं **धन्य मुनिराज हमारे हैं** (कथा खण्ड) के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पत्रिका में पृष्ठों की मर्यादा के कारण बहुत-सा प्रमेय नहीं दिया जा सका है, जिसे अब ग्रन्थाकार प्रकाशन में शामिल किया गया है; अत: जिन साधर्मीजनों ने पूर्व में पत्रिका के माध्यम से इन प्रवचनों का स्वाध्याय कर लिया है, उनके लिये भी यह ग्रन्थ कम उपयोगी नहीं है।

इस अवसर पर यह भी स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि मुनिदशा पर पूज्य गुरुदेवश्री के मात्र इतने ही प्रवचन नहीं हैं और भी बहुत प्रवचन उपलब्ध हैं। हमनें इन प्रवचनों को विषयानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, शेष प्रवचनों को **धन्य-मुनिदशा (खण्ड-2)** एवं प्रवचनांशों को 1008 वचनामृत के रूप में **ते गुरु मेरे उर वसो** नाम से शीघ्र ही ग्रन्थाकार प्रकाशित किया जाएगा।

यदि आपको यह प्रयास रुचिकर लगा हो तो इन ग्रन्थों एवं मुनिराज के जीवन की प्रेरक कथाओं के सङ्कलन को जन-जन तक अल्प मूल्य में पहुँचाने का उत्तरदायित्व आपका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सन्दर्भ में

प्रस्तुत ग्रन्थ धन्य मुनिदशा (खण्ड - 1) है। इसमें पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मुनिदशा की महिमा, भावना, स्वरूप एवं मुनिराज की अन्तरपरिणति के साथ वर्तनेवाले 28 मूलगुणों का विशद् विवेचन सङ्कलित किया गया है। साथ ही मुनिराज का युक्ताहार एवं आहारदान की विधि व आहारदान देनेवाले श्रावक के उल्लसित परिणामों का भाववाही विवेचन भी समाहित किया गया है।

इसी ग्रन्थ के खण्ड-2 में मुनिराज के उत्तरगुण, भेद-प्रभेद इत्यादि के विवेचन के साथ-साथ अन्य उपयोगी विषय सङ्कलित कर लिये गये हैं, जो शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

आभार प्रदर्शन —

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पावन अवसर पर सर्व प्रथम **वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु** के श्रीचरणों में वन्दन करता हूँ, क्योंकि यह सभी इन्हीं की वाणी का प्रसाद है।

इन प्रवचनों की अमूल्य भेंट देकर परम पूज्य मुनिभगवन्तों के अन्तर्बाह्य जीवन का परिचय प्रदान करते हुए उस धन्यदशा का बहुमान एवं भावना उत्पन्न करानेवाले परम उपकारी तारणहार **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

प्रस्तुत सङ्कलन के मूलप्रेरक अपने विद्यागुरु **पण्डित कैलाशचन्दजी जैन,** अलीगढ़ के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आपश्री के प्रताप से ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्तिभाव जागृत हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सङ्कलन एवं सम्पादन में अमूल्य सहयोग के लिये **डॉ. राकेश जैन शास्त्री**; प्रुफ संशोधन एवं समुचित मार्गदर्शन के लिए आदरणीय अग्रज **श्री पवनजी जैन,** अलीगढ़ एवं इस ग्रन्थ को शीघ्र तैयार कर देने की बारम्बार प्रेरणा के लिए **पण्डित अशोककुमारजी लुहाड़िया** के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इस प्रवचन ग्रन्थ की सुन्दर टाइप सैटिंग के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए हमारे कम्प्यूटर विभाग के सुदक्ष सञ्चालक, **विवेककुमार पाल** एवं सहयोगी **नरेन्द्रकुमार यादव** तथा

मुद्रण कार्य के लिए **पण्डित दिनेश जैन 'शास्त्री',** देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

सभी आत्मार्थी जीव इस ग्रन्थ का अध्ययन कर वीतरागी दिगम्बर जैन मुनिभगवन्तों का सम्यक् स्वरूप पहचानकर, उनकी अन्तर्बाह्य परिणति को समझकर अपने में मुनिदशा की उत्कृष्ट भावना जागृत करें – इसी भावना के साथ।

देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

चैतन्यदीपक आत्मा

देखो! आत्मा चैतन्यदीपक है और उपयोग उसका प्रकाश है, रागादिभाव तो अन्धकार जैसे हैं। जिस प्रकार प्रकाश में अन्धकार नहीं है; उसी प्रकार उपयोग में राग-द्वेष नहीं हैं। राग-द्वेष, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; स्वाभाविक ज्ञानोपयोग ही आत्मा का स्वभाव है – ऐसा भेदज्ञान करना वह मुक्ति का कारण है। उपयोग वह जीव की पर्याय है, इसलिए वह धर्म है और जीव उस पर्याय को धारण करनेवाला है, इसलिए वह धर्मी है। उपयोग के जितने प्रकार हैं, वे किसी दूसरे के धर्म नहीं हैं किन्तु जीव के ही धर्म हैं। मतिज्ञानोपयोग हो या त्रिकाल शुद्धोपयोग हो – दोनों जीव के धर्म हैं और जीव, धर्मी है।

जिस प्रकार दीपक स्वभाव से ही प्रकाशमान है, उसका स्वभाव पर के कारण नहीं है; उसी प्रकार आत्मा चैतन्यदीपक है और उपयोग उसका प्रकाश है। आत्मा स्वभाव से ही उपयोगस्वरूप है, किसी पर के कारण उसका उपयोग नहीं है। मति-श्रुतज्ञान-उपयोग भी इन्द्रियों या मन के कारण नहीं होता, वह उपयोग भी जीव का धर्म है। *– कारणशुद्धपर्याय, पृष्ठ – ४३*

तीर्थधाम मङ्गलायतन
ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक –

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातूश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10) श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री अजितजी जैन, बड़ौदरा, गुजरात (21) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (22) श्री वीरेन्द्र कुमार, त्रिशला देवी, नईदिल्ली; (23) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (24) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (25) श्रीमती कोकिलाबेन शाह C/O श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (26) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई। (27) श्री विवेक जैन, इन्दौर। (28) श्रीमती कौशल्यादेवी धर्मपत्नी श्री हरीशचन्द्र जैन, विकासनगर, देहरादून।

संरक्षक –

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर (11) श्री महावीर जी पाटिल, सांगली, महाराष्ट्र (12) श्री विजेन्द्र कुमार जैन, जैन मैटल कम्पनी, कुमार मैटल कम्पनी, अलीगढ़।

परम सहायक –

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीवकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत; (19) श्री शीतल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (20) श्री महीपाल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (21) श्री रूचाम्स फ्रेमिंग, टोरन्टो कनाडा।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत;

(11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग; (46) सुमतचन्द विनीतकुमार शास्त्री, आगरा; (47) श्री भगवान पारसकुमार जैन, आगरा; (48) स्व. श्री ज्ञानमलजी, भीलवाड़ा (राज०); (49) श्री विमलचन्द पुत्र श्री राजकुमार काला, खरगौन; (50) श्री पुचाम्स परिवार, टोरंटो, कनाडा; (51) श्रीमती सुलोचनादेवी जैन, गोहाटी; (52) श्री प्रभुदयाल जैन, सिलीगुड़ी (आसाम); (53) श्रीमती चंचला जैन, सोलापुर; (54) श्री अम्बुज जैन पुत्र श्री जे. डी. जैन, मलाड़, मुम्बई; (55) श्री अनुभव जैन, जयपुर; (56) श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागम ट्रस्ट, इन्दौर; (57) श्री रमेशचन्द सोगानी, कोलकाता; (58) श्री बटुकलाल राघवजी भापाणी, घाटकोपर, मुम्बई।

विषय-अनुक्रमणिका

मुक्तिसुन्दरी के नाथ	1
मुनिमार्ग : शूरवीरों का मार्ग	6
धर्मात्मा की निःशङ्कता	11
रत्नत्रय की आराधना ही जिनमुद्रा	16
मोक्षसाधक मुनिराज की अद्भुत दशा	22
अहो! ऐसा होता है साधु का पद	24
आओ... आओ... मोक्षमार्ग में आओ!	36
भव के नाश हेतु जिनभावना भा!	39
मनरूप हाथी को ज्ञानरूप अंकुश से वश में कर	48
मुनिधर्म का सच्चा स्वरूप	54
मुनिदशा : केवलज्ञान की तलहटी	75
सर्व जैन मुनियों की दशा	79
यदि दुःख से परिमुक्त होना हो तो....	87
दीक्षार्थी द्वारा परिवार को सम्बोधन	90
मुनिदशा : अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग लिङ्ग	97
निश्चय महाव्रत एवं निश्चय समिति	108
वीतरागचारित्र ही इष्टफल प्रदाता	117
अट्ठाईस मूलगुण की प्रवृत्ति	123

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण : पाँच महाव्रत

1. अहिंसामहाव्रत 136

2. सत्यमहाव्रत 146

3. अचौर्यमहाव्रत 151

4. ब्रह्मचर्यमहाव्रत 156

5. अपरिग्रहमहाव्रत 162

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण : पाँच समिति

1. ईर्यासमिति 175

2. भाषासमिति 183

3. एषणासमिति 200

4. आदान निक्षेपणसमिति 205

5. प्रतिष्ठापनसमिति 219

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण : पञ्चेन्द्रियजय 234

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण : षट् आवश्यक 236

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण : अदन्तधोवन आदि मूलगुण 238

मुनिराज : त्रय गुप्ति 245

मुनिराज के उपकरण 248

मुनिदशा में अल्प परिग्रह का फल भी निगोद 257

नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान किसको ? 264

धन्य सन्त! धन्य आज का दिन!! 267

आहार ग्रहण करते हुए भी अनाहारी 273

श्रमण का युक्ताहार 284

शुद्धोपयोग-अशुद्धोपयोग 293

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

धन्य-मुनिदशा

(खण्ड—1)

मुक्तिसुन्दरी के नाथ

भगवान से साक्षात् भेंट करने के लिए निकले मोक्षमार्गी मुनिवर आनन्दसागर में झूल रहे हैं; अन्तर के चैतन्यसागर में शान्ति का ज्वार आया है... आनन्दसागर उछला है... रोम-रोम में समाधि परिणमित हो गयी है। ऐसे मुनि मानो 'चलते-फिरते सिद्ध' हों – ऐसी उनकी अद्भुत दशा है। मुक्तिसुन्दरी कहती है कि 'मैं ऐसे शुद्ध रत्नत्रय के साधक मुनिवरों का ही वरण करती हूँ।' ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर ही मुक्तिसुन्दरी के नाथ होते हैं। 'जय हो उन मुक्तिसुन्दरी के नाथ की!'....

जिन्होंने अध्यात्म के सार का निर्णय किया है अर्थात् ज्ञानानन्दस्वभाव आत्मा का अन्तर में निर्णय किया है; जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुआ है और तदुपरान्त अन्तरस्वरूप में लीन होने से शान्त... शान्त... दशा प्रगट हो गयी है अर्थात् समाधि परिणमित हो गयी है; सहज वीतरागदशा अन्तरस्वरूप के अवलम्बन से वर्त रही है; उपशान्तरस जम गया है – ऐसे

मोक्षमार्गी मुनिवर, वीतरागी समिति द्वारा सांसारिक क्लेशजाल को जलाकर **मुक्तिसुन्दरी के नाथ** होते हैं।

आज यहाँ भगवान सीमन्धर परमात्मा की भेंट हुई है। भगवान की भेंट कैसे होती है? पहले अन्तर्मुख होकर चिदानन्द भगवान आत्मा की प्रतीति करे, श्रद्धा करे; फिर उसमें एकाग्र होने पर आत्मा में भगवान की भेंट होती है, आत्मा में भगवान पधारते हैं। आत्मा में लीनता द्वारा चिदानन्द भगवान को पकड़कर, मुनिवर सांसारिक क्लेश को जड़ से उखाड़ फेंकते हैं और भगवान की साक्षात् भेंट करते हैं अर्थात् स्वयं ही परमात्मा बन जाते हैं।

देखो, मोक्षमार्गी मुनियों की दशा! ऐसा परमेश्वर का मार्ग है। परमेश्वर से मिलाप कैसे होता है?... भगवान से भेंट कैसे होती है? - उसकी यह बात है। ऐसे मुनिवर, परमेश्वर से भेंट करने निकले हैं। उनके श्रद्धा-ज्ञान में तो परमेश्वर से साक्षात् भेंट हो गयी है और अन्तर में लीन होकर पूर्णानन्दी परमेश्वर की साधना कर रहे हैं।

अन्तर के चैतन्यसागर में मुनिवरों को शान्ति का ज्वार आया है, आनन्द का समुद्र उछला है, वे आनन्दसागर में झूल रहे हैं, उनके रोम-रोम में समाधि परिणमित हो गयी है - ऐसी मुनिदशा में सहजरूप से ही समिति होती है। चिदानन्दस्वरूप में लीनता से मुनिवरों को ऐसी समाधि हो गयी है कि समस्त जीवों के प्रति अनुकम्पा वर्तती है; आत्मा के शान्तरस का वेदन होने से शत्रु के प्रति भी द्वेष की वृत्ति नहीं उठती। वे निःशङ्करूप से मोक्षमार्ग की स्थापना करते हैं, विपरीतता का खण्डन करते हैं, तथापि द्वेष का भाव नहीं होता, विरोधी के प्रति भी द्वेष नहीं है। अन्तर में चैतन्य के आश्रय से अपना आनन्द प्रवर्तमान है, शान्ति के मुख्य मार्ग पर स्वयं विचरते हैं।

ऐसे मुनिराज आहार के लिए जाते हैं, तब बीच में यदि किसी बालक आदि का रुदन सुनें तो आहार की वृत्ति टूट जाती है। अरे! हम शान्ति के साधक और बीच में यह अशान्ति की पुकार कहाँ से? हम तो अपने शान्तरस का पोषण करनेवाले हैं, हमें यह अशान्ति का प्रसङ्ग क्यों? - ऐसे प्रसङ्ग पर हमारा आहार नहीं हो सकता। आग लगी हो या मारो-काटो - ऐसी आवाज सुनाई दे, उस समय भी मुनि आहार नहीं करते। अरे! हम तो शान्तरस द्वारा सांसारिक दावानल बुझानेवाले हैं, ऐसे प्रसङ्ग पर हम आहार नहीं कर सकते। हम तो आत्मा

के अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करनेवाले हैं। इस प्रकार चैतन्य के अवलम्बनपूर्वक आहार की वृत्ति छूट जाती है। ऐसे मुनिवरों की एषणासमिति होती है।

जैनदर्शन के सन्त-मुनिवर कैसे होते हैं ? - उसका यह वर्णन है। मोक्ष की साधना करनेवाले मुनिवर, वन-जङ्गल में विचरनेवाले और आत्मा के शान्तरस में लीन होते हैं। इन्द्रियों की ओर से वृत्ति छूटकर आत्मा के अतीन्द्रिय-आनन्द में उनकी वृत्ति झुक गयी है। माता के उदर से उत्पन्न बालक जैसी उनकी निर्दोष आकृति है। ऐसे मुनि आहार लेने के लिए वन में से ग्राम में पधार रहे हों, उस समय ऐसा लगता है, मानो सिद्ध भगवान ग्राम में प्रवेश कर रहे हैं!

जिस प्रकार आत्मा के भानरहित जीवों को 'चलता शव' अर्थात् चलता-फिरता मुर्दा कहा है; उसी प्रकार चैतन्य की साधना करनेवाले सन्त तो मानो '**चलते-फिरते सिद्ध**' हैं। जब वे डग भरते हैं, उस समय ऐसा लगता है, मानो अपनी सिद्धदशा लेने के लिए चले जा रहे हों! ऐसा वीतरागी मुनियों का मार्ग है। तीनों काल वीतराग मार्ग में सब मुनियों की ऐसी ही अद्भुत दशा होती है।

ऐसे मुनिवर, भक्तों के हाथ से विधिपूर्वक दिया गया निर्दोष आहार ही लेते हैं; प्राण चले जाएँ, तथापि आहारादि की याचना नहीं करते। याचना करना, मुनियों का मार्ग नहीं है किन्तु वह तो भिखारियों का मार्ग है। मुनि तो सिंहवृत्तिवाले होते हैं। वीतरागमार्ग के निस्पृह मुनिवर, आहार के लिए कभी याचना नहीं करते किन्तु भक्त खूब बहुमानपूर्वक योग्य विधि से आहार देते हैं, तब आहार ग्रहण करते हैं। भरत चक्रवर्ती जैसे भी भोजन के समय आहारदान के लिए मुनिवरों की प्रतीक्षा करते थे कि अहो! कोई मुनिराज पधारें तो अपने आँगन में आहार के लिए पडगाहन करूँ। इस प्रकार भक्तों द्वारा भक्तिपूर्वक हाथ में दिया गया निर्दोष आहार ही मुनि लेते हैं।

आहार की शुभवृत्ति उठे, उसकी कहीं मुनियों को मुख्यता नहीं है परन्तु आहार की वृत्ति के उपरान्त ज्ञानप्रकाशी आत्मा का ध्यान वर्तता है, वही वास्तव में तप है। चैतन्यसूर्य के ध्यानरूप जो तप है, उसके द्वारा मुनिराज दैदीप्यमान ऐसी मुक्तिरमणी को प्राप्त करते हैं।

पूर्ण ज्ञानप्रकाशी आत्मा का बार-बार निर्विकल्प आनन्दमय ध्यान मुनिवरों के वर्तता है। ऐसे मुनिवर ही मुक्तिसुन्दरी का वरण करने योग्य हैं; इसके सिवा उद्धत जीव सुन्दर मुक्तिरूपी रमणी का वरण करने योग्य नहीं हैं। मुक्तिरमणी कहती है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि को मैं वरण नहीं करूँगी; शुद्धरत्नत्रय के साधक ऐसे मुनिवर का ही मैं वरण करती हूँ।

एक बार एक कुलीन कन्या के विवाह का अवसर था। बारात आई और पाणिग्रहण का समय आ पहुँचा। पाणिग्रहण में थोड़ी देर थी, तभी वर को ऐसा लगा कि जिस कन्या के साथ मेरा विवाह हो रहा है, उसे स्वयं अपनी आँखों से देखकर पसन्द कर लूँ। ऐसे विचार आते ही उसने कन्या को देख लेने की इच्छा प्रगट की। कन्या का पिता घबरा गया, किन्तु कन्या अति सुन्दर और साहसी थी। उसने कहा –'पिताजी! वे भले ही आकर मुझे देख लें, आप उन्हें बुला लें!'

वर को कन्या देखने के लिए बुलाया गया। कन्या को देखते ही वह चकित रह गया। कन्या ने कहा – 'क्यों, कुछ पूछना है?' वर बोला – 'अरे, इसमें पूछना क्या है?' कन्या बोली – 'बराबर पसन्द आ गई हूँ न?' वर बोला – 'हाँ।' इतना कहकर वर चलने लगा; किन्तु कन्या बोली – 'जरा ठहरो!' वर खड़ा रहा। तब कन्या ने कहा – 'तुमने तो मुझे पसन्द कर लिया, लेकिन यह तो पूछो कि मैं भी तुम्हें पसन्द करती हूँ या नहीं!' वर बोला – 'क्यों, क्या इसमें भी कुछ कहना है?' कन्या बोली – 'हाँ, सुनो! मैं तुम जैसे उद्धत को पसन्द नहीं करती; इसलिए जैसे आये हो, वैसे ही वापिस चले जाओ।'

उसी प्रकार यहाँ उद्धत अर्थात् अज्ञानी मूढ़ जीव कहता है कि मुझे मुक्तिसुन्दरी का वरण करना है, मुझे मुक्ति चाहिए; मैं मुक्ति के लिए ही यह व्रतादि शुभराग करता हूँ। इस प्रकार अज्ञानी, शुभराग द्वारा मुक्ति प्राप्त करना चाहता है और कहता है कि मुझे स्वर्गादि कुछ नहीं चाहिए; मैं तो मुक्ति को ही पसन्द करता हूँ किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि 'अरे भाई! तू मुक्ति से तो पूछ कि वह तुझे पसन्द करती है या नहीं।' मुक्तिसुन्दरी तेरे लाख शुभराग से भी प्रसन्न नहीं हो सकती।

वह तो कहती है – **'अरे! यह व्रतादि के राग से धर्म मनानेवाला तो सर्वज्ञ –वीतराग का विरोधी है, उद्धत है; इसे मैं पसन्द नहीं करती। मैं तो सम्यग्दर्शन**

–ज्ञानपूर्वक वीतरागी कुलीनता से शोभायमान मुनिवरों को ही पसन्द करती हूँ।'

राग से या व्यवहार के आश्रय से धर्म माननेवाले मूढ़ जीवों को मुक्तिसुन्दरी पसन्द नहीं करती अर्थात् वे कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते। सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक वीतरागी मोक्षमार्ग पर चलनेवाले मुनिवरों को ही मुक्तिसुन्दरी चाहती है अर्थात् वे ही मुक्तिसुन्दरी के नाथ होते हैं।

जय हो मुक्तिसुन्दरी के नाथ की! ● *[– आत्मधर्म (हिन्दी) क्रमाङ्क 130 से साभार]*

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के वचन सर्वज्ञ के समान प्रमाणभूत

दृढ़ता से सत्य–असत्य का विवेक करने में शर्म रखे तो सत्य समझ में नही आ सकता। श्री कुन्दकुन्द आचार्य पञ्च महाव्रतधारी भावलिङ्गी सन्त थे। उनके द्वारा कहे हुए वचन, सर्वज्ञ–वीतराग के समान ही प्रमाणभूत हैं, उनसे थोड़ा भी विरुद्ध कहनेवाला मिथ्यादृष्टि और वस्तुतत्व का विरोध करनेवाला है।

जो वस्तुतत्त्व के विरोध में खड़ा है, वह कष्ट को ही सहन करता है। वह भले ही सच्ची परम्परा के व्यवहार को मानता हो, नग्न दिगम्बर द्रव्यलिङ्गी हो, वह भी पराश्रय में धर्म–हित मानने से अन्तरङ्ग में सहजानन्द का अनुभव नहीं करता, किन्तु वृथा ही क्लेश–कष्ट ही सहता है, आर्तध्यान द्वारा आत्मा को दुःख देता है, क्योंकि वह स्वाश्रित स्वानुभव की शान्ति को प्राप्त नहीं होता; इसलिए अपने ही अपराध से कष्ट सहन करता है। यह बात प्रारम्भिक भूमिका में ही समझने जैसी है। स्व–पर की पहचान कैसे करना? हित–अहित और उसका कारण क्या है? यह पहले निर्णय करने की बातें है, क्योंकि विवेक के बिना धर्म समझ में नहीं आ सकता तो उत्पन्न कहाँ से होगा। *(दिव्यध्वनिसार भाग-2, पृष्ठ-315-316)*

मुनिमार्ग : शूरवीरों का मार्ग

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित भावपाहुड़ में सम्यक्त्वादि शुद्धभावसहित धर्मी को कैसा वैराग्य होता है, उसका अद्‌भुत वर्णन है। जिस प्रकार आकाश में से बरसती हुई मेघधारा तप्त पृथ्वी को शान्त करती है; उसी प्रकार चैतन्य के असंख्य प्रदेश में बरसती हुई वैराग्यरस की धारा, मुमुक्षु के संसार का आताप दूर करके परमशान्ति प्रदान करती है। आप भी इस रसधारा का पान करके आत्मा को शान्तरस में निमग्न करें।

हे जीव! चैतन्य का शान्तस्वभाव है; उसमें क्रोधभाव करने का स्वभाव ही नहीं है। ऐसे शान्तस्वभाव को जानकर, उसकी शान्ति के वेदन में रहकर, सिर काटनेवाले के प्रति भी वैर की वृत्ति मत कर। बैर की वृत्ति में तो अशान्ति है। अहाहा! चैतन्य की परम शान्ति द्वारा क्रोध के दावानल को बुझा दे।

हे मुनि! हे मुमुक्षु! अपनी वैराग्यदशा का स्मरण तो कर! क्या उसमें क्रोध शोभा देता है? बाह्य में चाहे जैसा प्रतिकूल प्रसङ्ग आये, कटुवचन सुनने को मिलें, बाघ, सर्प आकर काटते हों, या सिर पर कोई कलङ्क लगता हो, तथापि हे मुमुक्षु! तूने तो अपने क्षमावन्त आत्मा को जानकर उसकी शान्ति का स्वाद चखा है; इसलिए तू उस प्रतिकूलता के प्रसङ्ग में भी क्षमा रखना, आत्मिकशान्ति का अमृत पीना... क्रोधाग्नि में मत जलना।

अहा! ऐसे क्षमाभाव का क्षण भी अपूर्व क्षण है। बोलना सरल है परन्तु अन्तर में ऐसी वीतरागी क्षमा की परिणति होना और प्रतिकूलता के समय शान्ति बनी रहना,

वह कोई धन्य क्षण है; उसमें अपूर्व पुरुषार्थ है! यह आत्मा का स्वभाव है, आत्मा इसे कर सकता है।

ऐसी उत्तमक्षमा और आत्मा की शान्ति कौन रख सकता है? जिसने सर्वज्ञ के जिनमार्गानुसार वस्तुस्वरूप जाना हो, वही आत्मप्रतीति की उत्तम भूमिका में ऐसी क्षमा रख सकता है। शुभराग की क्षमा अलग बात है और इस चैतन्य की शान्ति के वेदनरूप रागरहित उत्तमक्षमा अलग बात है – ऐसी क्षमा कोई विरले, आत्मानुभवी ही रख सकते हैं। अहा! यह तो वीतरागमार्ग की क्षमा है! यह कोई साधारण क्षमा नहीं है, यह तो अपूर्व है।

भाई! क्रोधाग्नि में तो अनन्त काल से जल रहा है, अब तो उससे निकलकर अन्तर में चैतन्य का शान्त अमृत पीने का यह अवसर है। **देखो, श्रीकृष्ण के भाई गजसुकुमार, जिनका शरीर अत्यन्त कोमल था, वे दीक्षा लेकर आत्मध्यान में बैठे-बैठे शान्ति का वेदन कर रहे हैं; बाहर में अग्नि से मस्तक जल रहा है परन्तु अन्तर की चैतन्यपरिणति को क्रोधाग्नि में जलने नहीं देते हैं। वे तो चैतन्य के परम शान्तरस में लीन हैं। जलानेवाले पर द्वेष का कोई विकल्प नहीं है; उसी प्रकार देह जल रहा है, उसकी कोई वेदना नहीं है। शान्तरस के वेदन में दुःख कैसा? और क्रोध कैसा? वे तो शान्ति के हिमालय में बैठे हैं, उसमें क्रोध-कषाय या अग्नि का प्रवेश ही नहीं है। अरे, शुभवृत्ति की आकुलता का भी जिसमें अभाव है, उसमें क्रोध की तो बात ही क्या? ऐसी परम शान्ति का वेदन धर्मी को होता है।**

अरे जीव! ऐसी वीतरागता को पहिचानकर, उसकी भावना तो कर! जीवन के परम वैराग्य के प्रसङ्गों का स्मरण कर। भाई, तेरे चैतन्य की शान्ति के समक्ष बाह्य प्रतिकूलता की क्या गिनती? शान्ति तो तेरा स्वभाव है, क्रोध तेरा स्वभाव नहीं है। तेरी शान्ति की सामर्थ्य के निकट प्रतिकूल संयोग तेरा क्या करेंगे? जब क्षमा के हिमालय की गुफा में बैठा, तब वहाँ बाह्य प्रतिकूलता में क्रोध का अवसर ही कहाँ है।

देखो तो, वीतरागता का कैसा सुन्दर उपदेश है। भाई! ऐसी वीतरागी क्षमा में आनन्द है। प्रतिकूलता में तू क्रोधादि करता है परन्तु हे जीव! तुझे उस संयोग का नहीं, अपने क्रोध का दुःख है। क्रोध छोड़कर तू अपनी चैतन्यशक्ति में रह तो तुझे दुःख नहीं है; भले ही प्रतिकूल संयोग हों, परन्तु क्षमावन्त को दुःख नहीं है।

भाई ! संसार तो असार है। संसार की ओर ढलते हुए जितने अशुभ या शुभपरिणाम हैं, वे सब असार हैं। चैतन्यतत्त्व राग से पार है, उसका बोध करके, उसके वेदन की जो शान्ति है, वह सारभूत है। हे जीव ! ज्ञान-वैराग्य की भावना उग्र करके, तू ऐसे शान्तरस का पान कर। कदाचित् कोई दु:खद घटना हो गयी हो तो उस समय भी तीव्र वैराग्य द्वारा सारभूत चैतन्य की ऐसी भावना भाना कि जिससे तेरे रत्नत्रय की वृद्धि हो।

प्रतिकूलता आने पर व्याकुल मत होना, परन्तु आराधना में उत्साह प्रगट करके वैराग्यभावना में दृढ़ रहना; क्रोध की उत्पत्ति मत होने देना, अपूर्व शान्तरस में मग्न रहना... और दीक्षा आदि परम वैराग्य के प्रसङ्गों का स्मरण करके, अपनी आत्मा को परम उल्लासपूर्वक रत्नत्रय की आराधना में लगाना। सारभूत चैतन्यभावों को जानकर असाररूप परभावों को छोड़ना। अरे, यह तो आराधना और समाधिमरण का अपूर्व अवसर है... वहाँ अपने हित को मत भूलना।

अहा, मोक्ष के साधक मुनिवरों की क्या बात ? जिनका मोह नष्ट हो गया है - उन्हें प्रतिकूलता का भय कैसा ? हमें अपने चैतन्य के अनुभव में आनन्द है, आनन्द के वन में हम क्रीड़ा कर रहे हैं, वहाँ दु:ख कैसा ? और प्रतिकूलता कैसी ? क्रोध कैसा ? अरे, चैतन्य की ऐसी दशा को पहिचानो तो सही ! ऐसी शान्तदशा की पहिचान भी अपूर्व है। जगत के जीवों को ऐसी पहिचान भी दुर्लभ है। आत्मा की ऐसी शान्त-वीतरागदशा को पहिचाने तो मुमुक्षु के परिणाम कितने शान्त हो जाएँ! जिसे मोक्ष का उल्लास है और संसार से जो उदास है, उसे परमशान्तदशा से बाहर निकलकर क्रोधाग्नि में जाना कैसे रुचेगा ?

भव-तन-भोग असार है और उनसे रहित आत्मा ही सार है -

● **भव** अर्थात् समस्त परभाव, वे भव का कारण हैं; परभाव असार है और चैतन्य का स्वभाव ही सार है।

● **तन** अर्थात् शरीर, पुद्गल की रचना है, वह किस समय जीर्ण हो जाएगी, या छूट जाएगी, इसका कोई भरोसा नहीं है; उस ओर की वृत्तियाँ असार हैं और शरीर से पृथक् असंख्यप्रदेशी आनन्द का धाम आत्मा सारभूत है।

● **भोग** अर्थात् हर्ष-शोक की वृत्तियाँ, वे भी असार हैं। इन्द्रिय-विषय या शुभराग का

उपभोग, वह आकुलता और दु:खरूप है, असार है; चैतन्य के आनन्द का उपभोग सुखरूप और सार है।

हे मुमुक्षु! इस प्रकार सार तथा असार तत्त्वों को जानकर, असारभूत भव-तन-भोग से तू विरक्त हो और सारभूत आनन्दमय आत्मतत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता की अत्यन्तरूप से भावना कर... निरन्तर परमवैराग्य से ऐसी जिनभावना में तत्पर रह।

अपनी चैतन्यसम्पदा की अपार शान्ति का जिसने वेदन किया है, उसके स्वाद का अनुभव किया है और देहादि के प्रति निर्ममता प्रगट की है – ऐसे सत्पुरुष अत्यन्त कटुवचन आदि को समताभाव से सहन करते हैं... काँटे के समान तीक्ष्ण-कर्कश वचनों को भी क्रोध किए बिना वीतरागभाव से सहन कर लेते हैं।

लोक में भी महान पुरुष निन्दा आदि सुनकर क्रोध नहीं करते, परन्तु धैर्य रखते हैं कि होगा... यह तो ऐसे ही चलता रहता है... तो फिर जिन्होंने चैतन्य की शान्ति को जाना है – ऐसे धर्मात्मा-सत्पुरुषों को जगत के कटुवचन सुनकर भी क्रोध करना उचित नहीं है। धर्मात्मा को तो वैराग्यरस उमड़ आता है कि 'अरे, यह जगत की स्थिति! अज्ञानी निन्दा करें तो उससे मुझे क्या? मेरी शान्ति तो मेरे आत्मा में है। इस संसार से तो विरक्त होना ही योग्य है।'

भाई! दुनिया के लालच में पड़कर या दुनिया की निन्दा से डरकर तू अपने वैराग्य को मत भूलना... अपनी शान्ति के मार्ग में शिथिल मत होना, अपितु वैराग्यभावना को दृढ़ करना। मन से, वचन से या काय से शत्रु पर क्रोध मत करना; क्षमा धारण करना। **बाह्य अग्नि तेरे क्षमादि गुणों को नहीं जला सकती, किन्तु क्रोधाग्नि तेरे क्षमागुण को जला देती है; इसलिए तू क्रोध से दूर रहना और अपने क्षमादि गुणों की रक्षा करना। क्षमारूपी शीतलजल की वर्षा द्वारा तू क्रोध के दावानल को बुझा देना।**

प्रथम तो सत्यज्ञान करना चाहिए कि क्रोध है, वह दु:ख है और आत्मा का चेतनस्वभाव क्रोधादिरहित है; मेरा चेतनस्वभाव अनन्त शान्ति की सम्पदा से भरपूर है; इस प्रकार निज सम्पदा की प्रतीति द्वारा ही सच्ची क्षमा प्रगट होती है।

क्षमा के लिए, जगत की ओर देखना छोड़कर अर्थात् इसने मेरा ऐसा अहित किया, ऐसे क्रोध को छोड़कर, तू अपने निजगुण की महान सम्पदा को सँभाल। अरे! मैं ऐसी महान

सम्पदावान, वीतरागता और सर्वज्ञता से पूर्ण महान आत्मा; मुझे ऐसी क्रोधादि तुच्छवृत्तियाँ शोभा नहीं देती।

जैसे, विशालकाय हाथी को देखकर कुत्ते भौंकते हैं लेकिन हाथी कुत्तों से लड़ने नहीं जाता; वह तो अपनी मस्तचाल से चला जाता है। उसी प्रकार धर्मी जीव जगत के प्रति परम वैराग्यपूर्वक चैतन्य की मस्ती में मस्त रहकर, अपने वीतरागमार्ग में आनन्द से चला जाता है; वहाँ जगत में कौन निन्दा-प्रशंसा करता है, उसे देखने को नहीं रुकता। आत्मसाधना की धुन में जगत की ओर देखने या राग-द्वेष करने में कौन रुके ? भाई ! तू मुमुक्षु है ! तुझे ऐसा करना योग्य नहीं है।

भाई! प्रतिकूलता के समय तू अपने वैराग्य को पुष्ट करना; शिथिल मत होना। जीवन में चैतन्य की परममहिमा की भावना जागृत हुई हो, कोई परम वैराग्य की घटना हुई हो, जिससे मरण हो जाए - ऐसी कोई दुर्घटना या रोग आदि हुआ हो और उसमें से बच गया हो - ऐसे प्रसङ्गों का स्मरण करके वैराग्य की धुन प्रगट करना और अपनी शुद्धता की वृद्धि करना।

हे मुमुक्षु! अपने वैराग्य की वृद्धि के लिए, जीवन में किन्हीं मुनि आदि के महान उपदेश के धन्य अवसर पर जागृत हुई उत्तम आत्मभावना का स्मरण करना; अथवा अपने अन्तर में चैतन्यस्वरूप के आनन्द की कोई अपूर्व उर्मियाँ किसी धन्यक्षण में जागृत हुई हों, उनका स्मरण करके अपने आत्मा को उल्लसित करना। तीर्थयात्रा में कोई विशेष भावना जागृत हुई हो, किसी धर्मात्मा के साथ आत्मानुभूति की गम्भीर चर्चा हुई हो, किसी विशिष्टक्षण में अन्तरात्मा की धुन में कोई परम चैतन्यभाव विकसित हुआ हो, श्रद्धा-ज्ञान में भगवान आत्मा प्रगट हुआ हो - ऐसे अनुभूति के धन्य अवसर का बारम्बार स्मरण करके, अपने आत्मा का पुरुषार्थ जागृत करना... और रत्नत्रय की शुद्धता बढ़ाना।

वाह! देखो तो यह वीतरागमार्ग का यथार्थ उपदेश! यह तो शूरवीरों का मार्ग है। जगत को एक ओर रखकर, अन्तर में आनन्द से छलकते हुए चैतन्यसरोवर में उतरने की यह बात है। यह परम शान्ति का मार्ग है। जो इसमें आये, वह परम शान्ति का अनुभव करे - ऐसा यह मार्ग है। हे जीवों! ऐसे सुन्दर मार्ग में आओ... और आत्मा की शान्ति का स्वाद लो। ●

(- आत्मधर्म, जून 1974से)

धर्मात्मा की निःशङ्कता

(पावागढ़ सिद्धिधाम में मुक्ति प्राप्त करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी के दो वीर सुपुत्र लव-कुश के जीवन पर आधारित पूज्य गुरुदेवश्री का वैराग्यपूर्ण प्रवचन)

श्रीरामचन्द्रजी के दो पुत्र इस पावागढ़ से मुक्तदशा को प्राप्त हुए हैं। रामचन्द्र और लक्ष्मण – ये दोनों भाई बलदेव और वासुदेव थे। दोनों में अत्यन्त स्नेह था। एक बार इन्द्रसभा में इन दोनों के पारस्परिक गाढ़ स्नेह की प्रशंसा होने पर दो देव उसकी परीक्षा करने के लिए आए और लक्ष्मण के महल के आसपास रामचन्द्रजी के मरण का कृत्रिम वातावरण उपस्थित कर लक्ष्मण से कहा – 'श्रीरामचन्द्रजी स्वर्गवासी हुए हैं।'

इन शब्दों को सुनकर ही 'हा! राम' – ऐसा कहते हुए लक्ष्मणजी उसी सिंहासन पर गिर पड़े और मरण को प्राप्त हुए।

अहा...! देखो, संसार की स्थिति! अभी रामचन्द्रजी तो जीवित ही हैं परन्तु उनके मरण के मिथ्या समाचार सुनते ही, तीव्र स्नेहवश लक्ष्मणजी मरण को प्राप्त हो गए।

संसार की इस दशा के सन्दर्भ में आचार्यदेव कहते हैं – 'इस अशरण संसार में, जिसका ध्यान ही एकमात्र शरण और शान्तिदायक है; उस परम चैतन्यतत्त्व को मैं प्रणाम करता हूँ... चैतन्य के ध्यान द्वारा समस्त कर्मों को शान्त कर देता हूँ।'

अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए इस आत्मा को शान्ति और मुक्ति कैसे प्राप्त हो? – उसकी यह बात है। आत्मा का ध्येय सिद्धपद है। चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व

क्या चीज है, उसे जानकर और उसका ध्यान कर-करके अनन्त जीवों ने सिद्धदशा को प्राप्त किया है। इसका वास्तविक स्वीकार करते ही यह प्रतीति हो जाती है कि मुझ आत्मा में भी ऐसा सिद्धपद प्रगट करने की सामर्थ्य है।

देखो भाई! जीवन में करने योग्य कार्य तो यही है कि जिससे आत्मा भवसमुद्र से पार हो। भवभ्रमण के दु:खों में डूबा हुआ आत्मा जिस प्रकार से तिरे अर्थात् मुक्ति प्राप्त करे, वही उपाय कर्तव्य है। चैतन्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्ररूप तीर्थ द्वारा ही भवसमुद्र का पार पाया जा सकता है। इस तीर्थ की आराधना कर -करके अनन्त जीवों ने मुक्ति प्राप्त की है।

श्रीमुनिसुव्रतनाथ भगवान के तीर्थकाल में श्रीरामचन्द्रजी के दो पुत्र – लव और कुश – इस रत्नत्रय तीर्थ की आराधना करके, इसी पावागढ़ सिद्धक्षेत्र से मुक्तदशा को प्राप्त हुए हैं।

जब लक्ष्मण के स्वर्गवास का समाचार रामचन्द्रजी ने सुना तो वे शीघ्र ही वहाँ आए और लक्ष्मण की मृतक देह को निहारकर, मानों वे जीवित ही हों – ऐसा मानकर, उनके साथ बातचीत करने लगे...! स्नेहीजनों ने, लक्ष्मण की देह का अन्तिमसंस्कार करने के लिए अनेक प्रकार से समझाया, तथापि श्रीरामचन्द्रजी ने किसी की बात नहीं सुनी और लक्ष्मण की मृतक देह को कन्धे पर उठाकर घूमने लगे... और खिलाने-पिलाने, नहलाने-धुलाने, सुलाने और बुलवाने की अनेक चेष्टाएँ करने लगे। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी को आत्मा का भान है, तथापि अस्थिरताजन्य मोह के कारण ये सब चेष्टाएँ होती हैं। इस प्रकार चेष्टाएँ करते हुए कई दिन व्यतीत हो गए।

अपने काका की मृत्यु और पिता की ऐसी दशा देखकर, उन दोनों पुत्र – लव और कुश को संसार से वैराग्य हो गया। दोनों राजकुमार लघुवय के हैं, चैतन्यतत्त्व के ज्ञाता और महावैराग्यवन्त हैं। वे विचार करने लगे – 'अरे! संसार की यह स्थिति! त्रिखण्डाधिपति की ऐसी दशा!!'

– ऐसा विचार कर, दोनों वैराग्यवन्त कुमार जिनदीक्षा अङ्गीकार करने हेतु तैयार हो जाते हैं... सुवर्ण के पुतले समान ये दोनों कुमार, पिताजी के सामने दीक्षा की आज्ञा माँगने आते

हैं। श्रीरामचन्द्रजी के समीप ही लक्ष्मण का मृतक शरीर पड़ा है और तभी दोनों कुमार आकर, अति विनयपूर्वक हाथ जोड़कर, दीक्षा की आज्ञा माँगते हुए, अत्यन्त वैराग्यरस भरपूर वाणी से इस प्रकार कहते हैं –

'हे पिताजी! अब हम इस क्षणभङ्गुर, असार संसार का परित्याग कर, जिनदीक्षा अङ्गीकार करना चाहते हैं... हम दीक्षा लेकर, ध्रुव चैतन्यस्वभाव का ध्यान करेंगे और उसके आनन्द में लीन होकर, इसी भव से सिद्धपद को प्राप्त करेंगे; इसलिए हमें दीक्षा ग्रहण करने के लिए आज्ञा प्रदान कीजिए। हे तात्! जिनशासन के प्रताप से सिद्धपद की साधना का आन्तरिक मार्ग हमने देखा है, अब हम उस मार्ग में गमन करेंगे।'

इस प्रकार कहकर, जिनके रोम–रोम अर्थात् प्रदेश–प्रदेश में वैराग्य की धारा उछल रही है – ऐसे वे दोनों राजकुमार, रामचन्द्रजी को नमन करके, दीक्षा अङ्गीकार करने हेतु वन–जङ्गल की ओर प्रस्थान कर जाते हैं।

वाह! राजकुमारों की दशा!! आज तो इस पावागढ़ पर नज़र पड़ी, तभी से उनका जीवन नज़रों में झूल रहा है और उसके ही विचार चल रहे हैं। अहा! धन्य उनकी मुनिदशा!! धन्य उनका वैराग्य! और धन्य उनका जीवन!! सीताजी के गर्भ से जन्म लेकर उन्होंने अपना अवतार सफल कर लिया।

जब उन दोनों ने आत्मभान किया था, तब ही उन्होंने अन्तर में चैतन्य की मुक्ति का मार्ग निहारा था... इस संसार में कहीं सुख नहीं है; हमारा सुख और हमारी मुक्ति का मार्ग अन्तर में ही है – ऐसा भान तो उन्हें पहले से ही था। अब, तो वे उस जाने हुए मार्ग से चैतन्य के आनन्द को साधने के लिए अन्तरोन्मुख हुए हैं। देखो, यों ही जाने बिना दीक्षा अथवा साधुपना मान लेने की यह बात नहीं है; यह तो नि:शङ्करूप से अन्तर में देखे, जाने और अनुभव किये हुए मार्ग से मुक्तिपद साधने के लिए जिसका प्रयाण है, गमन है – ऐसी मुनिदशा की बात है।

दीक्षा अङ्गीकार करने के पूर्व ही दोनों कुमारों को विश्वास है कि हमने निज चैतन्य में दृष्टि करके, अपनी मुक्ति का मार्ग निहारा है; अब तो उस चैतन्यपद में गहरे उतरकर, उसी में लीन होकर, इसी भव में अपने मोक्षपद की साधना करेंगे। हमारा मार्ग अप्रतिहत है। हमें

इस मार्ग में शङ्का नहीं है और न हम वापस आनेवाले हैं। अप्रतिहतभाव से अन्तरस्वरूप में झुके सो झुके... अब तो मोक्षपद प्राप्त करके ही रहेंगे।

– ऐसे भाव से मुनि होकर, सीताजी के ये दोनों पुत्र वन-जङ्गल में विचरते हैं और आत्मध्यान में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते-करते केवलज्ञान के साथ केलि/क्रीड़ा करते हैं। अहा...!

हे लव-कुश मुनि, आतमहित में, छोड़ा सब संसार,
कि तुमने छोड़ा सब संसार।
राज्य छोड़ा, वैभव छोड़ा, समझा जगत असार,
कि तुमने छोड़ा सब संसार॥

– ऐसे ये लव-कुश मुनिराज विहार करते-करते इस पावागढ़क्षेत्र पर पधारे और इस पर्वत पर ध्यान किया... ध्यान करते-करते इस चैतन्यरस में ऐसे लीन हुए कि क्षपकश्रेणी आरोहण कर गये। फिर क्या हुआ? –

चार घातिया कर्मों का क्षय हो जहाँ,
हो भवतरु का बीज समूल विनाश जब।
सकल ज्ञेय का ज्ञाता-दृष्टा मात्र हो,
कृत्यकृत्य प्रभु वीर्य अनन्तप्रकाश जब॥

इस पावागढ़ पर्वत पर चैतन्य का ध्यान करते-करते, उन दोनों मुनिवरों ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया... वे कृतकृत्य परमात्मा हो गये। उन परमात्मा को हमारा नमस्कार हो।

केवलज्ञान होने के बाद अल्पकाल में यहीं से वे मोक्ष पधारे... यह उनका सिद्धिधाम तीर्थ है। कल इस तीर्थ की यात्रा करना है। अपने को तो अभी दक्षिण में ठेठ बाहुबलीजी की यात्रा करने जाना है। उसमें बीच में ऐसे अनेक तीर्थ आएँगे, यह तो अभी पहला-पहला मुहूर्त है।

वास्तव में शुद्धरत्नत्रयरूप परमार्थ तीर्थ के द्वारा संसार को पार करके यहाँ से वे सिद्धपद को प्राप्त हुए, इस कारण यह क्षेत्र भी व्यवहार से तीर्थ है। शुद्धरत्नत्रयरूप निश्चयतीर्थ

के स्मरण और बहुमान के लिए यह तीर्थयात्रा है। यात्रा का भाव, ज्ञानी धर्मात्मा और मुनिराजों को भी आता है; साथ ही उस भाव की मर्यादा को भी वे जानते हैं।

अहा... ! प्रात:काल इस पावापुर सिद्धक्षेत्र में आए, तभी से लव-कुश ही याद आते हैं... दोनों राजकुमारों ने विवाह किया था परन्तु अन्दर में भान था कि अरे! इस क्षणभङ्गुर संसार में कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी ? कौन पुत्र और कौन माता ? अरे! पुत्र को माता गोद में ले, इससे पूर्व तो अनित्यता ने उसे अपनी गोद में ले लिया है। माता गोद में लेकर पुत्र का मुख देखे, इसके पूर्व ही अनित्यता ने उसका मुख देख लिया है। प्रतिक्षण उसकी आयु घट रही है - ऐसा अनित्य यह संसार है।

संयोगों की स्थिति ही ऐसी है, उनमें कहीं शरण नहीं है। माता की गोद भी अशरण है, तब अन्य की तो बात ही क्या ? मैं तो अपने नित्य-चिदानन्दस्वभाव की गोद में जाऊँगा... वहीं हमारा शरण है और उसमें ही हमारा विश्वास है। जहाँ मेरा विश्वास है, वहीं मैं जाऊँगा। अनित्य संयोगों का मुझे विश्वास नहीं है, इस कारण उनके बीच मैं नहीं रहूँगा।

संयोगों की सन्मुखता छोड़कर, मैं तो असंयोगीस्वभाव में स्थिर होऊँगा। मुझे निःशङ्क विश्वास है कि स्वभाव में ही मेरा सुख है; संयोग में सुख नहीं है। अत: मैं संयोग से दूर और स्वभाव के समीप होऊँगा। उस स्वभाव का मार्ग हमने जाना है... मैं उस जाने हुए मार्ग में ही जाऊँगा और मुक्ति प्राप्त करूँगा।

देखो, यह निःशङ्कता! धर्मात्मा को अन्तरङ्ग में निःशङ्क भान होता है कि हमने मार्ग देखा है.. और उसी मार्ग में जा रहे हैं। 'यह मार्ग होगा या अन्य मार्ग होगा! आत्मा ने सम्यग्दर्शन पाया होगा या नहीं पाया होगा ?' - ऐसा कोई सन्देह धर्मी को नहीं होता। धर्मात्मा को तो निःशङ्क दृढ़ता होती है कि हमने अपने स्वानुभव से जो मार्ग देखा है, उस दृष्ट मार्ग पर ही हमारा आत्मा चल रहा है। मार्ग के सम्बन्ध में ऐसे निःशङ्क निर्णयपूर्वक दोनों राजकुमार दीक्षा लेकर चैतन्य में ऐसे लीन हुए कि केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। वे इस पावागढ़ में जिस स्थान से मुक्त हुए, ठीक उसी के ऊपर वे सिद्धभगवान सिद्धालय में विराजमान हैं। ऊपर सिद्धालय में अनन्त सिद्धभगवन्त विराजमान हैं। उन सिद्धभगवन्तों का स्मरण / बहुमान करने में यह सिद्धक्षेत्र निमित्त है। ● *(- वीर निर्वाण संवत् 2485, 'अखण्ड-आराधना' पुस्तक से साभार)*

रत्नत्रय की आराधना ही जिनमुद्रा

(मोक्षपाहुड़ गाथा 47 से 53 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना, वह जिनमुद्रा है। वह वीतरागी जिनमुद्रा ही मोक्ष की कारणरूप है और वह स्वयंसिद्ध सुख है। मोक्षसुख की कारणरूप जो रत्नत्रयस्वरूप जिनमुद्रा है, उसे ही मोक्षसुख कहा है। जैसे, प्रवचनसार की पञ्च रत्न गाथाओं में भावलिङ्गी मुनि को ही मोक्षतत्त्व कहा है; उसी प्रकार यहाँ रत्नत्रय की आराधनारूप जिनमुद्रा को मोक्षसुख का कारण होने से, उसी में कार्य का उपचार करके उसे ही मोक्षसुख कहा है। जिनमुद्रा कैसी है ? भगवान ने जैसी आराधी और कही, वैसी है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक वीतरागता के पिण्ड मुनि चले आ रहे हों, वह तो मानो साक्षात् मोक्षतत्त्व आया है। अहा! ऐसी मुनिदशारूप जिनमुद्रा, जिसे नहीं रुचती, उसे आराधना का प्रेम ही नहीं है। ऐसी जिनमुद्राधारक मुनि के साक्षात् दर्शन होने पर मुमुक्षु जीव का हृदय, आराधना के प्रति भक्ति से उछल पड़ता है।

अरे! स्वप्न में भी जिसे ऐसी मुनिदशा के प्रति अरुचि आये अथवा उसके प्रति अवज्ञा हो, वह जीव गहन भववन में भटकता है, क्योंकि उसे आराधना के प्रति तिरस्कार है। धर्मी को तो स्वप्न में भी वीतरागी सन्त-धर्मात्मा का बहुमान आता है। स्वप्न में भी मुनि इत्यादि धर्मात्मा के दर्शन होने पर, भक्ति से धर्मी का रोम-रोम उल्लसित हो जाता है।

सम्यग्दर्शनसहित चारित्रदशा होती है, वहाँ बाहर में भी दिगम्बर द्रव्यलिङ्ग होता है; इस प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वीतरागी जिनमुद्रा धारण करनेवाले सन्त मुनि स्वाधीन आत्मसुख का अनुभव करते हैं। आचार्यदेव स्वयं ऐसे स्वाधीन सुख का अनुभव करते हैं। ऐसी जिनमुद्रा धारक धर्मात्मा मुनियों के दर्शन में जिसे प्रमोद और भक्ति नहीं आती, वह जीव, आराधना से भ्रष्ट वर्तता हुआ संसार में ही भ्रमण करता है।

धर्मी जीव तो ऐसे आराधक मुनियों को देखते ही प्रमुदित होता है कि वाह धन्य आपकी आराधना! धन्य आपकी चारित्रदशा!! धन्य आपका अवतार!!! आप साक्षात् मोक्ष का साधन कर रहे हैं। इस प्रकार धर्मी जीव-प्रमोदपूर्वक अपनी रत्नत्रय की आराधना की भावना पुष्ट करता है।

रत्नत्रय के आराधक भावलिङ्गी मुनि, इस लोक और परलोक दोनों के लोभरहित निरपेक्ष वृत्ति से अन्तर में चिदानन्द परमतत्त्व के ध्यान में मग्न होते हैं। वे वर्तमान में ही मोक्षसुख का आस्वाद कर रहे हैं और अल्पकाल में पूर्ण मोक्षसुख को प्राप्त करेंगे। जिनके अन्तरङ्ग में लोभ रहे, इस लोक की अनुकूलता की आकाँक्षा रहे, प्रतिकूलता का भय रहे अथवा परलोक सम्बन्धी आकाँक्षा रहे, वह जीव, परमात्मतत्त्व के ध्यान में नहीं रह सकता।

अरे! मोक्षसुख की इच्छा भी लोभ है, वह भी दोष और आस्रव है, उतना-सा लोभ भी मोक्षसुख को रोकनेवाला है; इसलिए भावलिङ्गी मुनि तो निर्लोभ होकर परमात्मतत्त्व को ध्याते हैं, उसमें परम आनन्द रस का ही प्रवाह रहता है। निचली भूमिका में धर्मी को किञ्चित् राग होता है परन्तु उसे उस राग का लोभ नहीं है। यह राग ठीक है – ऐसा लोभ नहीं है। राग के फल में इन्द्रपद प्राप्त होगा – ऐसा लोभ भी नहीं है। विदेहक्षेत्र में अवतार हो तो अच्छा – ऐसा भी लोभ नहीं है, क्योंकि उसने निर्लोभ परमात्मतत्त्व को जाना है।

समस्त प्रकार से लोभरहित होकर परमात्मतत्त्व के ध्यान में लीनता से मोक्ष होता है। **जब मोक्ष-प्राप्ति का लोभ भी मोक्ष का अवरोधक है तो अन्य लौकिक पदार्थ अथवा राग के लोभ की तो क्या बात?** अरे जीव! ऐसी वीतरागभावरूप आराधना ही मोक्ष की कारण है।

मुनिवरों की मति, दृढ़ सम्यक्त्व द्वारा भावित है; अर्थात्, दर्शनशुद्धि की दृढ़तापूर्वक उन्हें ज्ञान की भी शुद्धता प्रगट हुई है। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित दृढ़ चारित्र होता है। कैसे भी परीषह आवें तो भी आत्मध्यान से नहीं डिगे - ऐसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दृढ़ आराधना द्वारा आत्मा को ध्याते-ध्याते वे मोक्षपथ को साधते हैं, परमात्मपद को पाते हैं। आचार्यदेव ऐसे आराधक जीवों का स्वरूप बताकर भव्य जीवों को आराधना में लगाते हैं। आराधक जीवों का वर्णन सुनने से आराधना के प्रति उत्साह और भक्ति जागृत होती है। यह रत्नत्रय की आराधना सर्व उपदेश की सारभूत है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करने को कहा गया, उसमें दर्शन और ज्ञान तो आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानरूप है परन्तु चारित्र कहने से कोई बाहर की क्रियारूप चारित्र न समझे; इसलिए आचार्यदेव चारित्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि चारित्र, आत्मा का स्वधर्म है और वह आत्मा का स्वभाव भी है। राग-द्वेषरहित जीव के अनन्य परिणाम ही चारित्रधर्म हैं, उसमें परम साम्यभाव है; कहीं इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं है।

अहा! सभी जीव, ज्ञानमय सिद्धसमान हैं, वस्तुदृष्टि से जीव और जिनवर में कोई अन्तर नहीं है। **जिनवर सो जीव और जीव सो जिनवर** - ऐसी दृष्टि तो चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को भी होती है। तदुपरान्त मुनि तो ध्यान में ऐसे लीन होते हैं कि उन्हें वीतराग परिणामरूप स्वधर्म प्रगट होता है। परिणति में राग-द्वेष नहीं रहते, इसका नाम चारित्रधर्म है। चारित्र कोई बाहर की वस्तु अथवा बाहर की क्रिया नहीं है, वह तो जीव के अनन्य वीतराग परिणाम हैं; उसमें परमशान्ति; अर्थात्, निराकुलता है। अहा! ऐसी चारित्रदशा में झूलते हुए सन्त मोक्ष को साधते हैं।

परमात्मा हो अथवा परमाणु; कोई वन्दन करता हो या कोई निन्दा करता हो; सर्वत्र समभावपूर्वक आत्मस्वरूप में एकाग्रता रहना, इसी का नाम चारित्र है।

देखो, यह जीव का स्वधर्म! जैसे, ज्ञान, जीव का स्वधर्म है; वैसे ही ऐसा चारित्र भी जीव का स्वधर्म है; वह जीव से भिन्न नहीं है। जैसे, ज्ञान-दर्शन आत्मा से भिन्न नहीं हैं; वैसे ही चारित्र भी आत्मा से भिन्न नहीं है। देह में चारित्र नहीं है, राग में भी चारित्र नहीं है; राग तो आत्मा के स्वभाव से भिन्न परिणाम है, सिद्धदशा में वह राग निकल जाता है परन्तु चारित्र तो

रहता है। स्वरूप में स्थितिरूप चारित्र, आत्मा का स्वाभाविक गुण है, वह सिद्धदशा में भी आत्मा के साथ अभेद रहता है।

आत्मा का स्वाभाविक परिणाम तो विशुद्ध है, वीतराग है परन्तु परद्रव्य के प्रति राग–द्वेष–मोह से परिणाम में मलिनता होती है। जैसे, स्फटिकमणि स्वभाव से तो उज्ज्वल निर्मल है, उसमें अन्य फूल के संसर्ग से लाल, काले इत्यादि रङ्ग की झाँई दिखती है; इसी प्रकार जीवद्रव्य में स्वभाव से राग–द्वेष–मोह नहीं हैं परन्तु उसके परिणाम, स्वरूप से च्युत होकर परद्रव्य के साथ सम्बन्ध करके रागादिरूप होते हैं; वास्तव में वे रागादिभाव उसके स्वधर्म नहीं हैं। यद्यपि वह परिणमन तो अपनी पर्याय में है परन्तु वे परिणाम, स्वभाव के साथ अनन्यभूत नहीं हैं; इसलिए उन्हें स्वभाव से भिन्न जानकर और जीव के विशुद्ध चैतन्यस्वभाव को जानकर, उसमें एकाग्रता से वीतरागी चारित्र प्रगट करना और रागादि दोषों का अभाव करना – ऐसा उपदेश है।

रत्नत्रय के आराधक धर्मात्मा, जब तक वीतराग न हुए हों और निर्विकल्प ध्यान में स्थिर न हों, तब तक ध्यान की परमप्रीतिपूर्वक उन्हें ध्यान करनेवालों के प्रति भी विनय, बहुमान और वात्सल्य आता है। श्री अरहन्तदेव और सिद्ध परमात्मा के प्रति तथा गुरु के प्रति भी विनय, बहुमान और भक्ति आती है; साथ ही अपने समान अन्य साधर्मी धर्मात्माओं के प्रति अनुराग–अनुमोदन आता है। मुनियों को ऐसा भाव होता है, यह कहने से इसके अन्दर में समकिती श्रावक गृहस्थों की बात भी आ जाती है। जिसे देव–गुरु के प्रति, साधर्मी धर्मात्मा के प्रति विनय, भक्ति, बहुमान न हो, उसे तो धर्म की प्रीति ही नहीं है। जिसे धर्मी की रुचि–प्रीति नहीं है, उसे धर्म की ही रुचि–प्रीति नहीं है।

अहा! मुनियों और धर्मात्माओं का ध्येय तो चैतन्य के ध्यान में स्थिर होकर पूर्ण वीतराग होने का है परन्तु जब तक राग है, तब तक वीतरागता को प्राप्त देव और वीतरागता के उपासक गुरु के प्रति विनय, भक्ति, बहुमान आता है। अपने को ध्यान की रुचि है; इसलिए ध्यानवन्त धर्मात्मा को देखते ही उनके प्रति भी भक्तिभाव आता है। कुन्दकुन्द आचार्य जैसों को भी ऐसा देव, गुरु की भक्ति का भाव और साधर्मी के प्रति प्रमोद आता है।

अहा! जिनके निमित्त से आत्मा की समझ हुई, उनके प्रति परम भक्ति आती है।

सम्यग्दृष्टि को ही देव-गुरु के प्रति सच्ची भक्ति उल्लसित होती है क्योंकि उसे ही वास्तविक पहिचानसहित भक्ति है। मिथ्यादृष्टि तो राग का आड़तिया है, राग के पन्थ में चलनेवाला है; उसे वीतराग परमात्मा की वास्तविक भक्ति नहीं होती और धर्मी तो वीतराग का आड़तिया है; इसलिए उसे ही वीतराग के प्रति सच्ची भक्ति होती है। बाहर से कदाचित् अज्ञानी और ज्ञानी को भक्ति का समानपना दिखाई दे, परन्तु अन्दर में महान अन्तर है। ज्ञानी के अन्तर में वीतरागस्वभाव के सेवनपूर्वक की भक्ति है; अज्ञानी के अन्तर में राग का ही सेवन है।

ज्ञानी शिष्य, जिससे आत्मज्ञान पाया हो, उस गुरु से कहता है – हे गुरु! आपके प्रताप से मैं भवसागर से पार हुआ, अनन्त भवसमुद्र में से आपने मुझे पार उतारा... आप न मिले होते तो मैं संसार में परिभ्रमण कर रहा होता, आपने मुझ पर परमकृपा करके मुझे पार उतारा, आपके चरणों के प्रसाद से ही मुझे रत्नत्रय की आराधना की प्राप्ति हुई, आपका महा उपकार है – यह बात श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार में कही है।

साधर्मी धर्मात्मा अथवा धर्म का सेवन करनेवाले धर्मात्माओं के प्रति जिसे प्रेम नहीं आता, अनुमोदना नहीं आती, उसे धर्म की और ध्यान की रुचि ही नहीं है। जिसे धर्म की प्रीति हो, उसे सम्यग्दर्शनादि के धारकों के प्रति भी प्रेम होता है। धर्म, धर्मी के बिना नहीं होता। कोई ध्यान का दम्भ करे और उसे ध्यानवन्त सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं के प्रति प्रेम, वात्सल्य, भक्ति न आवे तो उसे ध्यान की अनुरक्ति ही नहीं है।

अरे! हम तो देव-गुरु-धर्म के दासानुदास हैं। जिसे ऐसा विनय-बहुमान नहीं है, उसकी वृत्ति, धर्म में नहीं है। उसकी वृत्ति, बाहर अन्यत्र घूमती है – ऐसा समझना। जो देव-शास्त्र-गुरु की भक्तिसहित है और संयमी साधर्मियों के प्रति अनुरक्त है, वही सम्यक्त्व का **उद्वाहक** है; अर्थात्, सम्यक्त्व की आराधनासहित है और वही ध्यानयुक्त है। जिसे देव-गुरु के प्रति भक्ति और साधर्मी के प्रति अनुरक्ति नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन अथवा ध्यान नहीं होता; उसका ध्यान तो कल्पना की तरङ्गें हैं।

सम्यग्दृष्टि को ही ध्यान होता है। सम्यग्दर्शनसहित ज्ञानी, अन्तर्मुहूर्तमात्र में जिन कर्मों का नाश करता है, उनका नाश अज्ञानी उग्र तप द्वारा भी नहीं कर सकता। अज्ञानी के उग्र तप

की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान मे महान सामर्थ्य है। ज्ञानी, अन्तर में चैतन्य में आरूढ़ होकर एक क्षण में अनन्त कर्मों को खिपा देगा, नष्ट कर देगा। अज्ञानी, घोर तप का कष्ट करके भी बहुत भवों में जो कर्म खिपायेगा, वे कर्म चैतन्य की आराधना द्वारा ज्ञानी-धर्मात्मा बाह्य तप बिना भी क्षणमात्र में नष्ट कर देगा - ऐसा सम्यग्ज्ञान का परम सामर्थ्य है; इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र की आराधना का उपदेश है। ●

(- आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष 21, अङ्क 5, वी. नि. सं. 2490, फाल्गुन, पृ. 2-5)

भरतक्षेत्र में जन्म और विदेह के भगवान से भेंट

वीतरागदेव की वाणी साक्षात् झेलकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इन शास्त्रों की रचना की है। भरतक्षेत्र में जन्म और विदेह के भगवान से भेंट! अहा, इनकी पवित्रता की और पुण्य की क्या बात! जैसे तीर्थङ्करों की पवित्रता और पुण्य दोनों महान हैं, वैसे ही आचार्यदेव को भी पवित्रता और पुण्य दोनों का कोई अलौकिक मेल हो गया है। ये तो मानो पवित्रता और पुण्य के पिण्ड हैं!......

इस पञ्चम काल में भी निज स्वरूप का अपना काम साधनेवाले मुनि तो बहुत हुए हैं, परन्तु उनके साथ बाह्य में भगवान से भेंट करके इस मार्ग को टिकाए रखने का अलौकिक कार्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने किया है। इस भरतक्षेत्र के धर्मी जीवों पर उनका महान उपकार है। *(- आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-21, अङ्क-244, पृष्ठ-8)*

मोक्षसाधक मुनिराज की अद्‌भुत दशा

(नियमसार, गाथा 63 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)

सर्व प्रथम जिन्होंने आत्मा के आनन्द का भान किया है कि मेरा आनन्द मुझमें ही है तथा उस आनन्द का अंशतः वेदन भी किया है, फिर अन्तर्मुख होकर उस आनन्द को पूर्ण विकसित करने के लिए जो प्रयत्नशील हैं – ऐसे साधक मुनिवरों की यह बात है।

चैतन्यस्वरूप में वर्तते हुए उनकी परिणति ऐसी शान्त हो गयी है कि किसी भी बाह्यप्रवृत्ति का बोझ सिर पर नहीं है, बाहरी बोझा से रहित हलके फूल जैसे हो गये हैं और चैतन्य के आनन्द में मग्न हैं, ऐसे मुनिवरों को समिति–गुप्तिरूप प्रवर्तन सहज ही होता है। अन्तर में विकल्प का उत्थान भी जहाँ बोझरूप है, वहाँ बाह्य प्रवृत्ति की तो बात ही कहाँ रही! बारम्बार अन्तर्मुख होकर चैतन्य का अवलोकन करनेवाले मुनिवरों की दशा अन्तर तथा बाह्य में एकदम शान्त हो गयी है, उनके रोम–रोम में, चैतन्य के प्रदेश–प्रदेश में समाधि परिणमित हो गयी है; अन्तर में आनन्द का समुद्र उल्लसित होने से पर्याय में आनन्द का ज्वार आया है – ऐसी आनन्ददशावाले साधक मुनिवरों को वस्त्र की या सदोष आहारादि की वृत्ति नहीं होती।

अहा! मुनि तो मानों अध्यात्म की मूर्ति हैं! अध्यात्म का सार जो आत्मानुभव, वह मुनिवरों ने प्राप्त कर लिया है। अध्यात्म का सार अर्थात् शास्त्रज्ञान की बात नहीं है किन्तु भावश्रुत को अन्तरोन्मुख करके शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं, वही अध्यात्म का सार है, वही रत्नत्रय

की आराधना है। ऐसा अध्यात्म का सार मुनिवरों ने प्राप्त किया है; इसलिए अन्तर में अतीन्द्रियआनन्द के स्वाद के वेदन से वे शान्त हो गये हैं और बाह्य चेष्टाएँ भी शान्त हो गयी हैं।

अहा! साधुओं की शान्तदशा की क्या बात! उनकी अन्तरङ्गशान्ति का तो कहना ही क्या! देह में से भी मानो उपशान्त रस टपक रहा हो – ऐसे शान्त हैं। उन्हें चैतन्य के प्रदेश –प्रदेश में निर्विकल्प समाधि परिणमित हो गयी है....कषायों की झनझनाहट दूर हो गयी है और चैतन्य में शान्तरस फव्वारे छूट रहे हैं।

श्री गोमटेश्वर की यात्रा के समय बड़ी लाइट में श्री बाहुबलीस्वामी की शान्त सुप्रसन्न जिनमुद्रा देखकर विचार आया था कि जब से उन्होंने केवलज्ञान ज्योति प्रगट की, तब से वहाँ प्रत्यक्ष असंख्य प्रदेशी चैतन्यबाग में ज्ञानप्रकाश की जगमगाहट के बीच अतीन्द्रिय आनन्द के फव्वारे छूट रहे हैं....उस चैतन्यबाग के आनन्द का क्या कहना!....अज्ञानियों को तो उसकी कल्पना भी नहीं होती। मुनिवरों का आत्मा ऐसे चैतन्यबाग में विश्राम करता हुआ शान्तरस में डूब गया है।

– ऐसे मुनिवर मोक्ष के पथिक हैं। समस्त संसार क्लेश को नष्ट करके आनन्दरस में झूलते–झूलते वे शीघ्र ही मोक्षपद प्राप्त करते हैं।

उन्हें नमस्कार हो! ●

(– आत्मधर्म वर्ष सोलहवाँ, वीर निर्वाण संवत् 2486)

अहो! ऐसा होता है साधु का पद

(प्रवनसार गाथा 220 से 222 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन)

__णमो लोए सव्वसाहूणं__ में जिन साधुओं को नमस्कार किया जाता है, वह साधुदशा कैसी होती है? उसका यह वर्णन है। परिग्रह सम्बन्धी बोझा मुनिराज के सिर नहीं होता। यह कपड़ा लेना है, यह पहनना है, यह गन्दा हो गया है; इसलिए धोना है, धोकर सुखाना, सुखाकर जमाना है इत्यादि उपधि मुनिराज को नहीं होती। जहाँ किसी कार्य की व्यवस्था करने का बोझ सिर पर हो, वहाँ मुनिपने का घात होता है, वहाँ हिंसा के परिणाम होते हैं, अर्थात् असंयम है। जहाँ ममत्व, आरम्भ और असंयम हो, वहाँ मुनिपना नहीं होता।

यह साधक मुनिराज की बात है। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! जिन्हें आत्मा का अपूर्व भान हुआ है और आत्मस्वभाव में लीन होने से अन्तरङ्ग में तीन कषाय का अभाव हो गया है, उन्हें बाह्य में भी सहजरूप से नग्न दिगम्बरदशा ही होती है - ऐसी मुनिदशा, जैनमार्ग में है। यहाँ चरणानुयोगसूचक चूलिका की पूर्व गाथाओं में उसका बहुत वर्णन हो चुका है, समझनेवाले तो इतने में ही समझ जाएँगे और कुतर्की मिथ्यादृष्टि को तो विपरीत तर्क तथा स्वच्छन्दता ही उत्पन्न हुआ करेगी।

कोई कहता है कि मुनिदशा की ऐसी स्पष्ट बात करने से तो लोगों को दुःख लगेगा और विरोध होगा; इसलिए आचार्यदेव ने ऐसी स्पष्ट बात नहीं की होती तो ठीक था किन्तु ऐसा कहनेवाला स्वच्छन्दी है। अरे! सन्तों की बात सुनने से तो प्रमोद आना चाहिए कि अहो! ऐसी

बात कही है जो हमने कभी नहीं जानी थी। इस प्रकार अपूर्व बात को सुनते ही अन्दर में आश्चर्य और प्रमोद आना चाहिए। अहो प्रभु! हमें कुछ भी भान नहीं था; आपने यथार्थ वस्तुस्थिति स्पष्ट करके हम पर उपकार किया है, जगत् पर उपकार किया है।

हमें तो मुनिदशा के स्वरूप का किञ्चित् भी भान नहीं था, हम तो विपरीत मानते थे; उसके बदले आपने यथार्थ वस्तुस्थिति समझाकर हमें असत्य से बचाकर निहाल कर दिया है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा मान ले कि मुनियों ने ऐसी स्पष्ट बात नहीं की होती तो लोगों को दुःख तो नहीं लगता! तो ऐसा कहनेवाला स्वच्छन्दी और वीतरागी मुनियों का शत्रु है। सत्य बात स्पष्ट करने से पात्रजीव सत्य समझेंगे और उनका कल्याण होगा; इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य आदि वीतरागी सन्तों ने मार्ग स्पष्ट किया है – ऐसा समझकर प्रमोद आना चाहिए।

देखो! जिसे यह बात सुनकर प्रमोद नहीं आता और विपरीत तर्क करता है, वह आचार्यों–सन्तों की आज्ञा से बाहर है, स्वच्छन्दी है। देखो तो सही! एक तरफ आचार्यदेव की करुणा और दूसरी तरफ जगत् के विपरीत जीवों का उलटापन – दोनों आमने–सामने हैं।

अहा! चरणानुयोग में मुनिदशा की कैसी अद्भुत और सरस बात स्पष्ट की है – ऐसी सरस बात सुनते ही पात्र जीवों को प्रमोद आता है।

प्रश्न – वस्त्ररहित ही मुनिपना होता है; वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाले कुगुरु हैं – ऐसा कहने से वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाले को दुःख लगेगा; अतः यदि ऐसा नहीं कहते तो ठीक था।

उत्तर – यथार्थ वस्तुस्थिति प्रसिद्ध करने से असत्य का निषेध तो हो ही जाता है, 'यह सत्य है, ऐसे सत्य की स्थापना करने से उससे विरुद्ध असत्य है' – ऐसा असत्य का निषेध भी हो ही जाता है, यही अनेकान्त है। वहाँ मिथ्यामान्यतावाले का दुःख लगता है तो वह उसके विपरीतभाव के कारण है, उसमें ज्ञानी क्या कर सकते हैं? ऐसा तो कोई उपदेश जगत् में है ही नहीं कि जो सबको अच्छा लगे।

कोई कहता है ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है – ऐसा कहने से ईश्वर को कर्ता माननेवाले

को दुःख होगा; इसलिए ऐसा नहीं कहना चाहिए। उनसे ज्ञानी कहते हैं कि इसी अनुसार 'ईश्वर कर्ता है' ऐसा कहने से 'ईश्वर कर्ता नहीं है' – ऐसा माननेवाले को क्या दुःख नहीं लगेगा ? तो फिर सत्य-असत्य की कोई प्ररूपणा ही नहीं हो सकेगी। जिसे दुःख लगता है, वह उसके विपरीतभाव के कारण है; सत्य के कारण नहीं। ज्ञानी जीव, सत्य को तो सत्य के रूप में प्रसिद्ध करते हैं, उसमें कोई अज्ञानी कल्पना से दुःख माने तो वह उसके अपने विपरीतभाव से है, इस कारण सत्य की प्ररूपणा का निषेध तो नहीं किया जा सकता है।

यहाँ स्पष्टरूप से मुनिदशा का स्वरूप वर्णन करते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि मुनिदशा वस्त्ररहित ही होती है। मुनिदशा में अन्तरङ्ग की और बहिरङ्ग की स्थिति जैसी है, वैसी कह दी गयी है। इस काल में ऐसा कहने योग्य नहीं था और कह दिया गया है – ऐसा नहीं है किन्तु वास्तव में जो कहने योग्य था, वही कहा गया है। अपने ज्ञान में मुनिदशा का ऐसा स्वरूप निश्चित करना चाहिए। मुनिदशा तो केवलज्ञान लेने के लिए चैतन्य के झूले में झूलती दशा है।

आचार्यदेव ने जगत् के कल्याण के लिए सत्य बात की प्रसिद्धि की है, उनका भाव किसी को दुःख देने का नहीं है। अज्ञानी, विपरीतभाव से दुःख पाता है, वह उसके अपने कारण है। देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक में इस बात को स्पष्ट करते हुए निम्न प्रकार कहा गया है –

प्रश्न – आप जो कहते हो, यह तो सच है परन्तु अन्यमत की निन्दा करने से अन्यमती दुःखी होंगे, विरोध उत्पन्न होगा; इसलिए निन्दा किसलिए करें ?

उत्तर – वहाँ कहते हैं कि हम कषाय से निन्दा करें व औरों को दुःख उपजायें तो हम पापी ही हैं परन्तु अन्यमत के श्रद्धानादि से जीवों के अतत्त्वश्रद्धान दृढ़ हो, जिससे संसार में जीव दुःखी होंगे; इसलिए करुणाभाव से यथार्थ निरूपण किया है। कोई बिना दोष दुःख पाता हो, विरोध उत्पन्न करे, तो हम क्या करें ? जैसे – मदिरा की निन्दा करने से कलाल को दुःख हो; कुशील की निन्दा करने से वेश्यादिक दुःख पायें और खोटा-खरा पहिचानने की परीक्षा बतलाने से ठग दुःखी हो तो हम क्या करें ? इसी प्रकार यदि पापियों के भय से धर्मोपदेश न दें तो जीवों का भला कैसे होगा ? ऐसा तो कोई उपदेश है नहीं, जिससे सभी चैन पायें ?

देखो ! आचार्यदेव को करुणा का विकल्प उठने से उन्होंने अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक मुनिदशा का स्वरूप बतलाया है।

अब, इस उपधि (परिग्रह) का निषेध, वह अन्तरङ्ग छेद का ही निषेध है, ऐसा उपदेश करते हैं –

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धो।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो॥

(– प्रवचनसार, गाथा 220)

अर्थात् यदि निरपेक्ष (किसी भी वस्तु की अपेक्षारहित) त्याग न हो तो भिक्षु के भाव की विशुद्धि नहीं होती और जो भाव में अविशुद्ध है, उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है?

देखो! यहाँ तो कर्म का अभाव करके अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करें – ऐसी मुनिदशा की बात है। उस दशा में बहुत वीतरागता होती है, वहाँ वस्त्रादि की उपाधि नहीं होती। यह वस्त्र ग्रहण करुँ और यह ओढ़ूं – ऐसी वस्त्र की उपाधि मुनिराज को होती ही नहीं। वस्त्रसहित गृहस्थ को स्वभाव की दृष्टि और आत्मभान तो हो सकता है परन्तु ऐसी मुनिदशा तो होती ही नहीं, क्योंकि वहाँ भाव की इतनी विशुद्धि नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव चावल का दृष्टान्त देकर इस बात को स्पष्ट करते हैं –

जैसे, छिलके के सद्भाव में चावलों में पाई जानेवाली (रक्ततारूप) अशुद्धता का त्याग (नाश; अभाव) नहीं होता; उसी प्रकार बहिरङ्ग सङ्ग के सद्भाव में अशुद्धोपयोगरूप अन्तरङ्ग छेद का त्याग नहीं होता और उसके सद्भाव में शुद्धोपयोगमूलक कैवल्य (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती। (इससे ऐसा कहा गया है कि) अशुद्धोपयोगरूप अन्तरङ्ग छेद के निषेधरूप प्रयोजन की अपेक्षा रखकर विहित (आदेश) किया जानेवाला उपधि का निषेध, वह अन्तरङ्ग छेद का ही निषेध है।

जिसे बाह्य में वस्त्रादि विद्यमान हों, उसे अन्दर में राग की लालिमा पड़ी ही है। वस्त्र छोड़कर बैठने पर भी अन्तरङ्ग में राग रहे – ऐसा तो हो सकता है परन्तु अन्तरङ्ग में राग छूट जाए और शरीर पर वस्त्र हों – ऐसा नहीं हो सकता। वस्त्ररूप छिलके हो और अन्दर में रागभाव न हो – ऐसा नहीं हो सकता। शरीर पर वस्त्र पहनें हों और कहे कि हम तो मुनि हैं, हमें परिग्रह का राग नहीं है तो आचार्यदेव कहते हैं कि वह मुनि नहीं, अपितु पाखण्डी है;

उसकी बात मिथ्या है। अन्तरङ्ग का राग छूटने पर बाह्य में वस्त्र भी छूट ही जाते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने अपने अनुभव और आगम की साक्षी से मुनिदशा की यह बात की है। साथ ही युक्ति और दृष्टान्त द्वारा भी इसी बात का सिद्ध करते हैं।

शुद्धोपयोग, केवलज्ञान का मूल है। वह शुद्धोपयोग, वस्त्रादि के परिग्रहवाले को नहीं होता।

देखो, 196 वीं गाथा में चार प्रकार के मूल की बात आयी थी और यह पाँचवाँ केवलज्ञान का मूल बतलाया गया है। परमार्थ से अभेद आत्मा ही सम्यग्दर्शनादि समस्त धर्मों का मूल है।

1. राग-द्वेष का मूल, मिथ्यात्व है। जहाँ मिथ्यात्व का नाश नहीं है, वहाँ राग-द्वेष का यथार्थतः नाश नहीं है।

2. चारित्र का मूल, सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्रदशा उत्पन्न नहीं होती।

3. परद्रव्य में प्रवृत्ति का मूल, मोहमल है। मोहमल अर्थात् मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष, वही पर में प्रवृत्ति का मूल है।

4. चञ्चलता का मूल, मन है। मन के आश्रय से चञ्चलता अर्थात् राग-द्वेष होते हैं।

5. केवलज्ञान का मूल, शुद्धोपयोग है। ऐसा शुद्धोपयोग वस्त्रादिक परिग्रहवालों को नहीं होता। गृहस्थ धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की शुद्धता होती है परन्तु मुनिदशा का शुद्धोपयोग वस्त्रसहितदशा में होता ही नहीं।

जैसे, मुनिदशा नग्न वीतरागी है; वैसे ही ज्ञानियों के वचन भी नग्न सत्य हैं अर्थात् जैसी है, वैसी यथार्थ वस्तुस्थिति को प्रसिद्ध करते हैं। जो जीव सुलटा होता है, उसे जँचते हैं, वरना उलटे जीवों को तो अनादि से अज्ञान चल ही रहा है।

मुनिराज को बाह्य में वस्त्रादि नहीं होते, इस प्रकार जो परिग्रह का निषेध किया है, उसमें वास्तव में तो अन्दर में अशुद्धोपयोग के निषेध का ही प्रयोजन है।

मुनिराज को तीव्ररागभाव का निषेध होता है - यह प्रयोजन बतलाने के लिए बाह्य परिग्रह का अभाव बतलाया है। अन्दर के रागादिभाव छूटे न हों और बाह्य में वस्त्रादि छोड़ देनेवाले की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो अन्दर की वीतरागीदशापूर्वक बाह्यदशा कैसी होती है ? - यह बात है ?

अहो! हमने ऐसी मुनिदशा का स्वरूप तो सुना ही नहीं था, हम तो निहाल हो गये, इस प्रकार पात्र जीव इस बात को सुलटा लेता है। वीतरागी मुनियों को जगत् के जीवों को सत्य वस्तुस्थिति समझाने का विकल्प उत्पन्न हुआ है, वहाँ यह कथन हुआ है। इसके बदले विपरीत जीव कहता है कि ऐसा कहने से तो दूसरों को दुःख लगेगा, इसलिए यह बात स्पष्ट नहीं की गयी होती तो अच्छा था; वस्तुतः ऐसा कुतर्क करनेवाला जीव स्वच्छन्दी है। अरे मूढ़!, महा सन्त वीतरागी मुनिदशा में झूलते हुए सन्तों से भी क्या तू अधिक बढ़ गया है? आचार्यदेव को क्या तेरे जितनी भी बुद्धि नहीं होगी? अरे मूढ़! मुनिराजों ने जो कहा है, वह यथार्थ ही है – इस बात का सुनते हुए तुझे प्रमोद नहीं आता, बल्कि कुतर्क उत्पन्न होता है तो तू महास्वच्छन्दी है।

अरे भाई! आचार्यदेव कहते हैं कि शास्त्र में तो भगवान ने ऐसी ही मुनिदशा का उपदेश दिया है और तू कहता है कि ऐसा नहीं कहा होता तो ठीक था; इसलिए तू भगवान के शास्त्रों और सन्तों का शत्रु हुआ, वस्तुस्थिति का और अपने आत्मा का शत्रु हुआ। इसलिए आचार्यदेव ने भगवान द्वारा कथित वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया है – उसे समझ। अपनी स्वच्छन्दता को एक ओर रखकर आचार्यदेव ने कहा है, उसे समझ!

अब, 'उपधि, वह ऐकान्तिक अन्तरङ्ग छेद है' – ऐसा विस्तार से उपदेश करते हैं –

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि॥ 221॥

अर्थात्, उपधि के सद्भाव में उस (भिक्षु) के मूर्छा, आरम्भ या असंयम न हो, यह कैसे हो सकता है? (कदापि नहीं हो सकता), तथा जो परद्रव्य में रत हो, वह आत्मा को कैसे साध सकता है?

उपधि के सद्भाव में, (1) ममत्व-परिणाम जिसका लक्षण है – ऐसी मूर्छा, (2) उपधि सम्बन्धी कर्मप्रक्रम के परिणाम जिसका लक्षण है – ऐसा आरम्भ, अथवा (3) शुद्धात्मस्वरूप की हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है – ऐसा असंयम अवश्यमेव होता ही है।

अहा! मुनिवर तो जगत् से एकदम निस्पृह और सिंहवृत्ति से विचरनेवाले हैं। मुनिपद, गोशाला के पशु जैसा नहीं है। जैसे, सिंह को गोली लगे तो वह गोशाला में पट्टी नहीं बँधवाता; इसी प्रकार मुनिराज को गृहस्थों की अपेक्षा नहीं होती, आरम्भ नहीं होता, परिग्रहादि नहीं होते। जिसे परिग्रह हो, उसे तो गृहस्थों की अपेक्षा होती है, वह तो गौशाला के पशुवत् गृहस्थों का गुलाम है; उसे वस्त्र धोने इत्यादि का आरम्भ है, असंयम है, वस्त्र के प्रति मूर्च्छा है – ऐसा जीव आत्मा में लीन होकर, आत्मा को किस प्रकार साधेगा? यहाँ तो पूर्ण साधना की बात है। वस्त्रादि परिग्रहवन्त गृहस्थ धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है परन्तु वस्त्रादिसहित दशा में वह केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, उसे मुनिदशा नहीं होती।

अहो! यह तो अन्तर का एकदम निवृत्तिमय शान्त मार्ग है। वस्त्र-पात्र की उपधि और उसे रंगने आदि की प्रवृत्ति आत्मार्थी को अन्तरङ्ग में नहीं रुचती। मुनि तो वस्त्र-पात्ररहित, उपधिरहित होते हैं, उन आत्मा के आनन्द के अनुभव की श्रेणी में स्थित मुनियों को बाहर की उपधि कैसे हो सकती है?

यह बात गृहस्थों को देव-गुरु-शास्त्र की पहचान करने के लिए समझना आवश्यक है। देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं? यह जानना आवश्यक है। इसके बिना जहाँ-तहाँ सिर झुकानेवाले को धर्म नहीं होता। जिसके हृदय में वस्त्रादि परिग्रह की मूर्च्छा होने पर भी, अपने को मुनि मानता है, वह जीव वीतरागमार्ग को नहीं जानता। वीतरागमार्ग में सन्त मुनिराज को ऐसी परिग्रह की मूर्च्छा अथवा आरम्भ की वृत्ति नहीं हो सकती है।

अहो! साधुपद कैसा होता है? जिस साधुपद के बिना केवलज्ञान और मुक्ति नहीं होती, यह उस साधुपद की भक्ति है। जो मुनिपने से विपरीत, मुनि का स्वरूप मानता है, उसकी तो श्रद्धा ही विपरीत है। वह वीतराग की आज्ञा को नहीं मानता है, गुरु को नहीं पहचानता है, शास्त्र को भी नहीं जानता है। जहाँ से धर्म प्राप्त करना है, उनकी पहचान तो करनी चाहिए न! देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा करके, वे क्या कह रहे हैं? – इस बात की समझ करना भी गृहस्थों का एक धर्म है। मुनिदशा आने से पूर्व मुनिदशा कैसी होती है? यह पहचानना चाहिए।

णमो लोए सव्वसाहूणं में जिन साधुओं को नमस्कार किया जाता है, वह साधुदशा कैसी होती है? उसका यह वर्णन है। परिग्रह सम्बन्धी बोझा मुनिराज के सिर नहीं होता। यह

कपड़ा लेना है, यह पहनना है, यह गन्दा हो गया है; इसलिए धोना है, धोकर सुखाना, सुखाकर जमाना है – इत्यादि उपधि मुनिराज को नहीं होती। जहाँ किसी कार्य की व्यवस्था करने का बोझ सिर पर हो, वहाँ मुनिपने का घात होता है। वहाँ हिंसा के परिणाम होते हैं अर्थात् असंयम है। जहाँ ममत्व, आरम्भ और असंयम हो, वहाँ मुनिपना नहीं होता।

तथा उपधि जिसका द्वितीय हो अर्थात् आत्मा से अन्य ऐसा परिग्रह जिसने ग्रहण किया हो, उसके परद्रव्य में रतपना (लीनता) होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य की साधकता का अभाव होता है; इससे उपधि के ऐकान्तिक अन्तरङ्ग छेदपना निश्चित होता ही है।

जिसे चैतन्यस्वभाव में लीनता नहीं है और बाह्य वस्त्रादि परिग्रह की उपाधि में पड़ा है, उसे मुनिदशा के साधकपन का अभाव है – ऐसा होने से उपधि को ऐकान्तिक अन्तरङ्ग छेदपना निश्चित होता है अर्थात् जहाँ परिग्रह की ममता है, वहाँ मुनिदशा का नाश होता है।

मुनिदशा तो उत्कृष्ट साधकदशा है। उस दशा में एकदम अन्तर-रमणतारूप लीनता हो गयी है। जहाँ परिग्रह का लक्ष्य हो, वहाँ ऐसी शुद्धोपयोग की लीनता नहीं हो सकती; इसलिए जहाँ उपधि है, वहाँ मुनिदशा का छेद ही है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि – 'उपधि ऐसी है,' अर्थात् परिग्रह, वह अन्तरङ्ग छेद ही है, ऐसा निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ना चाहिए।

देखो, पहले ऐसा मुनिदशा का स्वरूप निश्चित करके, परिग्रह को छोड़ना चाहिए। मुनिदशा का ऐसा स्वरूप निश्चित किये बिना अर्थात् निर्णय किये बिना तो मुनिदशा होती ही नहीं।

अब, किसी के, कहीं, कभी, किसी प्रकार, कोई उपधि अनिषिद्ध भी है – ऐसे अपवाद का उपदेश करते हैं –

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता॥

अर्थात् जिस उपधि के (आहार-नीहारादि के) ग्रहण-विसर्जन में, सेवन करने में,

जिससे सेवन करनेवाले के छेद नहीं होता, उस उपधियुक्त, काल-क्षेत्र को जानकर, इस लोक में श्रमण भले वर्ते।

देखो, यहाँ पर के ग्रहण-त्याग का कथन उपचार से है। अन्दर वैसा विकल्प उत्पन्न हुआ, वहाँ निमित्त अपेक्षा ग्रहण-त्याग करना कहा गया है। वस्तुतः आत्मा पर का ग्रहण -त्याग नहीं कर सकता, यह तो वस्तुस्थिति ही है परन्तु चरणानुयोग में निमित्त का ज्ञान कराया गया है।

आत्मद्रव्य के द्वितीय पुद्गलद्रव्य का अभाव होने से समस्त ही उपधि निषिद्ध है - ऐसा उत्सर्ग (सामान्य नियम) है।

भगवान आत्मा एक शुद्धद्रव्य है, उसमें शरीरादि सर्व पर का अभाव है। आत्मा में एक परमाणुमात्र का भी ग्रहण-त्याग करने का अभाव है। जिसने ऐसे आत्मा की दृष्टि की है और उसमें लीनता करने लगा है, उसे मुनिदशा में अन्य किसी उपधि का सङ्ग नहीं होता - यह तो उत्सर्ग है अर्थात् अकेले आत्मा में लीनता तो मुनिराजों का उत्सर्गमार्ग है और मन-वाणी-देह के प्रति लक्ष्य जाना, अपवादित उपधि है अर्थात् मन-वाणी-देह को ही अपवादरूप से उपधि में गिना गया है परन्तु वस्त्र को तो अपवादरूप से भी मुनिपने की उपधि नहीं गिना गया है।

और विशिष्ट काल-क्षेत्र के वश कोई उपधि अनिषिद्ध है - ऐसा अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधि के निषेध का आश्रय लेकर परमोपेक्षासंयम को प्राप्त करने का इच्छुक होने पर भी विशिष्ट काल-क्षेत्र के वश, हीन (अनुत्कृष्ट) संयम प्राप्त करता हुआ, उसकी बहिरङ्ग साधनमात्र उपधि का आश्रय करता है।

जो निर्विकल्प होकर चिदानन्दस्वरूप में स्थित हुआ है, उसे तो शरीर आदि उपधि के प्रति लक्ष्य ही नहीं जाता, परन्तु वैसी भावना होने पर भी जब विशिष्ट काल-क्षेत्र के वश, हीन शक्तिवाला हो और निर्विकल्परूप से स्थिर न रह सके तो उसमें किञ्चित् अपवाद करके, मन-वाणी-शरीर के प्रति लक्ष्य जाता है, तब अनुत्कृष्ट संयम को टिका रखकर उपधि का आश्रय करता है अर्थात् सरागभाव होने पर शरीरादि निमित्त के प्रति लक्ष्य गया है; इसलिए उसे उपधि गिना गया है। यह उपधि, आत्मा का द्वितीय है अर्थात् आत्मा से भिन्न है। आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध है - ऐसा भान और उसमें विशेष लीनता तो मुनि को वर्तती है। पूर्ण

वीतरागरूप से आत्मा में स्थिरता नहीं होती, तब उपदेश का श्रवण करना, उपदेश देना, आहार ग्रहण करना, परजीवों की दया इत्यादि विकल्प का भाव आता है। वहाँ उपधि का आश्रय होने पर भी संयम का छेद नहीं होता। इसलिए वास्तव में तो वह उपधि नहीं है क्योंकि वहाँ संयम का छेद नहीं है परन्तु वह उपधि तो छेद के निषेधरूप है।

यदि छठवें गुणस्थान में विकल्प के समय ऐसा लक्ष्य न करे तो अन्य राग में जुड़ेगा; इसलिए व्यवहारसंयम अर्थात् छठवाँ गुणस्थान टिकता होने से उस विकल्प को उपधि में नहीं गिना है। परमार्थ से उत्सर्गरूप से तो वह विकल्प, दोष ही है परन्तु व्यवहार से छठवें गुणस्थान की अपेक्षा से अपवादरूप से ऐसा शुभविकल्प और आहारादि उपधि होती हैं, वह उपधि संयम के छेद का कारण नहीं है।

इस प्रकार जिसका आश्रय किया जाता है – ऐसी वह उपधि उपधिपने के कारण वास्तव में छेदरूप नहीं है; प्रत्युत छेद की निषेधरूप (त्यागरूप) ही है। जो उपधि अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती, वह छेद है किन्तु यह (संयम की बाह्यसाधनमात्रभूत उपधि) तो श्रामण्यपर्याय की सहकारीकारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतुभूत आहार-नीहारादि के ग्रहण-विसर्जन (ग्रहण-त्याग) सम्बन्धी छेद के निषेधार्थ ग्रहण की जाने से, सर्वथा शुद्धोपयोगसहित है; इसलिए छेद के निषेधरूप ही है।

मुनिराज को हजारों बार छठा-सातवाँ गुणस्थान आया करता है। उसमें भी सातवें में निर्विकल्प अनुभव किया, वह उत्सर्ग और विकल्प उत्पन्न हुआ, वह अपवाद है। अहो! अभी तो मुनिदशा क्या है? इसका भी लोगों को पता नहीं है। अरे! सम्यग्दर्शन का अर्थात् चौथे गुणस्थान का भी ठिकाना न हो और वस्त्र त्यागकर मुनिपना मान ले, उसे भगवान मुनि नहीं कहते और वह धर्म भी नहीं है।

यहाँ छठवें गुणस्थान में शुभवृत्ति उत्पन्न होने पर भी उसे सर्वथा शुद्धोपयोग ही गिना है क्योंकि वहाँ छठवें गुणस्थान की दशा को विघ्नकारक अशुद्धता नहीं है। छठवें गुणस्थान में आहारादि की वृत्ति उत्पन्न हो, उसमें मुनिराज का हेतु, राग के पोषण का नहीं है; संयम के पोषण का ही हेतु है तथा अशुभराग न आ जाए, इस हेतु से आहारादि उपधि होती है; इसलिए उस उपधि से संयम का छेद नहीं होता।

मुनिराज स्वयं संसार से बाहर निकलकर विपरीत मान्यतारूपी कुएँ में पड़े हुए जीवों को बाहर निकालने के लिए यह वस्तुस्थिति समझाते हैं। श्री पद्मनन्दि पञ्चविंशति के दान अधिकार में आचार्यदेव कहते हैं कि हम आत्मा की रमणता करके, मुनि होकर संसार के कूप में से बाहर निकल गये हैं और संसार में लोभरूपी कुएँ में पड़े हुए जीवों को उसमें से बाहर निकालने के लिए हमने यह दान का उपदेश दिया है।

हे भाई! पूर्व में तेरे गुण जले थे, तब पुण्यबन्ध हुआ था और उसके फल में यह पैसा इत्यादि प्राप्त हुआ है; इसलिए दान करके इसकी ममता घटा! जैसे, कौआ को जली हुई खिचड़ी प्राप्त होने पर वह काँव-काँव करके दूसरे कौओं को इकट्ठा करके खाता है; उसी प्रकार तेरे गुण जलकर खिचड़ीरूप पुण्य का बन्ध हुआ और उसके फल में धनादि का संयोग प्राप्त हुआ। अब, यदि तू उसे अकेला भोगेगा और लोभ घटाकर दान नहीं करेगा तो तू लोभरूपी कुएँ में डूबा हुआ है; इसलिए आचार्य भगवान ने तुझ पर करुणा करके यह दान का उपदेश दिया है।

इसी प्रकार यहाँ कुगुरुओं की विपरीतश्रद्धारूपी अन्धकूप में पड़े हुए जीवों को संसार से बचाने के लिए करुणापूर्वक आचार्य भगवान ने मुनिदशा का उपदेश दिया है। इस चरणानुयोगसूचक चूलिका के प्रारम्भ में ही आचार्य भगवान ने कहा था कि हमारा आत्मा, संसार के दु:खों से मुक्त होने का अभिलाषी था, इसलिए हमने मुनिदशा अङ्गीकार की है और यदि अन्य मुमुक्षु जीव भी हमारी तरह संसार दु:ख से छूटने के अभिलाषी हों तो ऐसा मुनिपना अङ्गीकार करो। हम तो वैसी मुनिदशा का अनुभव कर ही रहे हैं और मुनिदशा के प्रणेता हम खड़े हैं - ऐसा कहकर मुनिदशा का स्वरूप क्या है? - यह पहचान कराते हैं।

लोग मुनिदशा के नाम पर जहाँ-तहाँ झुक पड़ते हैं, ऐसे जीवों को बाहर निकालने के लिए अर्थात् उन्हें मुनिदशा का सम्यक्स्वरूप बताने के लिए हमने इस यथार्थ मुनिदशा की पहचान कराई है। हे भाई! यदि तुझसे ऐसा मुनिपना हो सके, तब तो वैसा करना, परन्तु यदि न हो सके तो भी श्रद्धा तो ऐसी ही रखना। श्रद्धा में किञ्चित्मात्र भी विपरीत मत मानना।

छठवें गुणस्थान में शुभराग और मन इत्यादि का अवलम्बन होने पर भी यहाँ उसे सर्वथा शुद्धोपयोग कहा है क्योंकि छठवें गुणस्थान से नीचे नहीं गिरता और वह दशा टिकी रहती है,

जो कि सातवें गुणस्थान में जाने के लिए है; इसलिए छठवें गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग ही गिना है। यद्यपि छठवाँ गुणस्थान तो द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही टिका हुआ है परन्तु जब मुनि को विकल्प उत्पन्न होता है, तब क्या स्थिति है? विकल्प की क्या मर्यादा है? – उसका ज्ञान कराया है। चौथा, पाँचवाँ अथवा छठवाँ गुणस्थान भी द्रव्य के आश्रय से ही टिका हुआ है, द्रव्य का आश्रय रखकर बीच में भूमिकानुसार कैसा राग होता है और उस समय कैसे निमित्त हो सकते हैं? – उसका वर्णन करना चरणानुयोग का प्रयोजन है।

श्रामण्यपर्याय की वीतरागता तो आत्मस्वभाव के आश्रय से ही है और राग का विकल्प उत्पन्न होने पर आहारादि के ग्रहण–त्याग के प्रति लक्ष्य जाता है। यदि वहाँ हठ करे तो खेद होने पर संयम में बाधा उपस्थित हो जाती है; इसलिए छठवें गुणस्थान में आहारादि की वृत्ति को ही सर्वथा शुद्धोपयोग गिना गया है, उससे संयम का छेद नहीं होता।

शरीर को श्रामण्यपर्याय का सहकारीकारण कहा जाता है परन्तु जब स्वभाव के आश्रय से संयम प्रगट हुआ हो, तब शरीर को उसका सहकारीकारण कहा जाएगा न! शुद्धउपादान का आश्रय विद्यमान है, तब शरीर को निमित्त कहा गया है परन्तु यदि स्वभाव के आश्रय से संयम ही न टिका हो तो शरीर को सहकारीकारण भी किसका कहना? संयम का सहकारी निमित्त शरीर है और शरीर के टिकने में आहार–नीहारादि का ग्रहण–विसर्जन निमित्त है; इस प्रकार छठवें गुणस्थान में विकल्प उत्पन्न होने पर आहारादि का ग्रहण होता है, वह संयम का छेद न हो इसलिए ही है; इस कारण उन आहारादि उपधि से संयम का छेद नहीं होता। ●

(– सद्गुरु प्रवचनप्रसाद दैनिक, गुजराती)

वीतरागी सन्तों का आमन्त्रण

आओ... आओ... मोक्षमार्ग में आओ!

जो जीव अपने चैतन्य को नहीं देखते, अनुभव नहीं करते एवं रागादि निजपद को अपना मान रहे हैं, वे जीव अन्धे हैं। जो जीव अपने स्वरूप को नहीं देखते – ऐसे जीवों को जागृत करके, आचार्यदेव उन्हें अपना निजपद दिखाते हैं।

हे प्राणियों! तुम रागादि अशुभभावों को ही निजरूप मानकर, उनका वेदन कर रहे हो, उन्हीं के समान अपने को मान रहे हो किन्तु वह भूल है। जीव का स्वरूप वैसा नहीं है; जीव तो शुद्ध चैतन्यमय है। उसे भूलकर रागादि पर्यायों के समान स्वयं को अनुभव करते हो, यह भूल है। राग में तो आकुलता है, उस मार्ग पर मत जाओ, वह तुम्हारा मार्ग नहीं है; तुम तो चैतन्यमय हो। इसलिए इस मार्ग की ओर आओ... इस मार्ग पर आओ.. शुद्ध चैतन्यपद की ओर उन्मुख होओ... उसका अनुभव करो... यही तुम्हारा मार्ग है, ऐसे चैतन्यपद में ही तुम्हारा आनन्द है; उसे छोड़कर अन्यत्र मत जाओ।

जिसमें से चैतन्य के आनन्द की परिणति प्रगट हो, उस चैतन्यपद का तो जो जीव अनुभव नहीं करता और रागादि को निजपद मानकर उसी के अनुभव में रुक जाता है, वह तो परभाव के मायाजाल में फँसा हुआ है, अपने निजपद को भूला हुआ है और चार गति के भव-भ्रमण में सोया हुआ है। जिस भव में, जिस पर्याय को धारण करता है, उसी पर्याय के अनुभव में मग्न है। मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं रागी हूँ – ऐसा अनुभव करता है परन्तु उससे भिन्न अपने शुद्ध ज्ञायकपद का अनुभव नहीं करता, वह अन्धा है। वह विनाशी-भावरूप ही अपना

अनुभव करता है परन्तु अविनाशी निजपद को नहीं देखता। वह निजपद का मार्ग भूलकर विपरीत मार्ग में पहुँच गया है। वीतरागी सन्त उसे बुलाते हैं कि अरे जीव, रुक जा! विभाव के मार्ग से वापिस आ... वह सुख का मार्ग नहीं है; वह तो मायाजाल में फँसने का मार्ग है। इसलिए उस मार्ग की ओर न जा... इस ओर आ... तेरा आनन्दमय सुखधाम यहाँ है; अतः इस ओर आ! तू देव, मनुष्य, रागी नहीं है; तू तो शुद्ध चैतन्यमय है तथा तेरा अनुभव भी चैतन्यमय है। चैतन्य से पृथक् कोई तेरा पद नहीं... वह तो अपद है... अपद है।

अरे, ऐसा चैतन्यपद देखकर उसकी साधना के लिए आठ-आठ वर्ष के राजकुमार तो राजपाट छोड़कर वन में चले गये, अनुभवगम्य चैतन्यपद में लीन होने के लिए वीतरागमार्ग में लग गये। जिस चैतन्यपद के सन्मुख इन्द्रपद भी तुच्छ भासित होता है, उसकी महिमा की क्या बात? अरे! शुद्ध चैतन्यस्वरूप जैसा है, उसे वैसा ही देख। अमृत से भरे चैतन्यसरोवर को छोड़कर विष से भरे हुए समुद्र में मत जा! भाई! दुःखी होने के मार्ग पर मत जा...! उससे पीछे मुड़कर इस चैतन्य के मार्ग पर आ! बाह्य में तेरा मार्ग नहीं है; तेरा मार्ग तो अन्तर में है। सन्त, प्रेम से तुझे ऐसे मोक्ष के मार्ग में बुलाते हैं।

अहो! ऐसे मार्ग पर कौन नहीं आएगा? विभाव को छोड़कर स्वभाव में कौन नहीं आएगा? बाह्य का राज्य-वैभव छोड़कर अन्तर के चैतन्य-वैभव को साधने के लिए राजा और राजकुमार अन्तरोन्मुख हुए। बाह्यभाव अनादिकाल से अब तक किए, अब उन्हें छोड़कर, मेरा परिणमन अन्दर के निजपद की ओर उन्मुख होता है तथा अब मैं परभाव के मार्ग में जानेवाला नहीं हूँ परन्तु अन्तर के चैतन्यपद में ही मैं रहूँगा - धर्मी जीव, स्वानुभवपूर्वक ऐसे निजपद को साधते हैं... और दूसरे जीवों से भी कहते हैं कि हे जीवो! तुम भी इसी मार्ग पर आओ। अपने अन्तर में देखा हुआ मोक्ष का मार्ग/आनन्द का मार्ग बतलाकर सन्त बुलाते हैं कि हे जीवों! तुम भी हमारे साथ इस मार्ग पर आओ... इस मार्ग पर आओ। अविनाशी सिद्धपद का यही मार्ग है।

मोक्षार्थी को स्वाद लेने योग्य, अनुभव करने योग्य शुद्ध चैतन्यपद एक ही है; इसके अतिरिक्त अन्य सब अपद हैं, वह शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है। मोक्ष अर्थात् परमसुख चाहते हो तो सदा शुद्धपद का ही अनुभव करो। क्या करना और कहाँ स्थिर होना? तो कहते हैं कि अपने शुद्ध चैतन्यपद में दृष्टि करना, उसी में मग्न रहना। शरीर या घर, वह तेरा पद नहीं है; तेरा निवास नहीं है; संयोग तेरा निवास-स्थान नहीं है; राग तेरा निवास-स्थान नहीं है, तेरा

निवास तो असंख्यप्रदेशी चैतन्यरस से भरपूर है, वही तेरा निजपद है, उसका अनुभव लेना ही मोक्षसुख अर्थात् चिर सुख का कारण है। चिर सुख अर्थात् दीर्घ सुख, अनन्त काल का सुख, शाश्वत सुख ही मोक्षसुख है।

आत्मा, स्वयं सत् अविनाशी वस्तु है, उसके अनुभव से हुआ सुख शाश्वत और अविनाशी है। आत्मा का आनन्द स्व में है, पर में नहीं। जिसमें आनन्द न हो, उसे निजपद कैसे कहा जाए? निजपद तो उसे कहते हैं, जिसमें आनन्द हो। जिसका स्वाद लेने से, जिसमें निवास करने से और जिसमें स्थिर होने से आत्मसुख का अनुभव हो, वही निजपद है। जिसके वेदन में आकुलता हो, वह निजपद नहीं है; वह तो परपद है और आत्मा के लिए अपद है, उसे अपद जानकर, उससे विमुख होकर शुद्ध आनन्दमय चैतन्यपद के सन्मुख होओ! सन्त बुलाते हैं कि इस ओर आओ – इस ओर आओ!

जिसमें कोई विकल्प नहीं है – ऐसा यह निर्विकल्प चैतन्यपद ही आस्वादन करने योग्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में चैतन्य का स्वाद है; राग का स्वाद रत्नत्रय से बाहर है। निजपद में राग का स्वाद नहीं है, राग तो दुःख और विपदामय है परन्तु चैतन्यपद में विपदा नहीं है। जिसमें आपदा है, वह अपद है, जिसमें आपदा का अभाव और सुख का सद्भाव है, वही स्वपद है। जो आनन्दस्वरूप आत्मा की सम्पदा से विपरीत है, वह विपदा है। राग, चैतन्य की सम्पदा नहीं, अपितु विपदा है और आत्मा का अपद है।

जिस प्रकार राजा का स्थान कूड़े-कचरे का ढेर नहीं होता, राजा तो सोने के सिंहासन पर ही शोभा देता है; उसी प्रकार इस जीवराजा का स्थान राग-द्वेष-क्रोधादि मलिनभावों में नहीं है, वह तो अपने शुद्ध चैतन्य -सिंहासन पर ही शोभा देता है। राग में कहीं चैतन्यराजा का स्थान नहीं है, वह तो अपद है, अस्थिर है, मलिन है, विरुद्ध है। चैतन्यपद शाश्वत है, शुद्ध है, पवित्र है, अपने स्वभावरूप है – ऐसे शुद्धपद को हे जीवों! तुम जानो... उसे स्वानुभव-प्रत्यक्ष करो। ऐसी जिनपद की साधना ही मोक्ष का उपाय है।

अहा! आत्मा स्वयं निजानन्द में निमग्न चैतन्यमय, शान्तरस के प्रवाहरूप निजपद है। बाह्य में देखने का रस छोड़कर स्वयं अपने चैतन्यपद को देखने से परम आनन्द प्राप्त होता है – ऐसे आनन्द के मार्ग पर सन्त बुलाते हैं। ●

(- आत्मधर्म, वर्ष-27, अगस्त 1971)

वीतरागी सन्तों का मधुर सम्बोधन

भव के नाश हेतु जिनभावना भा!

(भावप्राभृत गाथा 6 से 19 तक के वैराग्यप्रेरक प्रवचनों से)

हे शिवपुरी के पथिक! तू सम्यग्दर्शनादि भावों को जान; भावरहित अकेले बाह्यलिङ्ग से कुछ भी साध्य नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शिवपुरी का पन्थ है, वह प्रयत्न द्वारा सधता है - ऐसा जिनभगवन्तों ने कहा है; इसलिए हे सिद्धपद के साधक! प्रथम प्रयत्न द्वारा तू भाव को जान! सम्यग्दर्शनादि भावोंरूप मोक्षमार्ग, महाप्रयत्न द्वारा सिद्ध होता है। एक स्थान पर गुरु, शिष्य से कहते हैं कि हे शिष्य! भगवान की आज्ञा में तुझे आलस्य न हो और भगवान की आज्ञा से बाहर तेरा प्रवर्तन न हो। अब, भगवान की आज्ञा क्या है? भगवान की आज्ञा तो स्वभावोन्मुख प्रयत्न करने की है; सम्यग्दर्शन भी बिना प्रयत्न के नहीं होता। चिदानन्दस्वभाव की ओर के अपूर्व प्रयत्न से ही मोक्षमार्ग सधता है। क्रमनियमितपर्याय है; इसलिए पुरुषार्थ है ही नहीं - ऐसा नहीं है। क्रमनियमित का निर्णय करनेवाला जीव भी ज्ञानस्वभाव की सन्मुखतापूर्वक ही वह निर्णय कर सकता है और उसमें स्वसन्मुख प्रयत्न आ ही जाता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि प्रथम, तू सम्यग्दर्शनादि भावों को जान! किससे कहते हैं? शिवपुरी के पथिक से कहते हैं। मधुर सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि हे शिवपुरी के

पथिक! हे मोक्षनगरी के प्रवासी! तू मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शनादि भावों को प्रयत्न से जान! इसके बिना द्रव्यलिङ्ग द्वारा कुछ भी साध्य नहीं है अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना पञ्च महाव्रतादि भी निष्फल हैं; उनके द्वारा शिवपुरी में नहीं पहुँचा जाता... वह शिवपुरी का मार्ग नहीं है।

भगवान ने तो **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः** कहा है किन्तु शरीर या रागमय - ऐसे बाह्यलिङ्ग को मोक्षमार्ग नहीं कहा है। भगवान ने द्रव्यलिङ्ग की मोक्ष के साधनरूप से उपासना नहीं की है किन्तु सर्व अरहन्तों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ही मोक्षमार्गरूप से उपासना की है और उसी का उपदेश दिया है; इसलिए हे जीव! तू पुरुषार्थ द्वारा ऐसे मोक्षमार्ग को जान!

हे शिवपुरी के पथिक! जिनवरों द्वारा कहे हुए प्रयत्न द्वारा तू भावलिङ्ग को साध! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो भावलिङ्ग, वह अन्तर्मुख प्रयत्न द्वारा साध्य है तथा वही शिवपुरी का पन्थ है। अरे पथिक! प्रथम तू पन्थ को तो जान! मोक्ष का पन्थ, देह की क्रिया में नहीं है, राग में नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शनप्रधान - ऐसा जो भावलिङ्ग, वही मोक्ष का पन्थ है। सर्व भावों में सार - ऐसा जो शुद्धभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही परम हितरूप है। हे पथिक! ऐसे भाव को तू प्रयत्न द्वारा साध! ऐसे शुद्धभाव के बिना रे जीव! तूने अनन्त बार बाह्यलिङ्ग ग्रहण किये और छोड़े हैं।

आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि हे सत्पुरुष! शुद्धभाव को जाने बिना, इस संसार में परिभ्रमण करते हुए तूने मनुष्य होकर अनन्त बार निर्ग्रन्थ रूप तथा पञ्च महाव्रत अङ्गीकार किये और छोड़े, तथापि शुद्धभाव के बिना तेरा कल्याण नहीं हुआ और चार गति में भटकता ही रहा। जो अपना हित साधना चाहता है, उसे सम्बोधन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे सत्पुरुष! तूने शुद्धभाव के बिना चार गति में अनेकों भीषण दुःख उठाये हैं; इसलिए हे जीव! अब तो सम्यग्दर्शन प्रगट करके तू जिनभावना भा।

भयङ्कर नरकगति में, तिर्यञ्चगति में, कुदेव और कुमनुष्यों में जीव ने घोर दुःख भोगे हैं। क्यों ? जिनभावना के बिना! इसलिए हे जीव! अब तो तू दुःखों से परिमुक्त होने के लिए जिनभावना भा! चैतन्योन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शनादि की आराधना कर!

अहो! लक्ष्मणजी जैसे अर्धचक्री राजा। देव जिनके सहायक और मित्र थे; जिनके वैभव का पार नहीं था – इस समय अधोलोक में हैं। सीताजी प्रतीन्द्र हुई हैं; वे लक्ष्मणजी को उन भीषण दु:खों से उबारने जाती हैं किन्तु देव भी उन्हें उबार नहीं सकते, क्योंकि ज्यों ही बाहर निकालने के लिये उठाते हैं, शरीर पारे की भाँति बिखर जाता है – ऐसे दु:ख इस जीव ने अनन्त बार भोगे हैं।

तिर्यञ्चगति में शूकर आदि को जिन्दा ही आग में सेक डालते हैं — ऐसे –ऐसे भीषण दु:ख भोगते हुए कभी अज्ञान से किञ्चित् पुण्यबन्ध करे और निम्न श्रेणी का देव हो जाए तो वहाँ देवगति में अपमानादि के भयानक दु:ख सहता है। धर्म का अनादर और अधर्म का आदर करके, कदाचित् किञ्चित् पुण्य से देव हुआ तो वहाँ बड़े देवों की आज्ञा से हाथी –घोड़ा आदि के रूप धारण करना पड़ते हैं और दूसरे देव उन पर सवारी करते हैं; इसी प्रकार मनुष्यभव में भी आत्मभान के बिना जीव ने महान दु:ख प्राप्त किये हैं। इसलिए हे जीव! तू जिनभावना भा! जिनभावना अर्थात् शुद्ध आत्मा की भावना। अहा! जिनभावना तो संसार के सर्व दु:खों से छूटने का उपाय है।

हे जीव! जिनभावना के बिना तूने चार गतियों के अनन्त दु:ख प्राप्त किये; इसलिए अब तो जिनेश्वरदेव के मार्ग की शरण लेकर, भगवान के कहे हुए शुद्धात्मा की भावना भा! शुद्धात्मा की बारम्बार भावना करने का नाम जिनभावना है; उससे संसार भ्रमण का अन्त होकर मुक्ति प्राप्त होती है।

अरे, जिन्हें संसार की चार गतियों में दु:ख भी न लगता हो, संसार में ही सुख का आभास हो रहा हो – ऐसे जीव, जिनभावना कहाँ से भायेंगे? वे तो बाह्य अनुकूलता में ही सुख मानते हैं किन्तु भाई! जरा आन्तरिक भावों को तो देख! अन्तर में तो आकुलता की आग लग रही है। जिस प्रकार जमीन के अन्दर कोयले की खान में जो आग लगती है, वह बाहर से दिखाई नहीं देती; उसी प्रकार अन्तर में आत्मभान के बिना दु:ख की भीषण आग लग रही है, उस दु:ख को अज्ञानी नहीं देखता, तब फिर उससे छूटने का प्रयत्न कैसे करेगा? यहाँ तो कहते हैं कि हे सत्पुरुष! हे शिवपुरी के पथिक! जिनभावना के बिना संसार में एकान्त दु:ख है – ऐसा जानकर, तू उससे छूटने के लिए जिनभावना भा!

हे जीव! तूने सात नरकभूमि में दारुण दु:ख सहन किये हैं। कितने काल तक? – तो कहते हैं कि तेतीस सागरोपम तक! अर्थात्? दश कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है और एक-एक पल्योपम में असंख्य अरब वर्ष होते हैं! – इस समय तो उसके अङ्क गिनना भी कठिन है। इतने काल तक जीव ने अनन्त बार नरकों के दु:ख सहन किये हैं। जहाँ एक क्षण भी चैन नहीं है; तीव्र क्षुधा होने पर भी जहाँ करोड़ों अरबों वर्ष तक अन्न का दाना भी नहीं मिलता; समुद्र का सारा पानी पी जाए-इतनी तृषा होने पर भी जहाँ पानी की एक बूँद भी अरबों वर्ष तक नहीं मिलती; जहाँ शीत-उष्णता इतनी है कि जिसमें मेरुपर्वत के समान लौहपिण्ड भी क्षणमात्र में गल सकता है; जहाँ की भूमि इतनी दुर्गन्धियुक्त है कि उसकी मिट्टी के एक कण से भी कई योजन दूर तक के मनुष्य मर सकते हैं – ऐसे नरकों के दु:ख, जीव ने अनन्त बार भोगे हैं। वह जीव, वहाँ से मरकर भी उन दु:खों से छूटना चाहता है किन्तु आयु पूर्ण हुए बिना मर नहीं सकता – ऐसे असह्य दु:ख अनन्त बार भोगे हैं। हे जीव! सम्यग्दर्शन के बिना तूने ऐसे भीषण दु:ख सहन किये हैं; इसलिए अब तो सम्यग्दर्शनरूप भाव को पहिचानकर उसका प्रयत्न कर!

हे जीव! तिर्यञ्चगति में तूने अनन्त बार दु:ख सहन किये। पृथ्वीकाय में जन्म लेकर कोदाली आदि से खोदा गया; अपकायरूप से जन्म धारण किया तो अग्नि में भुनता रहा। जिसके वाणी नहीं, जिह्वा नहीं, नाक नहीं, आँख नहीं, कान नहीं... अरे, स्वतन्त्र शरीर भी जिसके नहीं है; अनन्त जीवों के बीच एक ही शरीर है – आलू, शकरकन्द आदि के एक छोटे से कण में असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में अनन्त जीव हैं; वह जन्म लेकर अनन्त बार अग्नि में भूना गया! इस प्रकार चिदानन्दतत्त्व को साथ रखकर चार गतियों में भटका, किन्तु उस तत्त्व को पहिचाना नहीं। एकेन्द्रियादि में तो नरक की अपेक्षा अनन्त गुना दु:ख है।

भाई! तेरे ये सब दु:ख तूने सहे हैं और भगवान ने उन्हें देखा है... अब उन दु:खों से छूटने का अवसर आया है; इसलिए अब तू जागृत हो! सम्यग्दर्शनादि भावों को पहिचानकर उन्हें प्रयत्न द्वारा प्रगट कर! सम्यग्दर्शनरूपी जिनभावना सर्व दु:खों से छूटने का परम उपाय है। जहाँ सुखसागर आत्मा की ओर वृत्ति नहीं है, वहाँ दु:ख ही है; भले ही संयोग अनुकूल हों या प्रतिकूल हों।

पुनश्च, मुनि होकर तपश्चरणादि करने पर भी चार प्रकार की विकथा से निम्न कोटि का कुदेव होता है। विकथा तो पाप है किन्तु व्रत-तप के कुछ शुभभाव साथ होने से कुदेव हुआ। चैतन्य की वीतरागीकथा का तो रस नहीं है और स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा या भोजनकथा में रसपूर्वक वर्तता है। वह जीव भले ही मुनि होकर व्रतादि का पालन करे, तथापि निम्न देव होकर दुःख को ही प्राप्त होता है। अरे जीव! चैतन्य की महत्ता को भूलकर तू आहारादि की तुच्छ कथा में कहाँ पड़ा है?

मुनि होकर भी चैतन्य को भूलकर, देहबुद्धि से जातिमद, कुलमद, रूपमद, ज्ञानमद- ऐसे अनेक प्रकार के अभिमान में वर्ते और ऐसे अभिमानसहित तपश्चरणादि करे तो निम्न जाति के देवों में जन्म लेता है और वहाँ भी ईर्ष्या से आकुल-व्याकुल होकर दुःखी ही होता है।

धर्मात्मा जीव, स्त्रीवेद का छेदन करके बड़ा देव या इन्द्र होता है और अज्ञानी बड़ा त्यागी होकर भी निम्न कोटि का देव होता है, वहाँ ईर्ष्या से जलता है। देव की आयु पूर्ण होने पर माता के गर्भ में बहुत काल तक रहकर महा दुःख प्राप्त करता है। हे जीव! उन दुःखों से छूटने के लिये तू सम्यग्दर्शनादि भावों को पहिचान कर... उसकी भावना कर... शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप ऐसा जो तेरा आत्मा, उसके सन्मुख होकर जिनभावना भा! निजभावना ही जिनभावना है क्योंकि **'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई।'** जैसा शुद्ध जिनपद है, वैसा ही शुद्ध निजपद है; उसकी भावना से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव प्रगट होता है और उसी से भव-भव के दुःखों का अन्त आकर परम सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए आचार्य भगवान पुनः पुनः उपदेश देते हैं कि हे जीव! तू जिनभावना भा! स्वसन्मुख होकर शुद्धात्मा की भावना भा!

अरे जीव! संसार में नये-नये जन्म धारण कर-करके, नयी-नयी माताओं का तूने इतना दूध पिया है कि जो समुद्र के पानी से भी अधिक है / हो गया! शूकर के जन्म में शूकरी का दूध पिया; सिंह के जन्म में सिंहनी का दूध पिया; हाथी के जन्म में हथिनी का दूध पिया; गधे के जन्म में गधी का दूध पिया और मनुष्य जन्म में अपनी माता का दूध पिया... इस प्रकार अनन्त अवतारों में अनन्त समुद्र भर जाएँ इतना दूध तूने पिया है। एकमात्र जिनभावना के बिना जीव ने यह अवतार धारण किये हैं।

जन्म लेकर जननी का दूध पिया और मरकर उसे रुलाया। मर-मरकर माताओं को इतना रुलाया कि जिनके आँसुओं से अनन्त समुद्र भर जाएँ। अरे, आत्मा की भावना के बिना तूने ऐसे अनन्त जन्म-मरण किये हैं। बचपन में बालक का विरह होने पर माता रुदन करती है। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न को बचपन में कोई विद्याधर उठा ले गया था, उसके विरह में उसकी माता रुक्मिणी ने बहुत रुदन किया.... प्रद्युम्न तो मोक्षगामी जीव था किन्तु अज्ञानदशा में जीव ने अनन्त बार माताओं को इतना रुलाया है कि जिनके आँसुओं से समुद्र भर जाएँ और स्वयं भी अनन्त बार ऐसे दुःख सहन किये हैं।

और हे जीव! इस संसार में अज्ञान से परिभ्रमण करते हुए तूने इतने शरीर धारण किये हैं कि जिनके नख, केशों का ढेर अनन्त मेरु पर्वतों जितना हो। अज्ञानपूर्वक ऐसे अवतार धारण किये; इसलिए अब जिनभावना भा! भाई! यह तेरे हित का अवसर आया है।

अपने चैतन्य को भूलकर तूने जल में और थल में; पर्वत में और अग्नि में; वनस्पति में और वायु में – इस प्रकार सर्वत्र अनन्त बार वास किया है... जन्म-मरण किये हैं। अरे जीव! ऐसे-ऐसे अनन्त अवतारों में से पार होने पर भी तू तो ज्यों का त्यों ही है; अपनी नित्यता के सन्मुख दृष्टि तो कर! नित्यता को देखने पर, अनित्य शरीर के प्रति अहंभाव छूट जाएगा।

और हे जीव! इस जगत् के भव-भव में भटकते हुए तूने सर्व ग्राह्य पुद्गलों का पुनः पुनः अनन्त बार ग्रहण किया है। अनन्त काल में एकेन्द्रिय से बाहर निकलकर त्रसकाय धारण की और विकलेन्द्रिय हुआ अर्थात् लट, कीड़ी-मकोड़ा आदि में अवतार लिया। वहाँ भी छेदन-भेदन सहन किया। कभी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हुआ तो वहाँ भी तीव्र वेदना, भूख, तृषा आदि के दुःख सहन किये। अनादि काल से तूने दुःख ही दुःख उठाये हैं; सुख का एक कण भी प्राप्त नहीं कर सका है। अब, उन दुःखों से छूटने तथा आत्मसुख प्राप्त करने के लिये तू जिनभावना भा! आत्मोन्मुख होने से ही सम्यग्दर्शन होता है और तभी दुःखों से छुटकारा मिलता है – ऐसी बात भी कभी प्रीतिपूर्वक नहीं सुनी। भाई! जिसमें दुःख की गन्ध भी नहीं है – ऐसे आत्मस्वभाव की रुचि कर, प्रीति कर, पहिचान कर; जिससे दुःखों का अन्त हो!

हे जीव! तूने भव का नाश करनेवाली भावना पहले कभी नहीं भायी; इसलिए चार गति के भवों में अनन्त काल से भटक रहा है। अनन्त काल में कभी मनुष्य हुआ, तब भी

आकस्मिक, शारीरिक, मानसिक एवं विषयवाञ्छा आदि के तीव्र दुःख निरन्तर भोग रहा है। चैतन्यस्वभाव, शान्ति एवं परमात्मपद से परिपूर्ण है; उस ओर उन्मुख होकर जिनभावना भाने से ही दुःखों का नाश होता है। चैतन्य को चूककर अनेक प्रकार के विषयों की आकाँक्षा करता है किन्तु इष्ट विषय तो प्राप्त होते नहीं हैं; इसलिए आकुलता के कारण दुःखी होता है। भाई! अन्तरोन्मुखता में ही सुख है। देखो, जगत् में राजा भी सुखी नहीं है; सुखी तो सन्त -धर्मात्मा-मुनिवर हैं। जिन्होंने जिनभावना से सम्यग्दर्शनादि प्रगट किये हैं, वे ही इस जगत् में सच्चे सुखी हैं। इसलिए हे भाई! अब तो तू जिनभावना भा, कि जिससे तेरे भव दुःख का अन्त आ जाए।

कभी सुरलोक में देव हुआ, तब भी इस जीव ने अनेक प्रकार के मानसिक दुःख उठाये हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! स्वर्ग में भी चैतन्य की भावना के बिना, मात्र दुःख ही है। छोटा देव हो तो अन्य महान ऋद्धिधारी देवों को देखकर अन्तर में ईर्ष्या-द्वेष के कारण जलता है; अप्सरा आदि का वियोग होने पर दुःखी होता है। शुद्धभाव-सम्यग्दर्शनादि प्रगट किये बिना, द्रव्यलिङ्गी साधुपने का पालन करे और स्वर्ग में जाए तो वहाँ भी यही स्थिति है... विषयों का लोलुपी होकर दुःख में झूलता है... **वस्तुतः चैतन्य में झूलनेवाले सन्त ही सुखी हैं।**

हे जीव! द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर भी जो कंदर्पि आदि अशुभभावनाएँ भाता है और सम्यक्त्वादि की भावना नहीं भाता, उसे भावों की पहिचान ही नहीं है... अतः धर्मभावना के बिना वह संसार में ही परिभ्रमण करेगा। जो द्रव्यलिङ्गी होकर भी ईर्ष्या आदि अशुभभावनाएँ करते हैं, वे ढोल (बाजे) बजानेवाले हलके देव अर्थात् व्यन्तर-भूत आदि होकर संसार में भटकते हैं।

जो जीव, मुनिवेष धारण करके भी चैतन्य की दरकार नहीं करता, धर्मभावना नहीं भाता और मकान बनाकर रहता है, मठ की स्थापना करता है, उसे **पार्श्वस्थ** कहते हैं.... वह कुसाधु है। जो जीव, साधु नाम धारण करके, तीव्र कषाय के आधीन होकर व्रतादि से भ्रष्ट होता है, संघ में दूसरे मुनियों तथा धर्मात्माओं का अनादर करता है, वह **कुशील** है। साधु नाम धारण करके जो ज्योतिष-वैदिक, मन्त्रविद्या आदि साधन से आजीविका करता है, राजा का सेवक

बनकर राजनीति में उतरता है, उसे **संसक्त** कहते हैं। जिनसूत्र से विरुद्ध वर्तन करे, चारित्र से भ्रष्ट होकर वर्ते – ऐसे आलसी भ्रष्ट साधु को **अवसन्न** कहते हैं और गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करके, स्वच्छन्दतापूर्वक अकेला विचरे, जिनआज्ञा का लोप करे – ऐसे वेषधारी साधु को **मृगाचारी** कहा जाता है – ऐसे पाँच प्रकार के कुसाधु, सम्यग्दर्शनादिरूप जिनभावना से भ्रष्ट होकर, अशुभभावनाएँ भाते हैं, वे दु:ख को ही प्राप्त होते हैं।

देखो, साधुवेष धारण किया; इसलिए कहीं जिनभावना के बिना सुख हो जाएगा – ऐसा नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त बार ऐसे वेष धारण किये, किन्तु भव का अन्त नहीं आया। सम्यग्दर्शनादि की आराधना के बिना देव हुआ, तब भी महाऋद्धिवान् देवों को देखकर मन में महादु:खी हुआ। अरे! चैतन्यऋद्धि का माहात्म्य नहीं जाना और स्वर्गादि के वैभव में मूर्च्छित होकर अत्यन्त मानसिक दु:ख प्राप्त किया। यह तो बाहर के व्यक्त दु:खों का वर्णन है किन्तु अन्तर में आकुलता के कारण, मात्र विकार का ही वेदन करता हुआ अज्ञानी जीव भी दु:खी ही है। मानों सर्व पुद्गलों को तूने अपने उदर में उतारा – पुन: पुन: अनन्त बार उनका उपभोग किया, तथापि तृप्ति न हुई... और तृषा से पीड़ित होकर तूने तीन लोक के सर्व जल का पान किया, तथापि तेरी तृषा शान्त नहीं हुई! इसलिए अब तू संसार का मन्थन करने के लिये निश्चयरत्नत्रय का चिन्तवन कर! निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्र के सेवन से तेरी अनन्त कालीन क्षुधा शान्त होगी; चैतन्यजल से अनन्त कालीन तृषा बुझ जाएगी।

तेरे दु:ख देखकर आचार्यदेव दयापूर्वक बारम्बार उपदेश देते हैं कि हे भाई! ऐसे दु:खों से छूटने के लिए तू मुक्ति का उपाय कर... अर्थात्, निश्चयरत्नत्रय का सेवन कर... चैतन्योन्मुख होकर जिनभावना भा!

इस जगत् में एकत्व चिदानन्दस्वभाव की भावना सर्वत्र सुन्दर है। उस एकत्वस्वभाव को भूलकर, मिथ्याभावना से भवबन्धन में पड़े हुए जीव ने दु:ख से इतने आँसू गिराये हैं कि उनसे अनन्त समुद्र भर जाएँ! उसका दु:ख देखकर दूसरों के जो आँसू गिरे, उनसे भी अनन्त सागर भर जाएँ! इसीलिए अरे जीव! अब ऐसे भव-भव के दु:खों से छूटने के लिए तू अपने एकत्वस्वभाव की भावना भा! तूने जगत् के आहार तो अनन्त बार किये, किन्तु

अनाहारी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद कभी नहीं चखा। जगत् का जल तूने अनन्त बार पिया, किन्तु चैतन्य के शान्त-रस का पान कभी नहीं किया। हे भाई! अब तो अपने चैतन्य का स्वाद ले! -

'कहे विचक्षण पुरुष सदा मैं एक हूँ,
अपने रस में भर्यो अनादि टेक हूँ;
मोह करम मम नाहीं, नाहीं भ्रम कूप है,
शुद्ध चेतनासिन्धु हमारो रूप है।'

विचक्षण अर्थात् भेदज्ञानी होकर अपने शुद्ध चेतनासमुद्र में डुबकी लगा और चैतन्य के निजरस का स्वाद अनुभव में ले! तूने अपने अनुभव के रस को नहीं चखा और आकुलता के ही रस का उपभोग किया; इसलिए अब तो अन्तर्मुख होकर, शुद्धात्मा की भावनारूप जिनभावना भा! - जिससे अनन्त कालीन दुःखों का अन्त आये और चैतन्य के परमानन्द की प्राप्ति हो! - ऐसा भगवान आचार्यदेव का उपदेश है। ●

अहा! मुनियों ने जङ्गल में बैठकर क्या किया?

अहा! मुनियों ने जङ्गल में बैठे-बैठे अन्तर में गहरे उतरकर आत्मा को तो साधा ही है और जगत के जीवों के लिए भी उसका स्वरूप परिस्पष्ट कर दिया है। स्वसंवेदन में जिन्होंने सिद्धों से भेंट की और अल्पकाल में जो स्वयं सिद्ध हो जाएँगे - ऐसे साधक सन्तों का यह कथन है। इसे पहिचानते ही साधकपना प्रगट होता है और सिद्धों से भेंट होती है। *(- आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-21, अङ्क-241, पृष्ठ-3)*

वीतरागी सन्तों का उपदेश

मनरूप हाथी को ज्ञानरूप अंकुश से वश में कर

(श्रीभावपाहुड़, गाथा 80 से 82 तक के प्रवचनों से)

सम्यक्त्वी जीव, मुनि होने से पूर्व भी शुद्ध आत्मा की भावना भाता है कि अहो! मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ; अपने आत्मा के आनन्द में मैं कब लीन होऊँ ? आत्मा में लीन होकर मैं कब रत्नत्रय प्रगट करूँ ? अहो! धन्य है उस दशा को और उस भाव को कि जब आत्मा में लीन होकर मुनिदशा होगी।

अहो! मुनिवर, आत्मा के आनन्द में झूलते हैं... बारम्बार अन्तर में निर्विकल्प अनुभव करते हैं.... बाह्यदृष्टि जीवों को उस मुनिदशा की कल्पना आना भी कठिन है.... मुनियों के अन्तर में आत्मानन्द का सागर उछल रहा है.... उपशमरस की बाढ़ आयी है।

जैनधर्म की श्रेष्ठता इस प्रकार है कि वह भावी भव का नाश करता है, संसार का अन्त करके मुक्ति देता है; इसलिए जैनधर्म की महिमा है। इसके अतिरिक्त अन्य रीति से / पुण्यादि से जैनधर्म की महिमा माननेवाले ने जैनशासन को जाना ही नहीं....।

अहा! जैनधर्म क्या वस्तु है ? यह बात लोगों ने यथार्थरूप से सुनी भी नहीं है। एक क्षण भी जैनधर्म प्रगट करे तो अनन्त भव का 'कट' हो जाए और आत्मा में मोक्ष की छाप लग जाए / मुक्ति की निःशङ्कता हो जाए - ऐसा जैनधर्म है; इसलिए हे भव्य! भव का नाश करने के लिए तू ऐसे जैनधर्म की भावना कर!

भावविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र; वह तो शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के ही अवलम्बन से है। उस विशुद्धता के निमित्त से तू बारह प्रकार के तप तथा तेरह प्रकार की क्रियाओं की भावना कर; अर्थात्, उन सब में शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की ही मुख्यता रख और ज्ञानरूपी अङ्कुश द्वारा मदोन्मत मनरूपी हाथी को वश में कर। जो मन, बाह्य विषयों में भटकता है, उसे ज्ञान के एकाग्रतारूपी अङ्कुश द्वारा अन्तरोन्मुख कर।

हे उत्तम मुनि! तेरा मनरूपी हाथी, मोह से मदोन्मत्त होकर बाह्य में विषय–कषायों का चारा चरने न जाए, किन्तु अन्तर में आनन्द का चारा चरे, उसके लिए तू ज्ञानरूपी अङ्कुश द्वारा उसे वश कर अर्थात् अपने ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके शुद्ध आत्मा में एकाग्र कर। तपश्चरणादिक का उपदेश भी अन्तर में एकाग्रतारूप भावशुद्धि के लिए ही है।

मुनियों ने, मुनिदशा होने से पूर्व परद्रव्यों से भिन्न शुद्ध आत्मा के स्वरूप को श्रद्धा–ज्ञान में लेकर बारम्बार उसकी भावना भायी थी; पूर्व काल में भायी हुई शुद्ध आत्मा की भावना से अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्ध निर्मलदशा हुई है, वह तो मुनि का भावलिङ्ग है तथा ऐसी भावशुद्धिपूर्वक वस्त्रादिरहित दिगम्बरदशा, भूमिशयन, पञ्च महाव्रतादि होते हैं, वह द्रव्यलिङ्ग है। इस प्रकार द्रव्य और भाव से निर्दोष जिनलिङ्ग हो, वही मुनिदशा है।

शुद्ध आत्मा की ऐसी दृष्टि होने पर भी जब तक वस्त्रादि परिग्रह का रागभाव हो, तब तक मुनिदशा नहीं होती; वहाँ पञ्चम गुणस्थान का श्रावकपना हो सकता है किन्तु छट्ठे–सातवें गुणस्थानरूप मुनिपना तो कदापि नहीं हो सकता।

मुनिवरों को अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धभाव है, वह भावलिङ्ग है और शरीर की निर्ग्रन्थदशा आदि होती है, वह द्रव्यलिङ्ग है। ऐसा भाव तथा द्रव्यरूप जिनलिङ्ग जैनशासन में कहा है। जहाँ वस्त्रादि का सर्वथा त्याग नहीं है तथा अन्तर में शुद्ध रत्नत्रय का भाव नहीं है, वहाँ जिनशासन का मुनिपना नहीं होता। जिनशासन से विपरीत मुनिदशा बतलानेवाला मिथ्यादृष्टि है।

मोक्ष का साधन जो शुद्धरत्नत्रय है, उसे धारण करनेवाले मुनिवर मुख्यत: तो वन जङ्गल में, गिरी–गुफाओं में रहते है; दिन में एक ही बार विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेते हैं; भूमिशयन

करते हैं, तथा द्रव्य और भाव से संयम का पालन करने हैं। अन्तर में भावसंयम का पालन करते हो और बाह्य में द्रव्यसंयम न हो; अर्थात्, गृहवास में रहते हों और मुनिपना हो जाए – ऐसा कभी नहीं होता।

जिनशासन में मुनि कैसे हैं ? कि उन्होंने पूर्व काल में जो शुद्धभाव की भावना भायी है, उसका बारम्बार अनुभव करते हैं। पहले से ही शुद्ध आत्मा के भानसहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान – चारित्ररूप शुद्धभाव की भावना भायी है; राग की भावना नहीं, किन्तु शुद्धता की ही भावना भायी है। मैं परद्रव्यों और परभावों से भी भिन्न शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ — ऐसी आत्मभावना पहले से ही अर्थात् गृहस्थदशा से ही भायी है। वह पूर्व भावित भावना भाकर मुनिदशा में बारम्बार शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं। देखो ! यह मुनि की दशा !! मुनिदशा कहो या जिनलिङ्ग कहो या मोक्षमार्ग कहो, उसकी ऐसी दशा है। जिसमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान – चारित्ररूप शुद्धभाव है — ऐसा जैनधर्म का चिह्न है।

आत्मा, जड़ पदार्थों और कर्मों से पृथक् ज्ञानानन्दस्वरूप है। सम्यक्त्वी जीव, उसकी बारम्बार भावना भाता है और मुनि होने के पश्चात् उसका बारम्बार अनुभव करता है। प्रथम तो जिसे शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान ही न हो, वह उसका बारम्बार अनुभव कैसे करेगा ? और शुद्ध आत्मा के बारम्बार अनुभव के बिना मुनिदशा नहीं होती। मुनि होने से पूर्व भी उस शुद्ध आत्मा की भावना भायी है कि अहो ! मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, मैं ऐसे आत्मा के आनन्द में कब लीन होऊँ ? आत्मा में लीन होकर कब रत्नत्रय प्रगट करूँ ? अहो ! धन्य है उस दशा को और उस भाव को कि जब आत्मा के आनन्द में लीन होकर मुनिदशा होगी ! ऐसी भावनाएँ आत्मज्ञानसहित मुनि होने से पूर्व भायी हैं। अब, मुनिदशा में उन भावनाओं को भाकर, बारम्बार आनन्द के अनुभव में लीन होते हैं। अन्तर में लीनता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणति हो गयी है।

मुनिराज को शुभराग की भावना नहीं है, अपितु शुद्ध चैतन्य की ही भावना है.... और उस भावना के बल से अन्तर में लीन होकर चैतन्य के कपाट खोल दिये हैं.... चैतन्य के कपाट खोलकर भीतर से ज्ञान और आनन्द को बाहर निकाला है। अन्तर में ऐसे शुद्धभावसहित मुनिदशा होती है और ऐसा शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है। अन्तर में ऐसे शुद्धभाव के बिना,

मात्र महाव्रतादि का पालन करे अर्थात् द्रव्यलिङ्ग धारण करे तो वह मात्र पुण्य के आस्रव का कारण है किन्तु उससे धर्म नहीं है। इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि पूर्व काल में जो शुद्ध आत्मा जाना था और उसकी भावना भायी थी, उसी को बारम्बार भाकर तथा अनुभव करके जिन्होंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव प्रगट किया है, उन्हीं के मुनिदशा होती है।

प्रथम, ऐसी श्रद्धा और पहिचान करना चाहिए कि शुद्ध आत्मा के अन्तरअवलोकन से होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है और शुभभाव, मोक्ष का कारण नहीं है। ऐसी सम्यक्श्रद्धा और पहिचान करनेवाला भी सत्यमार्ग में है किन्तु श्रद्धा ही विपरीत रखे, शुद्धभाव को न पहिचाने तथा राग को धर्म माने तो वह विपरीत मार्ग पर है। भव का अन्त, शुद्ध सम्यग्दर्शनादि भाव द्वारा ही होता है और उसी से जैनशासन की श्रेष्ठता है।

जिस प्रकार रत्नों में श्रेष्ठ वज्ररत्न है, वृक्षों में श्रेष्ठ गोशीर-चन्दन है; उसी प्रकार धर्मों में एक जैनधर्म ही श्रेष्ठ है। कैसा है जैनधर्म ? कि 'भावि भवमथनं'; अर्थात्, आगामी भवभ्रमण का मन्थन कर देनेवाला है; भवभ्रमण का नाश करके मोक्ष देनेवाला है। इसलिए हे जीव! भव का नाश करने के लिए तू ऐसे जैनधर्म की भावना कर।

अहो! 'भावि भवमथनं' विशेषण लगाकर तो आचार्यदेव ने जैनधर्म की अचिन्त्य महिमा प्रगट की है। जिस भाव से भवभ्रमण का नाश हो, वही जैनधर्म है; जिससे भवभ्रमण का नाश न हो, वह जैनधर्म नहीं है।

देखो! यह जैनधर्म की श्रेष्ठता!!

कर्मों के अनेक पक्षों का ज्ञान कराया; इसलिए क्या जैनधर्म की श्रेष्ठता है ? तो कहते हैं कि नहीं। एकेन्द्रियादि जीवों का सूक्ष्म-सूक्ष्म ज्ञान कराया; इसलिए क्या जैनधर्म की श्रेष्ठता है ? तो कहते हैं कि नहीं। तो फिर किस प्रकार जैनधर्म की श्रेष्ठता है ? जैनधर्म की श्रेष्ठता इस प्रकार है कि वह भावि भव का नाश करता है; अर्थात्, संसार का नाश करके मुक्ति देता है और इसी से जैनशासन की महिमा है। इसके अलावा अन्य प्रकार से; अर्थात्, पुण्यादि से ही जैनशासन की महिमा माननेवाले ने तो वास्तव में जैनशासन को जाना ही नहीं है।

जैनधर्म, राग का रक्षक नहीं है किन्तु उसका नाश करके वीतरागता का उत्पादक है; अर्थात्, भव का नाश करके मोक्ष का देनेवाला है। अनादि कालीन मिथ्यात्वादि का नाश करके, सम्यक्त्वादि अपूर्व भाव प्रगट हों, उसका नाम जैनधर्म है। भव का मन्थन कर दे, नाश कर दे, वही जैनधर्म है। अभी जो अनन्त भव की शङ्का में पड़ा हो, अरे! भव्य-अभव्य की शङ्का में भी पड़ा हो – ऐसे जीव को तो जैनधर्म की गन्ध भी नहीं आयी है।

अहा! जैनधर्म क्या वस्तु है? – उसकी बात भी लोगों ने यथार्थरूप से नहीं सुनी है! एक क्षण भी जैनधर्म प्रगट करे तो अनन्त भव का 'कट' हो जाए और आत्मा में मोक्ष की छाप उतर आये अर्थात् मुक्ति की निःशङ्कता हो जाए – ऐसा जैनधर्म है। यही जैनधर्म की श्रेष्ठता है; इसलिए हे भव्य! भव का नाश करने के लिए तू ऐसे जैनधर्म की भावना भा!

देखो, जो भव का नाश करे, वह जैनधर्म है।

– तो भव का नाश किस प्रकार होता है? क्या दया-दानादि के शुभराग से भव का नाश हो सकता है? नहीं; इसलिए शुभराग, वह जैनधर्म नहीं है।

शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के स्वभाव का आश्रय करने पर ही सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों द्वारा भव का नाश होता है; इसलिए शुद्ध आत्मा का आश्रय ही जैनशासन है; पुण्य है, वह जैनशासन नहीं है तथा उस पुण्य द्वारा जैनधर्म की महिमा नहीं है। शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का आश्रय कराके मिथ्यात्व और रागादि का नाश कराता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा भव का नाश कराके मोक्षपद प्रदान करता है, वह जैनधर्म की महिमा है।

जैसे, चन्दन की महिमा क्या? यही कि ताप हरकर, शीतलता प्रदान करे; उसी प्रकार जैनधर्म की महिमा क्या? यही कि भव के ताप का नाश करके, मोक्ष की परम शीतलता प्रदान करे, वह जैनधर्म की महिमा है। राग में तो आकुलता है, वह जैनधर्म नहीं है।

प्रश्न – सम्यक्त्वी धर्मात्मा को भी राग तो होता है न?

उत्तर – सम्यक्त्वी को भी जो राग है, वह कहीं जैनधर्म नहीं है; उसे राग से पार चिदानन्दतत्त्व की दृष्टि में जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, वही जैनधर्म है। मोक्षमार्ग की पूर्णता

न हुई हो, वहाँ साधक धर्मात्मा को शुद्धता के साथ राग भी होता है किन्तु वहाँ धर्म तो जितनी शुद्धता हुई, वही है; जो राग शेष रहा, उसे धर्मात्मा धर्म नहीं मानते और जो राग को धर्म मानता है, उसे तो धर्म का अंश भी नहीं होता।

राग रहे, पुण्यबन्ध हो और स्वर्गादि का भव मिले, वह जैनधर्म नहीं है तथा उससे जैनधर्म की महत्ता नहीं है किन्तु जिससे चारों गति के भव का नाश होकर सिद्धपद प्रगट हो, वह जैनधर्म है और उसी से जैनधर्म की महत्ता है।

यह 'भावप्राभृत' है। इसमें आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि आत्मा का कौनसा भाव धर्म है? अथवा आत्मा के किस भाव से जैनधर्म की महिमा है? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी शुद्धभाव, वह धर्म है; उसके द्वारा भव का नाश हो जाता है तथा उसी से जिनशासन की महिमा है।

धर्मी जानते हैं कि मेरा चिदानन्दस्वभाव, भवरहित है; भव के कारणरूप विकार, मेरे मूलस्वभाव में है ही नहीं; भवरहित ऐसा जो मेरा चिदानन्दस्वभाव है, उसमें एकता करके शुद्धभाव प्रगट करने पर भव का अभाव हो जाता है, वही मेरा धर्म अर्थात् जैनधर्म है और उसी से जैनधर्म की महिमा है। भूमिकानुसार राग होता अवश्य है किन्तु उससे जैनधर्म की महिमा नहीं है। जैनधर्म तो वीतरागभावरूप है और राग, वीतरागभाव का साधक नहीं, किन्तु बाधक है; इसलिए वह धर्म नहीं है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को साधक और बाधक, दोनों भाव एकसाथ होते हैं किन्तु उनमें साधकभाव ही धर्म है; बाधकभाव धर्म नहीं है और राग, बाधकभाव ही है; अतः वह धर्म नहीं है।

धर्मात्मा / सम्यक्त्वी को भी शुभराग होता है; इसलिए वह धर्म है - यदि ऐसा कहते हो, तब तो सम्यक्त्वी को कभी-कभी अशुभराग भी होता है तो क्या वह भी धर्म है? नहीं। जिस प्रकार सम्यक्त्वी को अशुभराग होने पर भी वह धर्म नहीं है; उसी प्रकार शुभराग भी धर्म नहीं है; धर्म तो वीतरागभावरूप एक ही प्रकार का है। ऐसे धर्म को पहिचानकर उसकी भावना/आराधना करना, वह मोक्ष का कारण है। ●

मुनिधर्म का सच्चा स्वरूप

(दीक्षाकल्याणक के अवसर पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा रचित अपूर्व-अवसर काव्य पर हुए प्रवचनों से)

वैराग्य और दीक्षा

एक बार राजा ऋषभदेव के राजदरबार में देवियाँ भक्तिपूर्वक नृत्य कर रहीं थीं। उनमें से एक देवी की आयु पूरी हो गयी, तब संसार की ऐसी क्षणभङ्गुरता देखकर राजा के अन्तर में एकदम वैराग्य जागृत हो गया और वे अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे।

अहो! आत्मा नित्य वस्तु है और यह शरीर तो संयोगी चीज है। माता की गोद में आने से पहले ही, इस शरीर को अनित्यता अपनी गोद में ले लेती है अर्थात् जन्म के पहले से ही वह अनित्य रहता है। क्षण-क्षण में होनेवाले विकारी परिणाम भी अनित्य हैं। वे प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर, दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाते हैं।

मेरा चिदानन्दस्वरूप आत्मा ध्रुव है, शाश्वत है और ऐसा का ऐसा अर्थात् अपने चैतन्यस्वरूप में टिका रहनेवाला है। ऐसा ध्रुव आत्मा ही मुझे शरण है; इसके सिवाय अन्य कोई भी मुझे शरणरूप नहीं है। अपने ध्रुवस्वभाव के अलावा इस आत्मा को अन्य कोई तीर्थङ्कर, गणधर, मुनि, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती भी शरणभूत नहीं हैं।

यह जीव अपने ध्रुवस्वभाव को भूलकर, मिथ्यात्व के कारण अनन्त संसार में भ्रमण कर रहा है। इस जीव ने संसार में रखड़ते हुए अनन्त बार पूर्व भव की स्त्री को माता के रूप

में पाया है और पूर्व भव की माता का स्त्री के रूप में सेवन किया है। यह जीव, पुण्य करके स्वर्ग में और पाप करके नरक में रखड़ता है — ऐसे संसार को धिक्कार है।

संसार कोई अन्य वस्तु नहीं है परन्तु आत्मा का विकार ही है। आत्मा सदा पवित्रता की मूर्ति है; विकार और शरीर अशुचिमय है। मेरा स्वभाव, त्रिकाल एकरूप है अर्थात् मुझे मेरे स्वभाव से ही एकत्व है।

मैं एक ज्ञायकस्वभाव हूँ; शरीर और रागादि मेरा स्वरूप नहीं है, उनसे मेरा अन्यत्व है। पुण्य-पाप आस्रव हैं, वे मेरा स्वरूप नहीं हैं। स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता होने पर संवर-निर्जरा प्रकट होती है। इस संसार में जीव को रत्नत्रयरूप बोधि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। आत्मा को अनन्त काल में सब कुछ मिल चुका है परन्तु एक रत्नत्रय धर्म ही नहीं मिला है..... इत्यादि प्रकार से राजा ऋषभदेव वैराग्यमयी बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे, फिर लौकान्तिक देव आकर, प्रभु की स्तुति करके, उनके वैराग्य की अनुमोदना करते हैं। पश्चात् दीक्षाकल्याणक मनाने के लिए देव आते हैं। भगवान, दीक्षा लेकर चारित्रदशा अङ्गीकार करते हैं। ये सभी दृश्य यहाँ अभी दिखाये जा चुके हैं।

दीक्षा लेने के पूर्व ही भेदविज्ञान

शरीर, मन और वाणी का एक रजकण भी मेरा नहीं है तथा जो क्षणिक शुभाशुभभाव होते हैं, वे भी मेरी पुरुषार्थहीनता से होते हैं; परपदार्थों के कारण नहीं होते। वह विकार मेरा स्वरूप नहीं है, वह मेरे स्वभाव में से आता नहीं है। मैं तो अखण्ड ज्ञान और आनन्द का सागर हूँ - ऐसे भानसहित भगवान का आत्मा, स्वर्ग या नरक में से आता है। श्री ऋषभदेव भगवान पूर्व भव में सर्वार्थसिद्धि में देव थे, वहाँ से माता की कोख में तीन ज्ञानसहित आये थे।

जिस प्रकार नारियल में ऊपर के बाल, नरेटी और भीतर के लाल छिलके से खोपरे का गोला भिन्न है; उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्य गोला है। वह इस स्थूल औदारिक शरीररूपी बाल, कार्मण शरीररूपी नरेटी और अन्दर राग-द्वेषरूपी लाल छिलके से भिन्न, चैतन्यबिम्ब सहजानन्द स्वरूप शान्तरस की मूर्ति है। जैसे, खोपरे के मीठे और सफेद गोले पर जो लाल छिलका है, वह वास्तव में उसकी नरेटी तरफ का भाग है; वैसे चैतन्य और आनन्द के

गोलेरूपी आत्मा में जो विकार की ललामी है, वह परपदार्थों के आश्रय से उत्पन्न हुई है; वह चैतन्य जाति की नहीं है – ऐसा भेदज्ञान भगवान को मुनि होने के पहले भी था और इसी के प्रताप से ही वे तीर्थङ्कर हुए हैं।

माता के गर्भ में भगवान के आने के छह माह पूर्व से ही प्रतिदिन रत्नवर्षा होती थी और देवता, माता की सेवा करने आते थे परन्तु उनका आत्मा तो इन सबसे उदास रहता था। वह शरीर को भी अपना नहीं मानता था। माता के पेट में रहने पर भी 'मैं माता के पेट में हूँ, यह मेरी माता है, ये मेरे पिता हैं, इन्द्र मेरी सेवा करते हैं' – ऐसे विकल्पों के प्रति भी उनकी रुचि नहीं थी। '**सिद्धसमान सदा पद मेरो**' – ऐसे आत्मभानसहित उनका गर्भ और जन्म हुआ था।

वैराग्य का स्वरूप

श्रीसमयसार परमागम में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान ने वैराग्य का अर्थ ऐसा किया है — पुण्य-पाप से रुचि हटाकर, आत्मस्वभाव की रुचि करना, **वैराग्य** है। चैतन्यमूर्ति आत्मा की ओर झुकने पर पुण्य-पाप के प्रति विरक्ति हो जाती है। अस्ति से कहो तो स्वभाव की रुचि होना और नास्ति से कहो तो पुण्य-पाप की रुचि टलना, वैराग्य है। अखण्ड आनन्द स्वभाव की रुचि होने पर पुण्य अच्छा और पाप बुरा — ऐसी विपरीत मान्यता टल जाती है और पुण्य-पाप में मध्यस्थता हो जाती है — यही वैराग्य है। जिसे वैराग्य होता है, उसे पाप का तिरस्कार और पुण्य का आदर नहीं होता; वह पुण्य और पाप दोनों से विरक्त रहता है।

शुभकर्म से आत्मा को लाभ होता है — ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह जीव, कर्म में ही रत है; उसे सच्चा वैराग्य होता ही नहीं और वह कर्म को बाँधता है। धर्मी जीव, शुभाशुभ कर्मों से भिन्न आत्मस्वभाव को जानता है; अत: वह इन दोनों कर्मों से विरक्त रहता है, इसलिए वह मुक्ति को प्राप्त करता है। पुण्य और पाप दोनों मेरे स्वरूप नहीं हैं – ऐसा भान होने से दोनों के प्रति मध्यस्थता होने पर, अपने स्वभाव के आश्रय से होनेवाली निर्मल पर्याय को भगवान, वैराग्य कहते हैं।

भगवान की दीक्षाभावना और मुनिदशा का स्वरूप

यहाँ चन्द्रप्रभ भगवान के पञ्च कल्याणक महोत्सव हो रहे हैं। भगवान बहुत समय

तक तो तीन ज्ञानसहित गृहस्थाश्रम में ही रहे और निम्नानुसार मुनिदशा की भावना भाते रहे —

अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा।
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब,
सर्व सम्बन्ध का बन्धन तीक्षण छेदकर।
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पन्थ पर,
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥ 1॥

अन्तर में अपूर्व आत्मभान और तीन ज्ञानसहित भगवान, परम निर्ग्रन्थ वीतरागीदशा धारण करने की भावना करते हैं। अहो! अपने स्वरूप का ध्यान करके केवलज्ञान प्रकट करूँ — ऐसी भावना भाते हैं। आत्मा का भान होने पर भी जब तक राग-द्वेष और परिग्रह होता है, तब तक श्रावकदशा होती है परन्तु मुनिदशा नहीं होती। मुनिदशा तो अन्तर में विशेष लीनता द्वारा राग-द्वेष टालकर बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलती दशा होने पर होती है। अनादि से सन्तों की ऐसी ही दशा होती है।

अन्तर में स्वरूप में लीनता के आनन्द में राग-द्वेष का अभाव और बाह्य में वस्त्र के एक धागे का भी अभाव — ऐसी वीतरागी मुनिदशा होती है। वस्त्र का एक धागा रखने का भी भाव हो तो वह मुनिदशा में बाधक है, इसलिए इस दशा का वर्णन करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी लिखते हैं —

उदासीन वृत्ति हो सब परभाव से,
यह तन केवल संयम हेतु होय जब।
किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं,
तन में किञ्चित् भी मूर्च्छा नहिं होय जब।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥ 2॥

चारित्रदशा में ऐसा उदासीनभाव प्रगट हो जाता है कि मात्र देह के अलावा अन्य किसी परिग्रह पर लक्ष्य नहीं जाता। देह के प्रति भी मूर्च्छा नहीं होती तथा वह संयम का हेतु है; अतः वह परिग्रह नहीं है।

देखो! इन्द्र भी जिनका जन्मोत्सव मनाते हैं, ऐसे भगवान को भी अन्तर में ऐसी चारित्रदशा प्रकट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता – ऐसा वस्तु का स्वभाव है। अन्तर में जैसा रागरहित स्वभाव है, वैसी रागरहित दशा आत्मा की हो और बाहर में जैसा माता ने जन्म दिया हो, वैसी शरीर की दशा स्वयं हो जाती है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुनिदशा में होता है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगट हो गया हो और बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्रादि का सम्बन्ध रहे – ऐसा तीन काल तीन लोक में नहीं होता। भगवान ऐसी पवित्रदशा की भावना भाते थे और आज उन्होंने वह दशा अङ्गीकार की है।

मैं, पञ्च महाव्रत अङ्गीकार करूँ — ऐसा शुभविकल्प होने पर भी, भगवान को उसके प्रति उदासीनता वर्तती है। अहो! आत्म-अनुभव में लीनतारूप संयमदशा प्रगट होने पर, शरीर के सिवाय और दूसरा कोई परिग्रह नहीं रहता। शरीर भी मूर्च्छारहित होता है। ऐसी दशा प्रगट करके केवलज्ञान कब प्रगट करूँ? – ऐसी भावना भगवान भाते थे।

मुनि होने के पहले भगवान को जातिस्मरणज्ञान था और वे ऐसी भावना भाते थे कि 'हमने अपने ज्ञायक मूर्ति आत्मा को दृष्टि में, प्रतीति में तो लिया है, अब उसकी लीनता में कब विचरूँगा!' अरे, ऐसी भावना हुए बिना मुनिदशा या मुक्ति नहीं होती। गृहस्थदशा में रहते-रहते किसी को केवलज्ञान प्रगट हो जाये या मुनिदशा हो जाये – ऐसा तीन काल तीन लोक में नहीं हो सकता।

गृहस्थ को अधिक से अधिक पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावकदशा हो सकती है, उसके बाद अन्तर में विशेष लीनता होने पर मुनिदशा में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है, तब बहुत से राग-द्वेष छूट जाते हैं और बाह्य संयोग भी स्वयं छूट जाते हैं। यद्यपि आत्मा उन्हें छोड़ता नहीं हैं, तथापि वे न छूटें — ऐसा कभी नहीं हो सकता। ऐसा सहजमार्ग है। मोक्षमार्ग में ऐसी सहज मुनिदशा होती है। इसके अलावा दूसरी तरह से मुनिदशा नहीं होती। यदि कोई मुनिदशा का अन्य स्वरूप माने या मनाये तो वह मिथ्यादृष्टि है।

अन्तर में आत्मा की दशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव प्रगटे बिना, मात्र बाह्य निर्ग्रन्थता या पञ्च महाव्रत में मुनिदशा नहीं है। उसी प्रकार **अन्तर में भाव-निर्ग्रन्थता; अर्थात्, सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव प्रगटे और बाह्य में वस्त्रादिरहित निर्ग्रन्थता**

न हो - ऐसा कभी नहीं हो सकता। जैसे, बादाम का ऊपर का छिलका निकल जाये और अन्दर का छिलका न निकला हो — ऐसा तो हो सकता है; परन्तु अन्दर का छिलका निकल जाये और ऊपर का छिलका न निकले - ऐसा कभी नहीं हो सकता। बाह्य वस्त्रादि परिग्रह, ऊपर के छिलके के समान हैं और राग-द्वेष, अन्दर के छिलके के समान हैं।

भगवान को अनेक वर्षों तक कर्मों के जोर के कारण गृहस्थ रहना पड़ा - ऐसा नहीं है; अपनी उस पर्याय की योग्यता के कारण वे गृहस्थ रहे। वैराग्य होने पर वे अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएँ भाते थे।

अनित्यभावना किसे कहना? शरीर अनित्य है, राग अनित्य है - ऐसी भावना तो क्षणिक शुभराग है, वह सच्ची अनित्यभावना नहीं है। अनित्यता के आश्रय से सच्ची अनित्यभावना नहीं होती, परन्तु मैं शरीर और रागादि से भिन्न नित्य ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, इस प्रकार नित्य आत्मस्वभाव के लक्ष्यपूर्वक शरीरादि को अनित्य जानना, सच्ची अनित्यभावना है। अनित्यादि भावनाओं में लक्ष्य तो नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव का ही है।

ज्ञानानन्द चैतन्यज्योति स्वरूपी दीपक नित्य जल रहा है; उसकी भावना किये बिना, मात्र 'शरीरादि अनित्य हैं' - ऐसी परलक्ष्यी भावना करके, यह जीव द्रव्यलिङ्गी दिगम्बर मुनि होकर नवमें ग्रैवेयक तक गया, परन्तु उसकी भावना को सच्ची अनित्यभावना नहीं कहते, क्योंकि अन्तर में आत्मा के अनुभव बिना सच्चा त्याग या सच्ची भावना नहीं होती। भगवान ने तो नित्य और शरणभूत चैतन्यस्वभाव के लक्ष्यपूर्वक अनित्य, अशरण आदि भावनाएँ भायी थीं। सभी तीर्थङ्कर वैराग्य के समय ऐसी भावनाएँ भाते हैं।

इस समय महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान, तीर्थङ्करपने विराज रहे हैं, उन्होंने भी दीक्षा लेते समय ऐसी भावना भायी थी। श्रीचन्द्रप्रभ भगवान ने भी ऐसी भावना भायी थी कि मैं त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति हूँ; मैं एक भी विकल्प का कर्ता नहीं हूँ - इस प्रकार नित्य ध्रुवस्वभाव की दृष्टि होने पर 'पुण्य-पाप अनित्य है' - ऐसी सच्ची अनित्यभावना होती है। धर्मात्मा को पञ्च महाव्रत अङ्गीकार करने का या वस्त्रादि त्याग करने का विकल्प होता है, परन्तु उन्हें अन्तर में उस विकल्प का या परपदार्थों का स्वामित्व नहीं होता।

मोक्ष के कारणरूप चारित्रदशा

आत्मा को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के बाद चारित्रदशा हुए बिना मुक्ति नहीं होती। चारित्रदशा, बाह्य वेश में नहीं होती। सिद्धों के समान अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव में लीन होने पर तीन चौकड़ी कषाय का नाश होने पर प्रगट होनेवाली छठवें-सातवें गुणस्थान की वीतरागीदशा ही चारित्र है। जिन्हें ऐसी चारित्रदशा प्रगट हो जाती है, उन्हें ही मुनि कहते हैं - ऐसी चारित्रदशा के बिना सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानरूप धर्म तो होता है परन्तु मुनिदशा नहीं होती।

भगवान को (गृहस्थदशा में) आत्मा का पूर्ण आनन्द, दृष्टि में आ गया है। पूर्ण आनन्दस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान उत्पन्न हुआ है। उन्हें स्पष्ट निर्णय हुआ है कि मैं इसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके भगवान बनूँगा। परन्तु तीर्थङ्कर भगवान को भी चारित्रदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता; इसलिए वैराग्य होने पर वे दीक्षा अङ्गीकार करते हैं। 'मैं दीक्षा लेकर मुनि होऊँ' — ऐसा विकल्प तो राग है; वह आत्मा का स्वरूप नहीं है तथा वस्त्र उतारने की और केशलोंच करने की क्रिया तो जड़ की है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। आत्मा में मुनि बनने की वृत्ति उठना भी राग है, उस राग के कारण चारित्रदशा नहीं होती, परन्तु स्वभाव की लीनता से चारित्रदशा होती है। इसी प्रकार वस्त्र उतारने की क्रिया, राग के कारण नहीं होती; वह तो जड़ के स्वभाव से होती है।

आत्मा में मुनिदशा प्रगट होने पर वस्त्र का संयोग, उसके कारण से स्वयं उतर जाता है, तब आत्मा के शुभ विकल्प को उसका निमित्त कहा जाता है परन्तु वास्तव में वस्त्र के पुद्गलों की वर्तमान पर्याय में वैसा ही परिणमन करने की योग्यता थी, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। पञ्च महाव्रत के शुभ विकल्प को चारित्रदशा का निमित्त कहा जाता है परन्तु वास्तव में वह तो राग है; वह वीतरागी चारित्र का कारण नहीं है और परमार्थ से आत्मा उस विकल्प का भी कर्ता नहीं है। आत्मा के स्वभाव में ठहरने पर विकल्प छूट जाता है। भगवान ने वस्त्र छोड़े — ऐसा कथन होता है परन्तु वास्तव में स्वरूप में ठहरने पर राग छूट गया और राग छूट जाने पर उसके निमित्तरूप वस्त्र भी स्वयमेव छूट गये हैं।

प्रभु स्वयं दीक्षा अङ्गीकार करके आत्मध्यान में लीन हुए और उन्हें तुरन्त ही सातवाँ अप्रमत्तगुणस्थान और मन:पर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है। तीनों काल के अनन्त सन्तों का एक

ही प्रकार है कि उन्हें पहले आत्मभानपूर्वक मुनि होने का विकल्प होता है परन्तु वे उसे आश्रय करने योग्य नहीं मानते और उन्हें बाह्य परिग्रह का संग भी नहीं होता, फिर अन्दर चैतन्य में लीन होने पर उन्हें पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। ऐसी मुनिदशा हुए बिना कभी मुक्ति प्रगट नहीं होती। गृहस्थदशा में सम्यग्दर्शन और एकावतारीपना हो सकता है परन्तु ऐसी मुनिदशा हुए बिना, गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को भी मुक्ति नहीं होती।

मुनिदशा का स्वरूप

कोई जीव, द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर ऐसा मानता है कि वस्त्र छोड़ने की क्रिया को मैं करता हूँ तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। स्वरूप का भान होने पर राग टूटने से, साधुपद, शरीर की निर्ग्रन्थता उसके कारण से हो जाती है; उस समय पुद्गलपर्याय का काल ही वैसा होता है। आत्मा का स्वकाल अपने में ठहरने का है। जब आत्मा के स्वकाल में भावनिर्ग्रन्थता हुई, तब अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय चौकड़ी सम्बन्धी कर्मों के परमाणुओं का नाश होने पर पुद्गल का स्वकाल है और बाहर में वस्त्रादि के परमाणुओं का शरीर से छूटने का स्वकाल है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य का स्वकाल स्वतन्त्र होने पर भी जब आत्मा में लीनता होने का स्वकाल होता है, तब तीन कषाय के कर्म परमाणु न टलें और वस्त्रादि का वियोग न हो — ऐसा नहीं होता। निर्मल मुनिदशा का और वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि अन्तर में प्रचुर वीतरागता हो और बाह्य में वस्त्र का एक धागा भी न हो। शरीर पर वस्त्र का एक धागा भी रखने का भाव हो और छठवें-सातवें गुणस्थान की मुनिदशा टिकी रहे — ऐसा तीन काल, तीन लोक में नहीं हो सकता।

यह किसी के द्वारा कल्पित मार्ग नहीं है, परन्तु सनातन वस्तुस्वभाव में पर्याय का ऐसा ही स्वरूप है कि आत्मभानपूर्वक लंगोटी रहित, नग्नदशा होने पर ही मुनिदशा होती है। जो उस पर्याय को अन्यथा मानता है, वह मुनिदशा अथवा वस्तुस्वभाव को नहीं जानता। यद्यपि आत्मा वस्त्रों के ग्रहण-त्याग का कर्ता नहीं है, तथापि जब आत्मा में तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागी चारित्रदशा प्रगट होती है, तब राग और वस्त्रों का अभाव सहजरूप से हुए बिना नहीं रहता — ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यह बात कल्पना से नहीं कही जा रही है, बल्कि भगवान की दिव्यध्वनि में से कही जा रही है। यहाँ यह पञ्च कल्याणक महोत्सव हो रहा है और वन में दीक्षाकल्याणक महोत्सव हो रहा है, यह वीछिया का अहो भाग्य है।

अहो! आज महा-वैराग्य का दिवस है, परम उदासीनता का प्रसङ्ग है। आज भगवान वीतरागी चारित्रदशा धारण कर रहे हैं – ऐसी चारित्रदशा के बिना इस आत्मा की कभी मुक्ति नहीं हो सकती।

यहाँ तो भगवान की दीक्षा की स्थापना है परन्तु ऐसे प्रसङ्ग के समय स्वयं अन्तर में ऐसी भावना होती है कि **'मेरी ऐसी परम वीतरागी निर्ग्रन्थदशा कब होगी? मैं मुनि होकर आत्मध्यान में लीन कब होऊँगा? मैं इन वीतरागी सन्तों की पंक्ति में कब बैठूँगा?'** परन्तु ऐसी भावना कौन करेगा? जिसे आत्मा के रागरहित चिदानन्दस्वभाव का भान हो, उसे यथार्थ मुनिदशा की सच्ची पहचान होती है; अत: वही ऐसी यथार्थ भावना कर सकता है। यह मुनिदशा की स्थापना का निक्षेप है परन्तु वह निक्षेप कौन करेगा? स्थापना तो निमित्त है, पर है, व्यवहार है।

उपादान के बिना, निमित्त नहीं होता; स्व के भान बिना, पर का भान नहीं होता; और निश्चय के बिना, सच्चा व्यवहार नहीं होता; इसलिए जिसे स्व-उपादान के निश्चयस्वभाव की पहचान होती है, वही पर-निमित्त में स्थापना निक्षेपरूप व्यवहार को जानता है। मुनिपद तो रागरहित चारित्रदशा है। जिसे पहले रागरहित आत्मस्वभाव की पहचान हो, वही रागरहित होने का पुरुषार्थ कर सकता है परन्तु जो राग को ही अपना स्वरूप मानता है, वह रागरहित होने का पुरुषार्थ किसके बल से करेगा? उसे सच्ची भावना भी नहीं होगी।

धर्मात्मा को रागरहित ज्ञानस्वभाव की दृष्टि है और कमजोरी के कारण पर्याय में राग है तथा स्वभाव की एकाग्रता के बल से उस राग को टालकर मुनि होने की भावना है। स्वरूप में सहज एकाग्रता हुए बिना 'मैं राग छोड़ूँ' – ऐसा हठ करने से राग नहीं छूटता। हठपूर्वक बाह्य त्याग करना भी सच्चा त्याग नहीं कहलाता।

मैं राग टालूँ – ऐसी बुद्धि से राग टलने के बजाय उत्पन्न होता है, फिर भी जो ऐसे हठ को राग टालने का उपाय मानता है, वह जीव पर्यायमूढ़ होने से मिथ्यादृष्टि है। वास्तव में राग को दूर नहीं करना पड़ता, परन्तु ध्रुव सत् स्वभाव का आश्रय करने पर राग उत्पन्न ही नहीं होता;

इसी को राग का त्याग कहते हैं। इस प्रकार भगवान आत्मा को राग का त्याग कहना नाममात्र है, क्योंकि स्वभाव में राग है ही नहीं। स्वभाव में एकाग्र होने पर राग को छोड़ना नहीं पड़ता, अपितु राग सहज छूट जाता है।

अहा! आत्मा, राग को भी नहीं छोड़ता तो वस्त्रादि परपदार्थों को छोड़े – ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसा होने पर भी मुनिदशा में वस्त्र का संयोग रहे – ऐसा तीन काल में भी सम्भव नहीं है। तीन काल और तीन लोक में पर्याय का ऐसा ही नियम है कि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले सन्तों को वस्त्र रखने का विकल्प भी नहीं होता।

अहो! यह तो परम उदासीनदशा की बात है। जैसे, कछुआ भयभीत होने पर अपने पैरों और मुख को पेट में सिकोड़ लेता है; वैसे ही मुनिदशा, इन्द्रियों से संकुचित होकर स्वभाव में ढल जाती है; मुनिराज अपने स्वभाव में गुप्त हो जाते हैं। उनके शरीर के रजकण मुरदे जैसा काम करते हैं, क्योंकि उनके प्रति मुनिराज का स्वामित्व उड़ गया है। ऐसे सन्तों को शरीर की रक्षा करने की या उसे ढाँकने की वृत्ति उठने का भी अवकाश नहीं रहता। अहो! जब आत्मा की ऐसी दशा प्रकट हो, वह धन्य पल है! धन्य काल है!! धन्य भाव है!!! – ऐसे धन्य अवसर की भावना भाते हुए श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं –

नग्नभाव मुण्डभाव सह अस्नानता।
अदन्तधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो॥
केश-रोम-नख आदि अङ्ग शृंगार नहिं।
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥ 9॥

ऐसी दशा में हुए बिना तीन काल, तीन लोक में भी पूर्णदशा की प्राप्ति नहीं होती। शरीर-मन-वाणी की किसी भी क्रिया पर आत्मा का अधिकार नहीं है – ऐसे अन्तर्भानपूर्वक मुनिराज को शरीर के शृङ्गार की वृत्ति टल गयी है। अन्तर में चैतन्य के ध्यान के लिए उन्हें बाह्य में सहजरूप से, मुख्यरूप से मौनदशा वर्तती है। मुनिवरों को स्वभाव की लीनता में ऐसी उत्कृष्ट वैराग्यदशा होती है।

दीक्षा के पश्चात् एक वर्ष का उपवास

भगवान ऋषभदेव को चारित्रदशा धारण करने के पूर्व ही यह निर्णय था कि मैं इसी भव में केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त करूँगा, परन्तु इसके साथ-साथ उन्हें यह निर्णय भी था कि पुरुषार्थ के बिना केवलज्ञान नहीं होता; अतः जब मैं पुरुषार्थ द्वारा मुनिदशा प्रगट करके आत्मध्यान में लीन होऊँगा, तभी केवलज्ञान होगा।

जब भगवान ने दीक्षा ली थी, तब उनके साथ देखा-देखी अन्य चार हजार राजा भी स्वयं दीक्षित हो गये थे, परन्तु वह तो अन्दर की अक्ल बिना, मात्र बाहर की नकल थी। अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में लीन होने से ऋषभदेव को छह माह तक आहार की वृत्ति ही नहीं उठी, परन्तु उनके साथ दीक्षित हुए राजा क्षुधा आदि परीषह सहन नहीं कर सके; इसलिए वे सभी भ्रष्ट हो गये।

अन्तर की शान्ति के बिना समता कहाँ से रहेगी? 'मैंने इतने दिनों से आहार नहीं लिया' — इस प्रकार जहाँ आहार न करने के दिन गिने जाते हों, वहाँ उसका लक्ष्य तो आहार पर ही पड़ा है; उसे सच्ची समता कैसे हो सकती है? आहार और शरीर आदि बाह्य पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर, अन्तर में परम आनन्द के अनुभव में एकाग्र होने पर सच्ची समता रहती है।

आत्मा में स्थिर होने से ऋषभदेव भगवान को आहार का विकल्प टूट गया। छह माह बाद आहार लेने की वृत्ति उठी, परन्तु छह महीने तक आहार का योग नहीं बना। भगवान का आत्मा तो आनन्द में मस्त है, बाहर में आहार का संयोग उतने काल तक होना ही नहीं था; इसलिए नहीं हुआ। बाह्य दृष्टि से देखनेवाले अज्ञानी लोग एक वर्ष तक आहार न होने को तप मानकर उसकी नकल में वर्षी तप करते हैं परन्तु आहार का न होना तो जड़ की क्रिया है, उसमें तप नहीं है; आत्मध्यान में लीन होने पर सहज ही इच्छाओं का टूट जाना तप है। अन्तर की निर्मलदशा को भगवान, दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप कहते हैं।

सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सम्यक्चारित्र

सर्व प्रथम सत्समागम से आत्मा को पहचानकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करें, फिर आत्मा में ही विशेष एकाग्र होने पर पञ्चेन्द्रिय विषयों की इच्छा सहज ही टूट जाये, यही

सच्चा त्याग या चारित्र है। सम्यग्दर्शन होते ही राग की मिठास उड़ जाती है; अर्थात्, विषयों में सुखबुद्धि नहीं रहती। अविरत सम्यग्दृष्टि को राग होता है, बाह्य में स्त्री आदि का संयोग होता है परन्तु उसे उनमें कभी सुखबुद्धिपूर्वक राग नहीं होता; मात्र आसक्ति का राग होता है। फिर आत्मा में विशेष स्थिरता होने पर आसक्ति का राग भी नहीं रहता और बाह्य में भी स्त्री, पुत्रादि का परिग्रह नहीं रहता — ऐसी दशा को चारित्र कहा जाता है।

जो जीव, विषयों में सुख मानता हो तथा जिसे पुण्य और उसके फल में मिठास हो, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आत्मा में आनन्द नहीं है – ऐसा माननेवाला ही विषयों में और विकार में सुख मानता है।

धर्मी जीव को तो सुखस्वरूप आत्मा का भान है और फिर उसमें स्थिर होने पर राग छूट जाने पर स्त्री आदि को छोड़ा – ऐसा कहा जाता है। वास्तव में 'मैं रानियों को छोड़ूँ' – ऐसा अभिप्राय ज्ञानियों को नहीं होता। जब राग था, तब रानियों का निमित्तपना था परन्तु स्वरूप की चारित्रदशा द्वारा अपने उपादान में से राग टल गया अर्थात् रानियों का निमित्तपना छूट गया; इसलिए रानियों को छोड़ा – ऐसा कहा जाता है। यह बात समझे बिना और ऐसी दशा प्रगट हुए बिना, कोई जीव परमात्मा नहीं हो सकता।

भगवान ने ऐसे भानपूर्वक चारित्रदशा प्रकट की और परमपद की प्राप्ति के लिए वीतरागी ध्यान में लीन हो गये। उनकी यह दशा धन्य है!

यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,
शक्तिविहीन अवस्था मनरथरूप जब।
तो भी निश्चय 'राजचन्द्र' के मन रहा,
प्रभु आज्ञा से होऊँ वही स्वरूप जब।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥ 21॥

अहो! अन्तर के भानसहित निर्ग्रन्थदशा! श्रीमद् राजचन्द्रजी को आत्मा का भान था। उन्होंने 28 वर्ष की उम्र में सं० 1952 में गृहस्थदशा में भी ऐसी भावना भायी थी। ऐसी भावना भाये बिना और साक्षात् ऐसी दशा प्रगट किए बिना, किसी भी जीव का कल्याण नहीं होता।

चारित्रदशा के बिना, मात्र सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं होता। अट्ठाईस मूलगुणसहित वीतरागी चारित्रदशा सन्तों का सनातन मार्ग है। यह धन्य अवसर; अर्थात्, वीतरागदशा का स्वकाल कब आयेगा – ऐसी उग्र भावना इस काव्य में भायी गयी है। प्रत्येक जीव को आत्मा का भान करके ऐसी भावना करना चाहिए, इससे आत्मा को रागरहित दशा प्रगट होकर केवलज्ञान उत्पन्न होगा। यही कल्याण है। *(- वीछिया : वीर नि.सं. 2476, फाल्गुन शुक्ला षष्ठी, दीक्षाकल्याणक प्रसङ्ग)*

मुनिदशा वस्त्रसहित नहीं होती

मुनिदशा होने पर सहज ही निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा हो जाती है। मुनिदशा तीनों काल नग्न दिगम्बर ही होती है। यह कोई पक्ष या सम्प्रदाय नहीं है परन्तु अनादिकालीन सत्य वस्तुस्थिति है।

शङ्का – वस्त्र तो परवस्तु है, वह कहाँ आत्मा को बाधक है ? अतः वस्त्र होने में क्या आपत्ति है ?

समाधान – यह बात सत्य है कि वस्त्र परवस्तु है; अतः वह आत्मा को बाधक नहीं है परन्तु वस्त्र ग्रहण करने का भाव ही मुनिदशा को रोकने वाला है। अन्तर में लीनता बढ़ जाने से मुनियों को ऐसी उदासीनदशा सहज हो जाती है कि उन्हें वस्त्र ग्रहण करने का विकल्प ही नहीं होता।

चारित्रदशा दुःखरूप नहीं; आनन्दरूप है

बारह भावनाओं का चिन्तन करके भगवान वीतरागी जिनदीक्षा धारण करते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना मोक्षमार्ग पूरा नहीं होता। 'रागरहित चिदानन्द तत्त्व का भान होने पर भी मैं अब तक गृहस्थी के राग में रहा, परन्तु अब तो चिदानन्द की मस्ती में लीन होऊँगा' – इस प्रकार स्वभाव की भावना करते हुए भगवान, दीक्षा लेकर राग तोड़कर आत्मा के आनन्द की मस्ती में लीन हो गये।

चारित्र तो आत्मा के आनन्द में झूलनेवाली दशा है, इसमें दुःख नहीं है परन्तु आत्मा की अतीन्द्रिय शान्ति का अमृत है। मूढ़ जीव ऐसा मानते हैं कि भगवान को चारित्रदशा में बहुत दुःख हुआ। अहो ! जो वीतरागी चारित्र दुःखों का नाश करने का कारण है, उसे मूढ़जीव दुःखदायक मानते हैं। बहुत उपवासादि हुए, परन्तु उसमें भगवान को दुःख नहीं हुआ, क्योंकि

चारित्रदशा में सिद्धसमान अतीन्द्रिय आनन्द में लीनता होती है। जिससे आहार लेने की वृत्ति का नाश हो जाता है और आहार स्वयं छूट जाता है – यही सच्चा उपवास है। आत्मा के भान बिना, मात्र लंघन कर लेना उपवास नहीं कहलाता।

धन्य मुनिदशा!

अहो! मुनिदशा कैसी होती है? इसका भी लोगों को भान नहीं है। गणधरदेव भी जब नमस्कार–मन्त्र बोलते हैं, तब '**णमो लोए सव्व साहूणं**' – इस पद के द्वारा, उनका (गणधर भगवान का) नमस्कार सब मुनियों के चरणों में पहुँचता है; अतः यह मुनिदशा कैसी होगी? तीन लोक के नाथ भगवान महावीर, सीमन्धर आदि अनन्त तीर्थङ्करों के धर्म–वजीर, ऐसे गणधर जब शुभराग के समय नमस्कार–मन्त्र बोलते हैं, तब उसमें साधु के चरणों में भी नमस्कार आ जाता है। अहा! गणधरदेव भी जिसे नमस्कार करें, वह पद कैसा होगा?

गणधरों में दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की ताकत है। ऐसी सामर्थ्य भले अन्य मुनिवरों में न हो तो भी जिन्होंने मात्र दो घड़ी पहले आठ वर्ष की उम्र में साधु होकर आत्मा में लीनतारूप चारित्रदशा प्रकट की है – ऐसे मुनिवरों को भी गणधरदेव का नमस्कार हो जाता है। आठ वर्ष का राजकुमार अभी–अभी मुनि हुआ हो और गणधर लाखों वर्ष पहले मुनि हुए हों, तो भी वे कहते हैं – 'सर्व सन्त मुनियों के चरणों में नमस्कार हो।' इसमें आठ वर्ष की उम्र में साधु होनेवाले राजकुमार भी आ जाते हैं। गणधरदेव कहते हैं कि जिसमें हमारा नमस्कार झेलने की ताकत हो, ऐसे सन्तों को हम साधु कहते हैं, ऐसे सन्तों का चारित्र आनन्दमय है; ऐसे सन्त दुःखी नहीं हैं।

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दुःख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्शस्वभावी है, वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अतः उसे संयोगों का दुःख नहीं है। धर्मात्मा को अन्तरस्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगटी है, उसमें परम आनन्द की लहरें बढ़ गयी हैं।

भगवान, वन में अकेले रहते थे; इसलिए दुःखी थे – ऐसा नहीं है। वे तो अन्तर के चैतन्य वन में आत्मा के आनन्द की मस्ती में रहते थे। वास्तव में भगवान वन में रहे ही नहीं,

वे तो शरीर में भी नहीं रहते थे, पञ्च महाव्रत के शुभराग में भी नहीं रहते थे; वे तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे। सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके भगवान ने दीक्षा ली। इसके पश्चात् आत्मध्यान में लीन होते ही, उन्हें मन:पर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है।

आज श्री चन्द्रप्रभभगवान, चारित्र की भावना करके मुनि हुए हैं – इसी प्रकार सभी जीवों को सम्यग्दर्शनसहित ऐसी चारित्रदशा की भावना करना चाहिए। इस प्रकार आज दीक्षाकल्याणक का प्रसङ्ग दिखाया गया। *(- राजकोट : वीर नि.सं. 2476, फाल्गुन शुक्ला दशमी)*

ज्ञानसमुद्र में उछलती वैराग्य तरङ्गें

पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में आज शान्तिनाथ भगवान का दीक्षाकल्याणक दिवस है। उन्होंने पूर्व भवों में आत्मज्ञान प्राप्त करके दर्शनमोह का नाश किया और आत्मस्वभाव की प्रतीति की थी। उस भूमिका में शुभराग से ऐसा पुण्य बँधा; जिसके फल में चक्रवर्ती, कामदेव और तीर्थङ्कर जैसे तीन महान पद प्राप्त हुए। 72 हजार नगर, 96 हजार रानियाँ, 84 लाख हाथी और 96 करोड़ पैदल सेना आदि छह खण्ड की सम्पदा का संयोग होते हुए भी, उन्हें स्वभाव का भान था कि यह संयोग मेरा स्वरूप नहीं है, इनमें मेरे आत्मा का सुख नहीं है।

शुद्धात्मा की श्रद्धा के बल से उन्हें पहले से ही संसार, शरीर और भोगों से उदासीनता थी। 'मैं असंसारी, अशरीरी और अभोगी हूँ; भव, तन या भोग मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो भवरहित मुक्त हूँ, मैं शरीर से भिन्न सिद्धसमान हूँ' – इस प्रकार वे आत्मस्वभाव के अनुभवसहित जन्मे थे। वे जब तक चक्रवर्ती पद में रहे, तब तक उन्हें अस्थिरता का राग था परन्तु उन्हें राग की भावना नहीं थी; भावना तो आनन्दमूर्ति आत्मस्वभाव की ही थी।

हजारों रानियों के सङ्ग में भी उन्हें उनमें सुखबुद्धि नहीं थी; अर्थात्, अन्तर में वे उनके प्रति उदास थे। रानियाँ भी जानती थीं कि 'ये भोगी नहीं, अपितु संसार में रहनेवाले योगी हैं। कभी भी हमारे प्रति राग छोड़कर वन की ओर चल पड़ेंगे। अभी पर्याय की कमजोरी से इन्हें राग है तो भी ये अतीन्द्रिय आनन्द के भोग की भावना बारम्बार भाते हैं; अर्थात्, स्वभाव के बल से राग तोड़कर यह सब छोड़कर चले जायेंगे।'

ऐसे शान्तिनाथ भगवान एक बार दर्पण में अपना मुख देख रहे थे। उस समय उन्हें अपने दो प्रतिबिम्ब एक साथ दिखे। दर्पण में उन्हें पूर्व भव का प्रतिबिम्ब दिखा था, जिसे देखते ही वे आश्चर्यचकित हो गये और उन्हें पूर्व भवों का स्मरण हो गया। पूर्व भवों का स्मरण होते ही उन्हें संसार के प्रति अतिशय वैराग्य हुआ और वे अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे।

अतिशय वैराग्य से प्रेरित भगवान विचारने लगे कि 'अहो! इससे पूर्व भव में मैं सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र देव था और उससे भी पहले मैं मुनि था। उस समय मेरी अनुभवदशा अधूरी रह गयी और राग शेष रह गया; इसलिए यह अवतार हुआ है। अब, इस राग को छोड़कर मैं इसी भव में मुक्ति प्राप्त करूँगा। यह अवतार संसार के भोगों के लिए नहीं है; मुक्ति प्राप्त करने के लिए है। मैं भगवान होने के लिए जन्मा हूँ।' अहो! यह अवतार धन्य है।

वैराग्य होने पर भगवान, तुरन्त दीक्षा धारण करते हैं। वैराग्य होने के बाद उन्हें लम्बे समय तक गृहवास में रहना पड़े अथवा कोई कहे कि वे दान देने के लिए एक वर्ष गृहस्थ में ही रुके रहे — ऐसा कभी नहीं होता। जो ऐसा मानते हैं, उन्होंने भगवान के उत्कृष्ट वैराग्य को नहीं पहचाना। **जैसे, श्मशान गया हुआ मुर्दा वापिस घर नहीं आता; वैसे ही वैराग्य होने के बाद तीर्थङ्कर भगवान घर पर नहीं रुकते।**

अहो! वह मुनिदशा धन्य है। वस्तु के सनातन स्वभाव में **दिगम्बर जिनमुद्रा के बिना, मुनिपना नहीं होता।** मुनि के शरीर पर वस्त्र नहीं होता। कमण्डलु भी पानी पीने के लिए नहीं होता; शरीर की अशुचिता दूर करने के लिए होता है। तीर्थङ्कर भगवान का शरीर तो स्वभाव से ही अशुचितारहित होता है; इसलिए उन्हें तो कमण्डलु भी नहीं होता।

मुनिदशा में निर्ममत्वरूप से शरीरमात्र होता है, क्योंकि शरीर हठपूर्वक नहीं छोड़ा जाता। वास्तव में संसार का त्याग करते समय उन्होंने जो निश्चय-प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा की है, उसमें आहार की वृत्ति का प्रत्याख्यान भी हो गया था। उनकी भावना तो यही थी कि पञ्च महाव्रतादि की शुभवृत्ति भी न करना और चैतन्य के अनुभव में लीन रहना।

श्रीजयधवलाकार कहते हैं कि सन्त तो स्वरूप में ठहरने के ही कामी थे, निश्चय-प्रत्याख्यान की ही प्रतिज्ञा की थी परन्तु स्वयं में पूर्ण स्थिर न हो सके; इसलिए आहार आदि

की वृत्ति उठती है किन्तु वे उसे दोष ही मानते हैं। पञ्च महाव्रत के शुभ विकल्प भी पुण्यास्त्रव हैं। मुनिराज को उन विकल्पों की भावना भी नहीं है तो भी वह वृत्ति उठती है तो उसे निश्चय-प्रत्याख्यान में दोष जानकर छोड़ते हैं। वे उसका प्रतिक्रमण करके पुनः स्वरूप में ठहरकर निश्चय-प्रत्याख्यान की सन्धि जोड़ते हैं।

चौदह ब्रह्माण्ड में मुनियों की दशा सदा ऐसी ही होती है, उन्हें वस्त्र या पात्र के परिग्रह की वृत्ति कभी नहीं होती। छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका का ऐसा ही स्वभाव है। अनन्त सन्तों के द्वारा स्वयं पाला हुआ और कहा हुआ यही मुक्ति का राजमार्ग है — ऐसे मुक्ति के राजमार्ग पर चलने के लिए शान्तिनाथ भगवान आज तैयार हुए हैं।

''जिस मार्ग पर अनन्त तीर्थङ्कर चले, उसी पथ का मैं पथिक बनूँगा। हमारे पुरुषार्थ की धारा टूटेगी नहीं, हम अप्रतिहत पुरुषार्थवाले हैं; अब हम अपने स्वभाव में ही ढलते हैं। जिस निर्विकल्पस्वभाव के गीत हम गाते थे, उसे प्रगट करने को अब हम तैयार हैं; अब, हमारे स्वरूप में ठहरने का समय आ गया है। अब, स्वभाव में लीन होने का भाव जागा है, उसे हम शिथिल नहीं होने देंगे। अखण्डानन्दस्वभाव की भावना के सिवाय, अब हमें पुण्य-पाप का भाव नहीं आयेगा।'' — दीक्षा के लिए तैयार शान्तिनाथ भगवान ऐसी भावना भाते थे।

प्रवचनसार की 195 वीं गाथा में भी श्रामण्य में परिणमने की बात है। चारित्र के प्रसङ्ग में यह चारित्र विषय सम्बन्धी गाथा है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्र में जाकर सीमन्धर परमात्मा के पास से ज्ञान का खजाना लाये और उसे अपने आत्मा में सुरक्षित रख लिया था, फिर जगत के महाभाग्य से वाणी के रूप में यह रचना हुई।

मूल गाथा इस प्रकार है —

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि॥
मोहग्रन्थि का हनन किया, अरु रागादिक भी नष्ट किये।
सुख-दुःख में सम हुआ श्रमण, वह अक्षयसुख को प्राप्त करे॥

देखो! चारित्र के परिणमन की दशा! तीर्थङ्करों को क्षपकश्रेणी ही होती है; उपशम श्रेणी नहीं होती। इस गाथा में भी राग-द्वेष के क्षय की बात है।

जिस प्रकार सर्प काँचली को उतारकर चला जाता है; उसी प्रकार भगवान ने 96 हजार रानियाँ और छह खण्ड का राज्य छोड़ दिया। जैसे, विष्टा छोड़ने के बाद कोई उसके सामने भी नहीं देखता; वैसे, राज्य और रानियों के प्रति राग छोड़ने के बाद भगवान ने उनके सामने भी नहीं देखा। हजारों रानियाँ बिलखती रह गयी कि 'अरे रे! भोग में हमारा साथ देनेवाले, वन में अकेले जा रहे हैं।'

तब इन्द्राणी उनसे कहती हैं कि 'हे रानियों! शान्त हो जाओ। प्रभु ने तो तुम्हारे प्रति राग का क्षय कर दिया है, वे सम सुख-दुःख हो गये हैं; उन्हें अब किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है; अब वे श्रामण्य में परिणमित हो रहे हैं - ऐसे वीतरागी श्रामण्य द्वारा अब वे केवलज्ञान प्रगट करके अक्षय सुख प्राप्त करेंगे।'

मुनि का समभाव

कोई जीव मेरे आत्मा की निन्दा या प्रशंसा नहीं कर सकता। सामनेवाला जीव, अपने भावमात्र ही करता है - ऐसा अनुभव करने के कारण भगवान को शत्रु और मित्र के प्रति समताभाव प्रगट हो गया है। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी ऐसी भावना भाते हुए लिखते हैं —

शत्रु मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अपमान में वर्ते वही स्वभाव जब।
जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥ 10॥

'यह शत्रु और यह मित्र है' — ऐसी वृत्ति ही जहाँ नहीं है तो द्वेष या राग कहाँ से होगा? भगवान का तो कोई जीव, शत्रु या मित्र है ही नहीं, परन्तु यदि कोई जीव उनकी भक्ति करता है या निन्दा करता है तो उन दोनों के प्रति उनका समभाव है। वास्तव में बाहर की तरफ उनका लक्ष्य ही नहीं है।

अहा! आयु हो या न हो; शरीर लाखों वर्षों तक रहे या आज ही उसका वियोग हो जाये; वीतरागी सन्तों को इसका तो हर्ष-शोक है ही नहीं, परन्तु उन प्रमत्त योगियों को संसार और मोक्ष के प्रति भी समभाव है; अर्थात्, संसार का नाश करके मोक्ष प्राप्त करूँ — ऐसा राग-द्वेष का विकल्प भी उन्हें नहीं होता; वे तो स्वभाव के अनुभव में ही मग्न हैं। **स्वभाव के अनुभव की लीनता में से बाहर निकलकर, उन्हें मोक्ष की वृत्ति भी नहीं होती।**

आनन्द की लीनता में ऐसा समभाव प्रकट हो गया है कि 'भव का अभाव कब होगा' - ऐसा विकल्प भी नहीं होता तथा 'अल्पकाल में मोक्ष होगा' - ऐसा विकल्प भी नहीं उठता। इन्द्रादिक आकर भक्ति से पूजा करें तो भी उनके प्रति राग नहीं है। संसार में हमारा कोई स्वजन या शत्रु नहीं है; हम तो अपने चिदानन्द आत्मा में डोलते हैं - ऐसी अनुभवदशा मुनिवरों की होती है।

अहो जीवों! शान्त हो जाओ! समभाव प्रकट करो! चैतन्य के अनुभव में एकाग्र होने पर राग-द्वेष की वृत्ति ही न उठना, वीतरागी समभाव है। उससे पहले ज्ञायक की दृष्टिपूर्वक किसी परजीव में मित्र या शत्रुपने की बुद्धि से राग-द्वेष टल जाना, सम्यक्श्रद्धा का वीतरागी समभाव है। इस जगत् में कोई भी मेरे आत्मा का हित या अहित करनेवाला नहीं है। जिसे रुचे, वह प्रशंसा करे; न रुचे, वह द्वेष करे; परन्तु सभी द्रव्य अपने-अपने में वैसा भाव करते हैं। मैंने तो अपने आत्मा को समभाव में परिणमा लिया है - इस प्रकार श्रामण्यरूप परिणमित होनेवाले मुनियों को परमशान्ति का वेदन होता है।

सन्तों की भावना

श्रामण्य में परिणमित सन्त ऐसी भावना भाते हैं —

एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ-सिंह संयोग जब।
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥ 11॥

सन्त ऐसी भावना भाते हैं कि ''मैं स्वभाव में अकेला जाकर चैतन्य के ध्यान में लीन होऊँ। **लोग मुर्दे को 'ओम्... ओम्...' कहते हुए श्मशान में ले जाकर जला देते हैं। मैं भी 'ओम्... ओम्...' करता हुआ श्मशान में जाकर 'ओम्' के वाच्यभूत शुद्धात्मा का ध्यान करते हुए, राग-द्वेष को मुर्दे के समान खाक कर दूँगा।''** - ऐसी दशा होने के पहले यह बात समझकर उसकी भावना करने में भी अलौकिक निर्जरा होती है। यदि भावना में एक ही बात बार-बार आती है तो भी उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं लगता।

'जहाँ सिंह और बाघ गरजते हुए विचरण करते हों — ऐसे जंगल में मैं अकेले आत्मस्वरूप का ध्यान करूँगा... सिंह और बाघ शरीर को खा जायेंगे तो भी उसका विकल्प न हो और मैं निर्भय होकर अडोल आसन में बैठकर स्वरूप का ध्यान करूँगा। अरे! मैं तो चैतन्यगुफा में विश्रान्त अरूपी आनन्दकन्द भगवान आत्मा हूँ... मुझे कौन खायेगा? **यदि बाघ आकर शरीर को खा जाये तो भी हमें शरीर से ममत्व नहीं है; हम तो उसे छोड़ना ही चाहते हैं और उसे वह ले जा रहा है... इस प्रकार वह तो हमारा मित्र ही है।'**

यह तो मुनियों की वीतरागता समझाने के लिए कथन किया गया है। मुनियों को ध्यान में ऐसे विकल्प भी नहीं होते। उन्हें तो चैतन्य की लीनता में देह सम्बन्धी विकल्प भी नहीं होते।

मुनिदशा में आत्मा स्वयं चारित्र में लीन हो जाता है, आत्मा ही स्वयं आनन्दमय हो जाता है, आनन्दकन्द चिदानन्दस्वभाव में लीन आत्मा समसुख-दुःख अर्थात् वीतरागी भावरूप हो जाता है और उसके फल में अक्षय सुख प्राप्त करता है। बीच में राग आता है परन्तु वह चारित्र नहीं है और स्वर्ग मिलता है परन्तु वह चारित्र का फल नहीं; वह तो राग का फल है।

यहाँ तो स्थापनानिक्षेप से दीक्षाकल्याणक दिखाया जा रहा है। जिस समय भगवान का साक्षात् दीक्षाकल्याणक होता होगा, उस समय कैसा लगता होगा? अहो! जो चक्रवर्ती थे, कामदेव थे और तीर्थङ्कर थे; उन्होंने जिस समय दीक्षा ली होगी, उस समय की दशा की क्या बात करना! छह खण्ड में जिनका उत्तम रूप था, उत्तम भोग थे, जो तीर्थङ्कर थे - ऐसे भगवान

चारित्रदशा धारण करके प्रमत्त-अप्रमत्तभाव में झूल रहे हैं। **एक क्षण में महाव्रतों की या भेद की शुभवृत्ति उठती है और दूसरे ही क्षण में उसे तोड़कर पुनः आत्म अनुभव में लीन हो जाते हैं।** इस समय ऐसी चारित्रदशा का प्रबल प्रवाह तो महाविदेहक्षेत्र में है परन्तु यहाँ भी ऐसी दशा हुए बिना किसी की मुक्ति नहीं होती।

पहले तो शुद्धात्मा के भान द्वारा मिथ्यात्व का क्षय किया और फिर राग-द्वेष का नाश करके समसुख-दुःख हुआ; अर्थात्, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग में इष्ट-अनिष्ट का विकल्प नहीं है। चैतन्य के अनुभव के आनन्द की लीनता में बाहर कहीं और जगह सुख-दुःख का विकल्प होता ही नहीं; अर्थात्, समभाव से चैतन्य में लीनता द्वारा जीव, श्रामण्यभाव में परिणमित होता है। यही चारित्रदशा और मुनिपद है, इसे धारण करके जीव अल्पकाल में मुक्ति का अक्षय सुख प्राप्त करता है।

ऐसी चारित्रदशा प्रगट करके शान्तिनाथ भगवान ने केवलज्ञान प्रगट किया और दिव्यध्वनि में सब जीवों को शान्ति का उपदेश दिया। ●

(- लाठी : ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी, दीक्षाकल्याणक दिवस)

भरतक्षेत्र में कुन्दकुन्द मानों चलते-फिरते सिद्ध

जङ्गल में बसनेवाले और आत्मा के आनन्द में झूलते हुए सन्तों ने स्वानुभव में भगवान के साथ बातें करते-करते यह बात लिखी है। अहो! इस पञ्चम काल में ऐसे मुनि हुए, अहो! इन सन्त महन्त के चरणों में भाव नमस्कार है। वाह! उनकी अन्तरदशा!! **पञ्च परमेष्ठी में जिनका स्थान है, वे कुन्दकुन्द भगवान इस भरतक्षेत्र में विचरते होंगे, उस समय तो मानो चलते-फिरते सिद्ध! जिनके दर्शन से मोक्षतत्त्व प्रतीति में आ जाए, उनके द्वारा कथित यह एक ही रास्ता संसार से बाहर निकलने का है,** अन्य कोई रास्ता नहीं है।

(- आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-21, अङ्क-241)

मुनिदशा : केवलज्ञान की तलहटी

(बहिनश्री के वचनामृत क्रमाङ्क 71 पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन)

धन्य वह निर्ग्रन्थ मुनिदशा! मुनिदशा, अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी। मुनि को अन्तर में चैतन्य के अनन्त गुण-पर्यायों का परिग्रह होता है; विभाव बहुत छूट गया होता है।

अहाहा! मुनिदशा कैसी होती है ? किसे कहते हैं मुनिदशा ?

मुनि तो छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं, अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन उनका वेश है, उनके अन्तर में अनन्त गुण-पर्यायों का परिग्रह होता है। जिसे आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि अनन्त गुण और सम्यग्दर्शनादि अनन्त पर्यायों का अपने अन्तरङ्ग में परिग्रह होता है, उसे **मुनिदशा** कहते हैं।

परि = समस्त प्रकार से, और ग्रह = पकड़ना। जिसने समस्त प्रकार से अन्तर में अपने ज्ञानादि गुणों तथा निर्मल वीतराग पर्यायों को पकड़ा है, वैसी सहजदशारूप जिसे परिणमन हुआ है, उसे **मुनिदशा** कहा जाता है।

अहा! मुनिदशा का क्या कहना! वह तो केवलज्ञान की तलहटी है!!

मुनि को अन्तर में आनन्दादि अनन्त गुणों और उनकी अनन्त शुद्ध निर्मल पर्यायों का प्रचुर अतीन्द्रिय स्वसंवेदन का परिग्रह होता है; विभाव बहुत छूट गया होता है। छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय का अंश होता है परन्तु बहुत विभाव - अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय

का विभाव छूट गया होता है, महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प का मन्दराग या शुभराग रह गया है – **ऐसी अन्तरङ्ग सहजदशा को निर्ग्रन्थ मुनिदशा कहते हैं।**

बाह्य में श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारणभूतपने से देहमात्र परिग्रह होता है।

मुनि को बाह्य में श्रमणपर्याय के सहकारी कारणरूप से, साधु की निर्मल वीतरागी पर्याय के सहकारी निमित्तरूप से, साथ रहने के कारणभूतरूप से देहमात्र परिग्रह होता है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने 'अपूर्व अवसर' में कहा है —

उदासीन वृत्ति हो सब परभाव से,
यह तन केवल संयम हेतु होय जब।
किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं,
तन में किञ्चित् भी मूर्च्छा नहिं होय जब॥

मुनि को मोरपीछी और कमण्डलु होते हैं। कभी-कभी उनको दयाभाव होने पर तथा शरीर की शुचिता के विकल्पकाल में उस ओर लक्ष्य जाता है, परन्तु उन्हें बाह्य परिग्रह में नहीं गिना गया है; संयमदशा में निमित्तरूप से वे होते हैं।

शरीर तो कर्मोदय से प्राप्त, जिसे छोड़ा न जा सके – ऐसी वस्तु है। अहाहा! धन्य वह मुनिदशा! जहाँ बाह्य में संयमदशा के सहकारी निमित्तरूप से, शरीरमात्र परिग्रह होता है।

प्रश्न – वह मुनिदशा कैसी होती है?

उत्तर – मुनिराज, निर्मल विज्ञानघन में निमग्न हैं। अहा! कैसी भाषा का प्रयोग किया है! साधुपना कोई अलग ही है भाई! विज्ञान का घन, ऐसा जो निज भगवान आत्मा, उसमें वे अन्तर्निमग्न हैं। निमग्नपना पर्याय है परन्तु वह त्रैकालिक एकाकार विज्ञानघन स्वभाव में निमग्न है, डूबी हुई है। अहा! उस दशा के बिना मुक्ति नहीं है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्र चतुर्थ गुणस्थान में होते हैं परन्तु इतने से ही सम्पूर्ण मुक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप निर्ग्रन्थ चारित्रदशा आये, उससे ही मुक्तिदशा प्राप्त होती है। बाह्य में वेश धारण कर ले – नग्नता ले ले और पञ्च महाव्रतादि का पालन करे, वह कोई मुनिदशा नहीं है।

प्रतिबन्धरहित सहजदशा होती है।

मुनिराज को तो किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। उनकी सहज शुद्धात्मस्वरूप आत्मा की अरागी निर्विकारी पर्याय, रागादि के किसी भी प्रतिबन्ध से सहजतया भिन्न होती है। भले पर्याय में अस्थिरता का अल्प राग हो, परन्तु बाहर के किसी भी प्रतिबन्ध में वे नहीं रुकते। उनको स्वाभाविक आनन्द, स्वाभाविक शान्ति-चारित्र-वीतरागता आदि सहजदशा हो गई है।

सर्वज्ञ के पथ पर चलनेवाले, अल्प काल में सर्वज्ञदशा प्राप्त करनेवाले - ऐसे उन मुनियों की सहजदशा केवलज्ञान की तलहटी है। तलहटी में नीचे खड़े हैं लेकिन चढ़ने के लिए। यात्रा में पहाड़ पर चढ़ने के लिए पहले तलहटी में जाते हैं न! अहाहा! वह मुनिपना प्रतिबन्धरहित सहजदशा है।

शिष्यों को बोध देने का अथवा ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध नहीं होता। आपको एक घण्टे तक व्याख्यान देना होगा, पाठशाला का इतना ध्यान रखना होगा, आपके नाम की पाठशाला चल रही है, उसके लिये इतना दान दिलवाना होगा - ऐसा कोई प्रतिबन्ध मुनिराज को नहीं होता।

प्रश्न - क्या मुनिराज भगवान के दर्शन करने जाते हैं?

उत्तर - हाँ, जाते हैं परन्तु जाना ही चाहिए - ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है। कहीं जङ्गल में, अतीन्द्रिय आनन्द में रमते हुए, एकाकी निवास करते हों तो नहीं भी जाते। श्रावक को देवपूजा आदि षट्कर्म होते हैं क्योंकि वे अभी गृहस्थाश्रम में हैं।

मुनि तो कहीं वन-जङ्गल में विचरते हैं, उन्हें प्रतिदिन भगवान के दर्शन करना ही चाहिए - ऐसा प्रतिबन्ध नहीं होता। वे तो सदा भगवान आत्मा के दर्शन में, अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में ही लीन रहते हैं। शिष्यों को पढ़ाने का, समाज को उपदेश देने का अथवा दूसरा ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध मुनि को नहीं होता।

अहा! मुनिदशा किसे कहा जाता है?

वह तो विज्ञानघन स्वभाव में अन्तर्निमग्न अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप अद्भुत अनगारदशा है; उन्हें पञ्च महाव्रतादि के विकल्प होते हैं, संयम के हेतु शरीरमात्र परिग्रह होता है, बाकी

तो बहुत-सा विभाव छूट गया है; बाह्य में भी वस्त्र-पात्ररहित निर्ग्रन्थदशा है - ऐसे मुनिराज को कोई भी कार्यभार लेने का बन्धन नहीं होता।

प्रवचनसार की चरणानुयोगसूचक चूलिका में कहा है कि मुनि कर्म -प्रकर्म का अर्थात् किसी भी कार्य की व्यवस्था का बोझ अपने सिर पर लेते ही नहीं। जहाँ वीतरागता प्रगट हुई है, अतीन्द्रिय आनन्द की मौज-मस्ती में लीन हैं, वहाँ उसमें से बाहर निकलना कैसे अच्छा लगेगा ?

अहाहा! जिसे एकाकी होकर सादि-अनन्त काल तक सिद्धरूप रहना है, उसकी साधनदशा भी उसी प्रकार की होती है। वहाँ द्विपना - दूसरों को प्रतिबोध देना आदि प्रतिबन्ध नहीं होते। शिष्य बनाये हैं, इसलिए उन्हें प्रतिदिन घण्टे-दो घण्टे पढ़ाना ही होगा, व्याख्यान देना ही होगा - ऐसा बन्धन नहीं है। पञ्च परमेष्ठियों में ऐसी होती है, साधु की दशा। उसका जिसे ज्ञान नहीं है और जिस-तिस को साधु मान बैठे, उसने पञ्च परमेष्ठी को नहीं पहिचाना; इसलिए उसकी तो व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है।

स्वरूप में लीनता वृद्धिगत होती है।

मुनि को अतीन्द्रिय आनन्द में विशेष लीनता होती ही जाती है। श्रीमद् द्वारा रचित अपूर्व अवसर में समय-समय अनन्तगुने वृद्धिगत संयम परिणाम की बात आती है। जिसे अभी भगवान आत्मा का पूर्ण आश्रय नहीं हुआ है, पूर्ण स्वभाव का आश्रय लेकर मध्यमदशा वर्तती है, उसे समय-समय के परिणाम बढ़ते ही जाते हैं। पूर्ण आश्रय लें तो केवलज्ञान हो जाए। यदि किञ्चित् भी आश्रय न लिया हो तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। मुनि मध्यम आश्रय में, मध्यम वीतरागदशा में वर्तते हैं, उन्हें स्वरूप में लीनता बढ़ती ही जाती है। **अहो! मुनिपना ऐसा होता है।** ●

सर्व जैन मुनियों की दशा

(आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अपूर्व प्रवचन)

आचार्य, उपाध्याय और साधु – इन सर्व मुनियों की दशा कैसी होती है ? – उसका सामान्यरूप से वर्णन करते हैं। जो जैन मुनि हैं, उन सबकी दशा निम्नानुसार होती है –

● विरागी होकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अङ्गीकार करके, अन्तरङ्ग में उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं। ● परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं रखते। ● अपने ज्ञानादिक स्वभावों को ही अपना मानते हैं। ● परभावों में ममत्व नहीं करते। ● परद्रव्य तथा उनके स्वभाव, ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उन्हें जानते तो अवश्य हैं किन्तु इष्ट–अनिष्ट मानकर, उनमें राग–द्वेष नहीं करते। ● शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य में अनेक प्रकार के निमित्त आते हैं किन्तु वे मुनि वहाँ कुछ भी सुख–दुःख नहीं मानते। ● अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसी होती है, वैसी होती है किन्तु उसे खींच–तानकर नहीं करते। ● वे अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते, किन्तु उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं। ● कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है, जिसके द्वारा वे शुद्धोपयोग के बाह्य साधनों में अनुराग करते हैं परन्तु उस रागभाव को भी हेय जानकर, दूर करने की इच्छा करते हैं। ● तीव्र कषाय के उदय के अभाव से हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही उनके नहीं रहा है।

● सर्व मुनियों को ऐसी अन्तरङ्ग दशा होने से बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी होते हैं। ● शरीर-संस्कारादि विक्रिया से रहित होते हैं। ● वन-खण्डादि में वास करते हैं। ● अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं। ● बाईस परीषहों को सहन करते हैं। ● बारह प्रकार के तप को आदरते हैं। ● कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं। ● कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्मक्रिया में प्रवर्तन करते हैं। ● कभी मुनिधर्म को सहकारी, शरीर की स्थिति के हेतु से योग्य आहार-विहारादि क्रिया में सावधान होते हैं।

— इस प्रकार जो जैन मुनि हैं, उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है।

आत्मा के ज्ञानपूर्वक वैराग्य होने से, समस्त परिग्रह छोड़कर अन्तर में शुद्धोपयोग द्वारा तीन कषायों का अभाव होने पर मुनिदशा प्रगट होती है। कैसा है मुनिधर्म ? शुद्धोपयोगरूप है। उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है; अर्थात् मुनि होनेवाले को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो पहले हो चुका है; इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही यह मुनिदशा की बात है – ऐसा समझना चाहिए।

सम्यग्दर्शन के बिना तो चौथा या पाँचवाँ गुणस्थान भी नहीं होता, तब फिर मुनिदशा का छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान तो होगा ही कहाँ से ? पहले मुनि होकर व्यवहारचारित्र का पालन करो और फिर भगवान के निकट जाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करेंगे – ऐसा जो मानते हैं, उन्हें न तो मुनिदशा की खबर है और न सम्यग्दर्शन की खबर है।

सम्यग्दर्शनपूर्वक वैराग्य होने से, वस्त्रादि समस्त परिग्रह छोड़कर अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से शुद्धोपयोगी चारित्र प्रगट हुआ, उसका नाम मुनिदशा है। जैन मुनि ऐसे होते हैं कि वे शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं। शुद्धोपयोगरूप वीतरागीचारित्र ही सच्ची मुनिदशा है; इसके सिवा शुभराग में या शरीर की दिगम्बरदशा में वास्तव में मुनित्व नहीं है। मुनियों के पञ्च महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि होते हैं, वह शुभोपयोग कहीं मुनिदशा नहीं है। मुनि वास्तव में उस शुभोपयोग को नहीं आदरते, किन्तु अन्तर में शुद्धोपयोग को ही आदरते हैं।

केवलज्ञान की साधना शुद्धोपयोग द्वारा ही होती है। छठवें गुणस्थान में भी तीन कषायों के अभावरूप जो निर्विकारी चारित्र है, वही मुनिपना है। वहाँ राग है, वह कहीं मुनिपना नहीं है; मुनि उस राग में या शरीर की क्रिया में ममत्व नहीं रखते।

अपने जो ज्ञानादि स्वभाव हैं, उन्हीं को अपना मानते हैं; इसके सिवाय किसी भी परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं करते और न रागादि परभावों में ममत्व करते हैं। यद्यपि चौथे गुणस्थानवाला सम्यक्त्वी भी अपने ज्ञानादि स्वभाव को ही अपना स्वरूप मानता है और परद्रव्य, राग या परभाव में ममत्व नहीं रखता, किन्तु यहाँ मुनिदशा के योग्य वीतरागी शुद्धोपयोगसहित की बात है।

परद्रव्य में अहंबुद्धि न होने पर भी, परद्रव्य तथा उसके स्वभाव, ज्ञान में स्वयं प्रतिभासित होते हैं; उसे मुनि जानते अवश्य हैं किन्तु उसे इष्ट–अनिष्ट मानकर राग–द्वेष नहीं करते। सम्यक्त्वी को भी पर में इष्ट–अनिष्टपने की बुद्धि तो नहीं है किन्तु अभी राग –द्वेष होता है और मुनिदशा में तो महान् वीतरागता प्रगट हो गयी है। मुनि परवस्तु को जानते ही नहीं – ऐसा नहीं है। आकुलतापूर्वक पर को जानने नहीं जाते, किन्तु परद्रव्य सहज ही ज्ञान में ज्ञात होता है, उसे जानते हैं परन्तु उसमें कहीं भी ममत्व नहीं करते और न कहीं इष्ट–अनिष्टपना मानकर राग–द्वेष करते हैं।

पुनश्च, शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, रोगादि होते हैं और बाह्य में अनेक प्रकार के निमित्त आते हैं किन्तु वे उनमें किञ्चित् सुख–दुःख नहीं मानते। पर में इष्ट –अनिष्टपना मानकर राग–द्वेष नहीं करते और न सुख–दुःख मानते हैं – ऐसी मुनि की दशा होती है। इन्द्र आकर पूजा करें या सिंह–चीते आकर शरीर को फाड़ खायें, उसमें मुनि सुख–दुःख नहीं मानते। यद्यपि सम्यक्त्वी भी पर से सुख–दुःख नहीं मानते, किन्तु मुनि को तो तदुपरान्त स्वरूप की स्थिरता होने से महान वीतरागता हो गयी है; इसलिए हर्ष – शोक नहीं होते।

अपनी मुनिदशा के योग्य बाह्य क्रिया जैसी होती है, वैसी होती है किन्तु उसे खींच –तानकर नहीं करते। उदासीनरूप से सहज ही बाह्य क्रिया होती है। इतने समय में मुझे अमुक स्थान तक विहार करना ही पड़ेगा, अमुक प्रसङ्ग पर मुझे बोलना ही पड़ेगा – ऐसा बाह्य क्रिया का हठाग्रह मुनि के नहीं होता। यहाँ 'मुनिदशा के योग्य' हो – ऐसी बाह्य क्रिया की बात है; जो मुनिदशा में योग्य न हो – ऐसी बाह्य क्रिया मुनि के होती ही नहीं, ऐसा ही मेल है।

मुनि अपने उपयोग को बहुत भटकाते नहीं हैं किन्तु उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं। तीन कषायों का नाश होने से महान वीतरागी स्थिरता प्रगट हुई है, इसलिए उपयोग को बहुत नहीं भटकाते। बाहर की यह बात जान लूँ, वह बात जान लूँ; इतनी पुस्तकें पढ़ लूँ – इस प्रकार जहाँ–तहाँ उपयोग को नहीं ले जाते। यद्यपि अभी स्वरूप में उपयोग पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ है, इसलिए बाह्य में भी जाता है किन्तु उसे अधिक नहीं घुमाते; मुख्यतया तो शुद्धोपयोग की ही साधना करते हैं। मुनियों के शुद्धोपयोग की प्रधानता है और शुभोपयोग गौण है।

कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है; संज्वलनकषाय की कर्मप्रकृति के तीव्र उदय से शुभोपयोग होता है – ऐसा नहीं कहा। संज्वलन के तीव्र उदय से छठवाँ गुणस्थान होता है – ऐसा गोम्मटसार में कहा है, वह निमित्त का कथन है; वास्तव में जीव को स्वयं वैसे मन्दराग का उदय होने से छठवाँ गुणस्थान होता है। मुनियों को बार–बार निर्विकल्पदशा आती ही रहती है, इसलिए शुद्धोपयोग का प्रयत्न वर्तता ही रहता है।

पञ्च महाव्रतादि का विकल्प सदैव बना ही रहे – ऐसा नहीं होता। इसलिए कहा है कि कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है। 'भी' कहकर शुभोपयोग की गौणता बतलायी है; मुख्य उद्यम तो शुद्धोपयोग का ही है। शुभोपयोग के समय मुनि शुद्धोपयोग के बाह्य साधनों में – स्वाध्याय, महाव्रतादि में अनुराग करते हैं परन्तु उस रागभाव को भी हेय जानकर दूर करने की इच्छा रखते हैं।

देखो, यहाँ शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का बाह्य साधन तो कहा है किन्तु उसे हेय कहा है अर्थात् शुभ को हेय करके अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से शुद्धोपयोग प्रगट करे तो उस शुभ को बाह्य साधन कहा जाता है। शुद्धोपयोग का सच्चा साधन तो अन्तरस्वभाव का अवलम्बन ही है।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि मुनि को छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग होता है किन्तु उसके आधार से मुनिपना अवस्थित नहीं है; मुनिपना तो उस समय भी अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से होनेवाली वीतरागी स्थिरता से ही अवस्थित है। मुनिपना, संवर–निर्जरारूप है और शुभोपयोग, आस्रव है। मुनि उस शुभराग को हेय जानते हैं। जो शुभराग को उपादेय मानता है, उसके सच्चा मुनित्व नहीं होता।

जीव की परिणति के तीन प्रकार हैं – शुद्धपरिणति, शुभपरिणति, और अशुभपरिणति। उनमें से मुनि के छठवें गुणस्थान में मुख्यतया शुभपरिणति और गौणरूप से अति मन्दरस से अशुभपरिणति होती है – यह पहले कह चुके हैं। अब कहते हैं कि अशुभपरिणति तो मुनि के होती ही नहीं। मुनियों के तीव्र कषाय के उदय का तो अभाव है; इसलिए हिंसादि अशुभोपयोग की परिणति का तो उनके अस्तित्व ही नहीं रहा है।

यद्यपि करणानुयोग की सूक्ष्म अपेक्षा से तो शास्त्र में छठवें गुणस्थान में भी आर्तध्यान के अशुभपरिणामों का होना कहा है। किसी मुनि के कभी वैसे सूक्ष्म अशुभपरिणाम हो जाते हैं; सामान्यरूप से तो मुनियों को अशुभपरिणति होती ही नहीं। **मुख्यरूप से मिथ्यादृष्टि को ही अशुभपरिणति मानी गयी है। सम्यक्त्वी गृहस्थ के शुभपरिणति की प्रधानता होती है और शुद्धपरिणति गौणरूप से होती है। मुनियों के शुद्धपरिणा मुख्य होती है और शुभपरिणति गौणरूप से होती है; अशुभपरिणति तो उनके मानी ही नहीं गयी है।**

इस प्रकार मुनि की अन्तरङ्गदशा का स्वरूप कहा। वैसी अन्तरङ्गदशापूर्वक बाह्य में कैसी दशा होती है? – वह सब बतलाते हैं। उपरोक्त अन्तरङ्गदशा होने पर बाह्य में मुनि दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी होते हैं। मुनि की बाह्यमुद्रा भी उपशान्त... स्थिर... सौम्य होती है। शरीर के समस्त अङ्ग, विकाररहित उपशान्त हो गये हैं। मुनि को शरीर पर वस्त्रादि नहीं होते और शरीर-संस्कारादि विक्रिया भी उनके नहीं होती। देखो, यह अन्तरङ्गदशासहित की बात है।

अन्तर में तीन कषायों का नाश होकर शुद्धोपयोगरूप वीतरागी मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ बाह्य में शरीर की दिगम्बर सौम्यमुद्रा न हो – ऐसा नहीं हो सकता। तथा अन्तरङ्ग में शुद्धोपयोगरूप मुनिदशा प्रगट हुए बिना, मात्र बाह्य में दिगम्बर हो तो उसे मुनिदशा नहीं कहा जाता। इसलिए अन्तरङ्ग और बाह्यदशा का जैसा मेल है, वैसा जानना चाहिए।

जैन मुनियों के तो अन्तर की शुद्धोपयोग दशापूर्वक बाह्य में दिगम्बर द्रव्यलिङ्ग होता है। अन्तरदशा को जाने बिना अकेले बाह्य के द्रव्यलिङ्ग से ही जो अपने को मुनित्व मानता है, वह तो संसारतत्त्व ही है। मिथ्यादृष्टि जीव, द्रव्यलिङ्गी हो जाए, तथापि उसने संसार

किञ्चित् भी नहीं छोड़ा है क्योंकि वह उदयभाव में ही अवस्थित है; इसलिए संसार में ही पड़ा है और सम्यक्त्वी धर्मात्मा, गृहस्थपने में हो तथापि उसे सम्यग्दर्शनादिरूप जो उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभाव प्रगट हुआ है, उसके उतना संसार छूट गया है।

मिथ्यात्वादि छूटने पर अनन्त संसार तो उसके छूट गया है; इसलिए मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को श्रेष्ठ कहा है। मिथ्यादृष्टि मुनि तो संसारमार्गी है और सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्गी है। यहाँ तो सच्चे भावलिङ्गी मुनियों की बात है। जहाँ अन्तरङ्ग दशापूर्वक बाह्य दिगम्बरदशा न हो, वहाँ मुनित्व नहीं होता। अन्तरङ्ग में मुनिदशा की शुद्धता प्रगट हुई हो और गृहवास में रहते हों – ऐसा कदापि नहीं हो सकता; मुनि तो जंगल में, वनखण्ड आदि में वास करते हैं।

पुनश्च, मुनि, अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्ड पालन करते हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलोंच, स्नानरहितता, नग्नता, अदन्त-धावन, भूमिशयन, स्थिति-भोजन और एक बार आहार-ग्रहण – इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुण हैं; उनमें मुनि विपरीतता नहीं आने देते।

जहाँ नग्नता के बदले सवस्त्रता हो, स्थिति भोजन अर्थात् खड़े-खड़े हाथ में आहार लेने के बदले बैठे-बैठे या बर्तनादि में आहार हो, तथा दिन में एक ही बार आहार के बदले अनेक बार आहार हो; इत्यादि प्रकार से मूलगुणों में भङ्ग हो, वहाँ मुनिदशा नहीं होती; तथापि उसमें जो मुनिदशा माने, उसे मुनि की पहिचान नहीं है; इसलिए गुरुपद की उसे खबर नहीं है।

यहाँ तो अन्तर की शुद्धोपयोगदशासहित अट्ठाईस मूलगुणों की बात है। अन्तरङ्गदशा के बिना, मात्र शुभराग से अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करे तो वह द्रव्यलिङ्ग है किन्तु उसके वास्तव में मुनिदशा नहीं है और अट्ठाईस मूलगुणों में भी जिसके विपरीतता हो, उसके तो (भले ही शरीर की दिगम्बरदशा हो, तथापि) द्रव्यलिङ्ग भी सच्चा नहीं है।

मुनि, बाईस परीषह सहन करते हैं। मार्ग से अच्युतपने के लिए तथा निर्जरा के हेतु परीषह सहन करना कहा है अर्थात् जिसके अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग प्रगट हुआ हो, उसके उस मार्ग से अच्युतिरूप परीषहजय होता है किन्तु जिसके अभी मार्ग ही प्रगट

नहीं हुआ – ऐसे मिथ्यादृष्टि के परीषह नहीं होता। परीषह कहीं दु:ख नहीं है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि के दु:ख सहन करने को अज्ञानी लोक, परीषहजय कहते हैं किन्तु वह बात सत्य नहीं है। जिसमें दु:ख मालूम हो या अन्तरङ्ग में राग-द्वेष हो, वह परीषह नहीं है; जिसमें दु:ख का अनुभव हो, वह तो पापभाव है।

अथवा राग-द्वेष की उत्पत्ति होने पर उसे जीतना, वह परीषहजय है – ऐसा कोई कहे तो वह भी सत्य नहीं है (क्योंकि जब राग-द्वेष की उत्पत्ति हो ही गयी तो उसे जीतना कैसे सम्भव है)। 'मार्ग से अच्युतपना' अर्थात् वीतरागभावरूप मार्ग से च्युत होकर, राग-द्वेष की उत्पत्ति का ही न होना, वह परीषहजय है किन्तु राग-द्वेष हो, उतना तो मार्ग से च्युतपना है, वह परीषहजय नहीं है। मुनि को अन्तर में स्वरूप-स्थिरता द्वारा मार्ग प्रगट हुआ है और चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग आयें तो भी वे राग-द्वेष नहीं करते और मार्ग से च्युत नहीं होते; उनके परीषहजय है, वह निर्जरा का कारण है।

पुनश्च, मुनि बारह प्रकार के तप भी आदरते हैं। कभी-कभी ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं। मुनियों को छठवें गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक होता ही नहीं; बार-बार सातवें गुणस्थान की निर्विकल्पदशा तो होती ही रहती है, तदुपरान्त निर्विकल्प ध्यान में विशेष एकाग्रता का प्रयत्न करते हैं।

घण्टों तक निद्रा में पड़े रहें, वहाँ तो विशेष प्रमाद है; ऐसा प्रमाद हो, वहाँ मुनिदशा नहीं होती। मुनि को स्वरूप की जागृति खूब होती है; इसलिए बार-बार निर्विकल्प अप्रमत्तदशा आती ही रहती है; एक साथ अन्तर्मुहूर्त से अधिक निद्रा मुनि के नहीं होती। मुनि, ध्यान में एकाग्रता द्वारा अन्तर में लीन रहने का बार-बार प्रयत्न करते रहते हैं। कभी अध्ययनादि बाह्य क्रिया में वर्तते हैं और कभी मुनिधर्म को सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु आहार-विहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं।

इस प्रकार शुद्धोपयोग से लेकर आहारादि का वर्णन करके मुनि की अन्तर और बाह्यदशा कैसी होती है ? वह बतलाया। उसमें, सच्चा तो अन्तर में जो शुद्धोपयोगी वीतरागी चारित्र है, वही मुनित्व है; उसके साथ शुभराग कैसा होता है ? और बाह्य निमित्त कैसे होते हैं ? – वह बतलाया। जो जैन मुनि हैं, उन सबकी उपरोक्त अनुसार ही अन्तर तथा बाह्यदशा होती

है; उससे विपरीत हो तो वह जैन मुनि नहीं है; जैन के सिवाय अन्य में तो कभी सच्ची मुनिदशा होती ही नहीं।

ऊपर मुनिदशा का जैसा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग स्वरूप बतलाया, वैसी ही अवस्था सर्व जैन मुनियों की होती है, उसमें कोई अपवाद नहीं है। जो भी जैन मुनि हों, आचार्य हों, उपाध्याय हों या साधु हों; चौथे काल के हों या पञ्चम काल के; महाविदेह के हों या भरतक्षेत्र के; जिनकल्पी हों या स्थिवरकल्पी – उन सब जैन मुनियों की दशा उपरोक्त अनुसार ही होती है; उसमें यदि विपरीतता हो तो वह जैन मुनि नहीं है – ऐसा समझना। **'णमो लोए सव्व साहूणं'** –ऐसा कहा, उसमें ऐसी दशावाले सर्व साधुओं का समावेश हो जाता है; जो इससे विपरीत हों, उनका समावेश इसमें नहीं होता।

धन्य मुनिदशा !

अहो ! मुनिदशा तो अलौकिक पद है, मुनि तो परमेष्ठी पद में सम्मिलित हो गये हैं। ●

(- आत्मधर्म क्रमाङ्क-132, अप्रेल 1956 से साभार)

पञ्चम काल में तीर्थङ्कर से भेंट : अद्भुत पात्रता....

यह कुन्दकुन्द भगवान की वाणी है, जिनकी इस पञ्चम काल में साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान सीमन्धरनाथ से भेंट हुई है। **अहो! इस पञ्चम काल में भरतक्षेत्र के जीव को अन्य क्षेत्र के तीर्थङ्कर का सदेह, साक्षात् मिलना हो, वह कैसी पात्रता! और भरतक्षेत्र के जीवों का भी कैसा भाग्य!!** चैतन्य की महिमा का घोलन करते-करते यथार्थ निर्णय लेकर स्व-संवेदन में भी ऐसा ही आता है कि अहो ! मेरी वस्तु ही परिपूर्ण है, तब वह जीव पूर्णता के पन्थ में गतिमान हुआ। उसे अपने परमात्मा से भेंट हुई और वह वीर होकर वीर के मार्ग में सम्मिलित हुआ। यह है महावीर का सन्देश, जिसे सन्तों ने झेला और अन्तर में साधा।

(- आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-21, अङ्क-241, पृष्ठ-12)

यदि दुःख से परिमुक्त होना हो तो....

(प्रवचनसार गाथा 201 पर गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं॥ 201॥

अर्थात् यदि दुःखों से परिमुक्त होने की (छुटकारा पाने की) इच्छा हो तो, पूर्वोक्त प्रकार से (ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन की प्रथम तीन गाथाओं के अनुसार) बार-बार सिद्धों को, जिनवरवृषभों को (अरहन्तों को) तथा श्रमणों को प्रणाम करके, (जीव) श्रामण्य को अङ्गीकार करो।

यदि तुम्हें दुःखों से सम्पूर्णरूप से मुक्त होना हो तो मैं तुम्हें उसका उपाय बताता हूँ। आचार्य भगवान कहते हैं कि चौरासी के अवतार में एकत्वबुद्धि से दुःख लगा हो और यदि अब उनसे समस्त प्रकार से छूटना हो तो मुनिपना अङ्गीकार करो। देखो, इससे यह निश्चित होता है कि —

1. वर्तमान अवस्था में दुःख है, यदि वर्तमान में दुःख न हो और अनादि से पर्याय में भी सुखी हो तो दुःख का अभाव करना है और सुख प्रगट करना है - ऐसी इच्छा नहीं हो सकती।

2. वह दुःख संयोगी वस्तुओं में, शरीर में अथवा प्रतिकूल संयोगों में नहीं है; यदि परवस्तु के कारण दुःख हो तो कभी दुःखरहित नहीं हुआ जा सकता।

3. स्वज्ञेय को चूककर परज्ञेय में अपनापन मानकर सुख मानना, वह दु:ख है और वह एक समय की अवस्था है।

4. आत्मा के स्वभाव में दु:ख हो तो दु:ख, आत्मा का स्वभाव हो जाएगा और इस कारण कभी दु:खरहित नहीं हुआ जा सकेगा; इसलिए पर्याय में दु:ख होने पर भी आत्मा, स्वभाव से निरूपाधि सुखस्वरूप है।

5. उस स्वभाव के लक्ष्य से श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करने से दु:ख का नाश होकर सुख उत्पन्न हो सकता है।

6. पर्याय परिवर्तित होती है और सुख-दु:ख दोनों अवस्थाओं के समय ध्रुव स्वभाव कायम रहता है।

7. इस प्रकार श्रद्धा-ज्ञान तो सम्यग्ज्ञानी ने किया है परन्तु अस्थिरता के कारण शुभाशुभभाव वर्तते हैं। इतना भी आसक्ति / अस्थिरता का दु:ख है; इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि तुम्हें समस्त प्रकार से दु:ख से रहित होना हो तो पञ्च परमेष्ठी को वन्दन करके बाह्य-अभ्यन्तर मुनिपना अङ्गीकार करो।

आचार्य भगवान कहते हैं कि दु:ख से मुक्त होने के लिए मैंने जैसा किया, वैसा तुम भी करो। शुभाशुभपरिणाम दु:ख हैं, विकृतस्वभाव हैं, उस दु:ख से रहित होने के लिए पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार करके मैंने मुनिपना अङ्गीकार किया है।

पञ्च परमेष्ठी को देह से नमस्कार करके, वचन से स्तुति करके नमस्कार किया और मुनिपना अङ्गीकार किया। वह मुनिपना ऐसा है कि जिसमें विशुद्ध दर्शन और ज्ञान प्रधान है। इसीलिए निश्चित हुआ कि आत्मा शरीरादि की क्रिया से रहित है, पुण्य-पाप जितना नहीं है; शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप है - ऐसे आत्मा के सम्यग्ज्ञान बिना मुनिपना नहीं हो सकता। इस शास्त्र में कथित ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन व ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन, इन दो अधिकारों की रचना से हमारा मुनिपना विशेष दृढ़ हुआ है। हमें आत्मा का भान तो था, अन्तर में पुण्य-पाप की वृत्तिरूप वस्त्रों का परित्याग किया, स्वरूप में रमणता बढ़ गयी और बाह्य में नग्न-दिगम्बरदशा वर्तती है - ऐसा मुनिपना हमने अङ्गीकार किया है। सम्यग्ज्ञान और श्रद्धा के बिना मात्र नग्नदशा

धारण करे, वह मुनिपना नहीं है। स्वरूप के भान के पश्चात् अन्तर–दशा में वृद्धि होने पर शरीर की बाह्य नग्नदशा होती है, वहाँ वस्त्र हों – ऐसा नहीं होता है।

इस प्रकार तुम्हें संसार के समस्त दु:खों से छूटना हो तो तुम भी आत्मा की सच्ची श्रद्धा–ज्ञान करके, पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार करके, हमने जैसा मुनिपना अङ्गीकार किया है, वैसा तुम भी अङ्गीकार करो। वह मुनिपना अङ्गीकार करने का जैसा हमने अनुभव किया है, उस मार्ग के प्रणेता हम यह खड़े हैं। चारित्र कैसे पालना ? मुनिदशा कैसी होती है ? यह जानना हो तो अनुभवसहित हम इस मोक्षमार्ग में खड़े हैं, तुम भी चले आओ!

सुनो! तत्त्वज्ञान के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपना नहीं होता और मुनि के चारित्र बिना मुक्ति नहीं होती। इसलिए प्रथम आत्मा का श्रद्धा–ज्ञान होना चाहिए, पश्चात् विशेष लीनता होने पर सहज मुनिपना आता है, हठ से नहीं आता है। जिस साधुपद को गणधर का नमस्कार पहुँचता है, वह साधुपना ऐसा–वैसा नहीं है। साधुपना अर्थात् केवली भगवान के वजीर। वह साधुपद प्राप्त करना हो तो हम यह खड़े हैं।

देखो, आचार्य महाराज की सिंहवृत्ति–उग्र पुरुषार्थ! आचार्य महाराज कहते हैं कि चले आओ मोक्षमार्ग में, उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं। ●

दीक्षार्थी द्वारा परिवार को सम्बोधन

(प्रवचनसार गाथा 202 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

ज्ञानतत्त्व का निर्णय करने के पश्चात् जब मोक्षार्थी जीव, चारित्रदशा अङ्गीकार करने जाता है, तब कुटुम्ब-परिवार से अतिशय वैराग्यपूर्वक विदा लेता है; उसका वर्णन मुमुक्षु के चित्त को संसार से एकदम उदासीन कर देता है। दुःख से सर्वथा छूटने का अभिलाषी वह मोक्षार्थी जीव, जब चारित्रवान् श्रीकुन्दकुन्दस्वामी जैसे आचार्य भगवन्तों के निकट जाकर, उनके चरणों में गिरकर इष्ट की प्रार्थना करता है — 'प्रभो! मुझे शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप सिद्धि से अनुगृहीत करो।' पश्चात् श्रीगुरु उसे दीक्षा देकर कहते हैं — 'ले, यह शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप सिद्धि।' बस, फिर दीक्षित हुआ वह जीव, निर्विकल्प ध्यान द्वारा मुनि होकर मोक्षमार्ग में विचरता है।

ऐसे 'दीक्षा महोत्सव' का आनन्दकारी वर्णन सुनकर आत्मा प्रशान्तरस में झूलने लगता है... अहा! मानो मुनिवरों के समूह अपने सन्मुख विराजमान हों और शान्तरस की फुहारें बरस रही हों — ऐसी शान्त ऊर्मियाँ पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन सुनते समय उल्लसित होती थीं.... और ऐसी भावना जागृत होती थी कि अहा! परमात्मा के पथ पर विचरते हुए कोई ऐसे वीतरागी सन्त मुनि पधारें तो हम उनके पीछे-पीछे चले जाएँ....।

अहा! गुरुदेवश्री कहते हैं कि जिसे मोक्ष साधना हो, उसे ऐसी मुनिदशा का चारित्र अङ्गीकार करना ही होगा। जिसमें शुद्धोपयोग का बल है और जो अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर

है — ऐसी मुनिदशा की अपार महिमापूर्वक यह प्रवचन पढ़ो... और ऐसी मुनिभावना का मङ्गल आनन्द मनाओ।

प्रवचनसार में प्रथम दो अधिकारों द्वारा ज्ञानतत्त्व और स्व-पर ज्ञेयतत्त्वों का स्वरूप बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि हमारा आत्मा इस संसार के दु:ख से मुक्त होने का अर्थी था, इसलिए हमने ऐसे ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व का यथार्थ निर्णय किया है। पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों को भावनमस्कार करके हमने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त शुद्धोपयोग द्वारा वीतरागी साम्यभावरूप मुनिदशा प्रगट की है। हम अपने अनुभव से कहते हैं — **'हे जीवों! दु:ख छूटने के लिए तुम भी इसी मार्ग को अङ्गीकार करो। जिसका आत्मा दु:खों से मुक्त होने का अर्थी हो, वह हमारी भाँति सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रदशा अङ्गीकार करो। वह चारित्रदशा अङ्गीकार करने का जो यथानुभूत - अनुभव किया हुआ मार्ग, उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं।'**

वाह! मानों आचार्य भगवान सामने साक्षात् ही खड़े हों और शिष्यजनों को मुनिदीक्षा की प्रेरणा करते हों - ऐसा अद्भुत वैराग्यरसपूर्ण वर्णन इस चारित्र अधिकार में है।

अहा! देखो, यह दु:ख से छूटने का मार्ग! साधुदशा क्या वस्तु है? इसकी लोगों को खबर नहीं है। अन्तर में जिसने चैतन्यनिधान देखे हों, जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई हो और चैतन्य का भण्डार खोलने के प्रयत्न में जो सतत परायण वर्तता हो — ऐसे जीव को चैतन्य में लीनता से चारित्रदशा एवं साधुदशा होती है। आचार्य भगवान नि:शङ्कतापूर्वक कहते हैं कि ऐसी दशा हमें प्रगट हुई है, अपने स्वानुभव से हमने उसका मार्ग जाना है... अन्य जो मुमुक्षु दु:ख से छूटने के लिए चारित्रदशा ग्रहण करना चाहते हों, उन्हें मार्ग बतलाने के लिए हम यह खड़े हैं।

जिसे सम्यग्दर्शन हुआ हो, ज्ञानज्योति झलकी हो और अब मुनि होकर चैतन्य के पूर्णानन्द को साधना चाहता हो, कषायों के क्लेशरूप दु:खों से अत्यन्तरूप से छूटकर चैतन्य की परम शान्ति में स्थिर होना चाहता हो, वह जीव क्या करता है? पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों को पुन:पुन: नमस्कार करके जो मुनि होना चाहता है, वह मुमुक्षु प्रथम तो वैराग्यपूर्वक बन्धुवर्ग से विदा लेता है —

'अहो, इस पुरुष के शरीर के बन्धुवर्ग में वर्तनेवाले आत्माओं! इस पुरुष का आत्मा किञ्चित् भी तुम्हारा नहीं है — ऐसा निश्चय से तुम जानो। ज्ञानतत्त्व के निश्चय द्वारा सर्वत्र ममता छोड़कर, अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है - ऐसा मैं आज आत्मारूपी मेरा जो अनादि बन्धु है, उसके निकट जाता हूँ। अरे, समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न, मैं तो एक ज्ञानस्वरूप अनादि-अनन्त चैतन्य हूँ; मेरा सच्चा बन्धुवर्ग तो ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुण हैं — जो कि सदा मेरे साथ ही हैं; बाहर यह जो सगे-सम्बन्धी हैं, वे सचमुच मेरे नहीं हैं। हम अब निर्मोह होकर चैतन्य की शुद्धता को साधने के लिए वन में जायेंगे।'

देखो, यह धर्मी का वैराग्य! चैतन्य की धुन लगी... वैराग्य की मस्ती आयी... वह अब संसार के बन्धन में नहीं रहेगा। हमारा आत्मा संसार के क्लेश से थका है... हमारा स्थान अब वन में चैतन्य की शान्ति में ही है। वन के सिंह-बाघों के बीच जाकर हम अपने चैतन्य की साधना करेंगे और समभाव में रहेंगे। चैतन्यतत्त्व की प्रतीति और अनुभूति तो पहले हो चुकी है, अब उसकी पूर्णता को साधने के लिए इस प्रकार वैराग्यपूर्वक मोक्षार्थी जीव मुनि होता है —

'हे बन्धुवर्ग के आत्माओं! मैं किञ्चित् भी तुम्हारा नहीं हूँ और न तुम किञ्चित् भी मेरे हो — ऐसा निश्चय से जानो! एक ज्ञानस्वभाव ही हमारा है; जगत में अन्य कुछ भी हमारा नहीं है — ऐसा मैंने जाना है, मुझे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है। अपना चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मेरा सच्चा बन्धु है, उसे मैंने जान लिया है; इसलिए अपने अनादि सच्चे बन्धु के पास मैं जा रहा हूँ... अब मैं मोहरहित होकर अपने चैतन्य की शान्ति में रहूँगा और सिद्धपद को साधूँगा।'

देखो, यह ज्ञानी का वैराग्य! यह चारित्रदशा की तैयारी! वह वैरागी जीव, पिता एवं माता के पास जाकर वैराग्यपूर्वक कहता है —

'हे पिता! हे माता! इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे आत्मा से उत्पन्न नहीं हुआ है — ऐसा निश्चय से तुम जानो। मैंने अपने आत्मा को सबसे भिन्न जाना है, इसलिए अब सबके साथ का मोह-सम्बन्ध छोड़कर, वैराग्यपूर्वक मैं अपने आत्मा को साधना

चाहता हूँ, आप मुझे अनुमति प्रदान करो। जिसके ज्ञानज्योति प्रगट हुई है — ऐसा यह आत्मा, आज अपने आत्मा के पास जाता है अर्थात् स्वयं अपने में लीन होता है। आत्मा ही अपना अनादि का जनक है, स्वयं ही अपनी निर्मल-पर्यायरूप प्रजा का उत्पादक है - ऐसे अपने आत्मा को हमने अनुभव में लिया है और अब मुनि होकर आत्मा के केवलज्ञान निधान को खोलेंगे।'

— ऐसी भावना से पिता-माता के पास जाकर विनयपूर्वक आज्ञा लेता है। अहा, धर्मकाल में तो ऐसे अनेकानेक प्रसङ्ग बनते थे। छोटे-छोटे राजकुमार भी अन्तरात्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करके वैराग्य प्राप्त करते और दीक्षा लेते थे। छोटे-से हाथ में छोटा-सा कमण्डलु और पीछी लेकर महान चैतन्य की धुन में मस्त वे मुनि चले आते हों... **अहा, मानों वे तो छोटे से सिद्धभगवान!** वर्तमान काल में यहाँ तो ऐसे मुनिराज के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। अरे, तत्त्वज्ञान भी जहाँ दुर्लभ हो गया है, वहाँ मुनिदशा की तो क्या बात?

मुनिदशा के पीछे तो ज्ञायकतत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान का अपार बल है, तदुपरान्त शुद्धोपयोगी वीतरागपरिणाम हों, तब मुनिदशा होती है। मुनिदशा तो परमेष्ठीपद है। इन्द्र और चक्रवर्ती भी भक्ति से उसका आदर करते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने की जिसमें तैयारी है — ऐसी मुनिदशा की महिमा का क्या कहना? आचार्यदेव कहते हैं कि जिन्हें दुःख से मुक्त होना है, वे ऐसी चारित्रदशा अङ्गीकार करें! ऐसी दशा के बिना मोक्ष नहीं होता।

आत्मज्ञान के पश्चात् परम वैराग्य से जो मुनि होने को उद्यत हुआ है, वह मुमुक्षु माता-पिता-स्त्री-पुत्रादि के पास अनुमति लेने जाता है। कोई-कोई जीव, सगे-सम्बन्धियों की आज्ञा न लें और सीधे जाकर मुनि हो जाएँ — ऐसा भी होता है परन्तु जो जीव आज्ञा माँगते हैं, वे कैसे वैराग्यभाव से माँगते हैं — उसका यह वर्णन है। उन जीवों ने अपने आत्मा को जिस प्रकार शरीर से भिन्न जाना है; उसी प्रकार सामनेवाले आत्माओं को भी शरीर से भिन्न जाना है; इसलिए वह स्त्री के आत्मा को सम्बोधित करते हुए कहता है —

'हे रमणी के आत्मा! मेरे इस ज्ञानमय आत्मा को रमानेवाला तू नहीं है — ऐसा तू निश्चय से जान! मैंने अपने चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख को जान लिया है, उसी सुख में अब मैं रमण करूँगा। मुझे स्वप्न में भी बाह्य विषयों में सुख भासित नहीं होता; अब

तो मेरी स्वानुभूतिरूपी जो अनादि रमणी है, उसी में मैं रमणता करूँगा... जिसे ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है — ऐसा मैं, आज अपनी स्वानुभूतिरूपी रमणी के पास जा रहा हूँ... इसलिए तू मुझे विदा दे!'

इसी प्रकार पुत्र या भाई-बहिन आदि हों, उनके आत्मा से भी कहता है —

'हे आत्माओं! यह आत्मा तुम्हारा किञ्चित् भी नहीं है और तुम भी इस आत्मा के किञ्चित् नहीं हो। हे पुत्र के आत्मा! मैंने पिता होकर पुत्र के आत्मा को उत्पन्न नहीं किया है। हे पुत्र! तेरा आत्मा अनादि सत् पदार्थ है, उसे मैंने उत्पन्न नहीं किया; इसलिए वास्तव में तू मेरा जन्य नहीं है — ऐसा जानकर तू इस आत्मा का मोह छोड़! मेरा सच्चा जन्य जो निर्मल पर्यायरूपी सन्तति, उसके निकट मैं जाता हूँ। मुझे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, मेरा आत्मा ही मेरा अनादि जन्य है, वही अनादि बन्धु है, उसे मैंने जाना है; अब मैं उसके पास जाता हूँ, उसमें लीन होता हूँ; इसलिए हे बन्धुजनों! तुम इस आत्मा के मोह को छोड़ो... और मुझे विदा दो!'

इस प्रकार बन्धुजनों से विदा लेकर वह मुमुक्षु जीव, पञ्चाचार को अङ्गीकार करता है और उत्तम गुणवन्त आचार्य के निकट जाकर विनयपूर्वक दीक्षा माँगता है। दीक्षा हेतु जाने से पूर्व वह मुमुक्षु वैराग्य से कुटुम्बीजनों को सम्बोधन करके आज्ञा माँगता है, तब उसके तत्त्वज्ञान भरपूर वैराग्य वचन सुनकर अन्य सुपात्र जीव भी ज्ञान-वैराग्य को प्राप्त होते हैं।

जिसका आत्मा जागृत हुआ है और जिसकी अन्तर परिणति में वैराग्य का प्रवाह उमड़ा है, वह किसी दूसरे के कारण संसार में नहीं रुकता; उसे माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री-पुत्रादि का ममत्व छूट गया है; इसलिए उन सबको छोड़कर, मुनि होकर केवलज्ञान साधने के लिए वन में जाता है। जैसे, पिंजरे से छूटा हुआ सिंह फिर पिंजरे में बन्द नहीं होता; उसी प्रकार जिसने आत्मा के ज्ञानपूर्वक मोह का पिंजरा तोड़ दिया है, वह अब संसार में नहीं रहेगा।

इस प्रकार वैराग्यपूर्वक बन्धुजनों की विदा लेकर मुनि होने को निकला हुआ वह धर्मात्मा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्य के व्यवहार पञ्चाचार को अङ्गीकार करता है परन्तु उन्हें किस प्रकार अङ्गीकार करता है ? - उन्हें शुद्ध आत्मा से भिन्न जानकर हेयबुद्धि से

अङ्गीकार करता है। उन्हें तब तक के लिए अङ्गीकार करता है, जब तक शुद्धात्मा में लीन न हुआ जा सके। शुद्धात्मा में लीन होने पर वे पञ्चाचार के विकल्प छूट जाएँगे। ज्ञानाचार में ज्ञान का बहुमान, गुरु की विनय आदि के भाव होते हैं। दर्शनाचार में धर्म-वात्सल्य आदि अङ्ग हैं। चारित्राचार में पञ्च महाव्रत के पालन का भाव है। इसी प्रकार वीर्य एवं तप के आचार सम्बन्धी शुभभाव भी शुद्धात्मा से भिन्न हैं — ऐसा तो प्रथम स्वानुभूति द्वारा जाना है।

निश्चय से पञ्चाचार के विकल्प आत्मा का स्वरूप नहीं हैं परन्तु जब तक शुद्धात्मा की उपलब्धि न हो, तब तक भूमिकानुसार अंशतः शुद्धपरिणति के साथ वैसे विकल्प भी होते हैं; उनसे विपरीत विकल्प नहीं होते, इसलिए व्यवहार से उन्हें अङ्गीकार करता है — ऐसा कहा है परन्तु उन्हें अङ्गीकार करते समय ही मुनि होनेवाले को प्रतीति है कि यह मेरे आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है। जहाँ शुद्धपरिणति तो हुई है परन्तु अभी शुद्धोपयोग द्वारा अन्तर में लीनता नहीं हो पाती, किञ्चित् कषायपरिणति शेष रह गई है, वहाँ अशुभपरिणाम के अभाव में ऐसे ही शुभपरिणाम (पञ्चाचारादि) होते हैं। पश्चात् शुद्धपरिणति की उग्रता होने पर वे भी छूट जाते हैं; इसलिए उपचार से ऐसा कहा है —

'हे पञ्चाचार! तुम्हारे प्रसाद से जब तक शुद्ध आत्मा की उपलब्धि करूँ, तभी तक तुम्हें अङ्गीकार करता हूँ।'

मुनिराज को पञ्चाचार का राग हमेशा रखने की भावना नहीं है परन्तु शुद्धस्वरूप में लीनता की ही भावना है। यदि राग से ही लाभ मान ले अर्थात् उसमें उपादेयबुद्धि करे तो कहीं उसके प्रसाद से शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु अज्ञान होता है। यहाँ तो जिसने पहले से अपने ज्ञानतत्त्व को समस्त परभावों से भिन्न जाना है, अनुभव किया है और उसी में एकाग्र होकर जो प्रशान्त होने को तत्पर हुआ है — ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को मुनिदशा में चारित्र की शुद्धपरिणति के साथ पञ्चाचारादि का कैसा व्यवहार होता है? - उसकी पहिचान करायी है। उसका विस्तृत वर्णन इस प्रवचनसार के चारित्राधिकार में आचार्यदेव ने अलौकिक रीति से किया है।

इस प्रकार दुःख से मुक्त होने का अभिलाषी मुमुक्षु जीव, वैराग्यपूर्वक कुटुम्ब-परिवार से विदा लेता है, पञ्चाचार को अङ्गीकार करता है और पश्चात् शुद्धात्मा की उपलब्धि को

साधनेवाले महागुणवान् आचार्य भगवान के निकट जाकर वन्दन करता है और विनयपूर्वक प्रार्थना करता है —

'हे प्रभु! इस संसार के दुःखों से छूटने और शुद्धात्मा की प्राप्ति करने के लिए मैं आपकी शरण में आया हूँ; इसलिए शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप सिद्धि से मुझे अनुगृहीत करो।'

तब आचार्य भगवान उस पर अनुग्रह करके मुनिदशा देते हैं —

'ले, इस प्रकार तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि हो।'

वाह, देखो तो, मानो साक्षात् मुनिदशा को अङ्गीकार करने का वह प्रसङ्ग आज ही बन रहा हो! और श्रीकुन्दकुन्दस्वामी इसी समय चारित्रदशा अङ्गीकार करवा रहे हों! — ऐसा भावभीना वर्णन है।

इस प्रकार, मुमुक्षु शिष्य द्वारा प्रार्थना करके माँगी हुई इष्ट मुनिदशा को आचार्य भगवान ने उसे देकर अनुगृहीत किया....। पश्चात् —

णाहं होमि परसिं, ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो, जादो जधजादरूवधरो॥

(- प्रवचनसार, चरणानुयोगचूलिका, गाथा 204)

अर्थात् मैं पर का नहीं हूँ, पर पदार्थ मेरे नहीं हैं; इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है, पर के साथ मेरा तत्त्वतःकुछ भी सम्बन्ध नहीं है; मैं तो शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। छह द्रव्यों से भरे हुए इस लोक में मेरे एक ज्ञानतत्त्व के सिवाय अन्य कुछ भी मेरा नहीं है — ऐसे निश्चयवाला वह जीव, पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर अर्थात् इन्द्रियों और मन को जीतकर, उनकी ओर से उपयोग को हटाकर, जितेन्द्रिय होकर, उपयोग को अपने शुद्धात्मतत्त्व में लीन करता हुआ शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है... अप्रमत्त होकर मुनिदशा प्रगट करता है... आत्मद्रव्य का जैसा सहज शुद्धस्वरूप है, वैसा प्रगट करके यथाजात रूपधर बनता है — ऐसी चारित्रदशा वह मोक्ष की साधक है।

नमस्कार हो, उन चारित्रवन्त मुनि भगवन्तों के चरणों में! ●

मुनिदशा : अन्तरङ्ग–बहिरङ्ग लिङ्ग

(श्रीप्रवचनसार परमागम की गाथा 205 से 207 पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

परमपूज्य दिगम्बर जैन आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार परमागम में मुनिदशा के स्वरूप का अद्‌भुत वर्णन किया है। मुनिदशा के अन्तरङ्ग–बहिरङ्ग लिङ्ग का स्वरूप निम्न गाथाओं में व्यक्त किया गया है —

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥ 205॥

मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥ 206॥

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो॥ 207॥

अर्थात्, 1. जन्मसमय के रूप जैसा रूपवाला, 2. सिर और दाढ़ी–मूछ के बालों का लोंच किया हुआ, 3. शुद्ध; अर्थात्, अकिञ्चन, 4. हिंसादि से रहित, और 5. प्रतिकर्म; अर्थात्, शारीरिक शृङ्गार से रहित — ऐसा **श्रामण्य का बहिरङ्ग लिङ्ग** है॥ 205॥

1. मूर्च्छा; अर्थात्, ममत्वरहित, 2. आरम्भरहित, 3. उपयोग की शुद्धिसहित, 4. योग की शुद्धिसहित, और 5. पर की अपेक्षारहित — ऐसा जिनेन्द्रदेव कथित **श्रामण्य का अन्तरङ्ग लिङ्ग,** मोक्ष का कारण है॥ 206॥

परम गुरु के द्वारा प्रदत्त उन दोनों लिङ्गों को ग्रहण करके, गुरु को नमस्कार करके व्रतसहित क्रिया को सुनकर उपस्थित (आत्मा के समीप स्थित) होता हुआ, वह **श्रमण** होता है ॥ 207 ॥

अब, अनादि-संसार से अनभ्यस्त होने से जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है और अभिनव अभ्यास में कौशल्य द्वारा जिसकी सिद्धि उपलब्ध होती है – ऐसे इस यथाजातरूपधरपने के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग, दो लिङ्गों का उपदेश करते हैं।

यथाजातरूपधरपना अनादि से अनभ्यस्त है और नवीन या अभिनव अभ्यास की कुशलता से वह वीतरागी निर्ग्रन्थदशा प्राप्त होती है। वीतरागी भावलिङ्ग का पूर्व में कभी अभ्यास नहीं किया और अब नवीन अभ्यास से उसकी सिद्धि होती है, उसके अन्तरङ्ग और बाह्यलिङ्गों का उपदेश यहाँ किया जा रहा है।

देखो, पर के सम्बन्धरहित ज्ञानस्वभावी आत्मा का भान होने के पश्चात्, यह मुनिदशा होती है। वह दशा कैसी है ? बाह्य में जन्मसमय के रूपवाला शरीर है; अर्थात्, वस्त्र-पात्र आदि कुछ नहीं है। जो वस्त्रादिसहित मुनिपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। तथा केशलोंच करना, शुद्ध; अर्थात्, अन्य सर्व परिग्रहरहित होना, हिंसादिक से रहित होना और शरीर का शृङ्गाररहित होना – ऐसी **श्रामण्यदशा की बाह्य स्थिति** है।

तथा वे अन्तरङ्ग में कैसे होते हैं – मूर्च्छा; अर्थात्, आरम्भरहित होते हैं; उनका उपयोग और योग अत्यन्त निर्मल वीतरागी हो गया है तथा जिन्हें पर की अपेक्षा नहीं है – ऐसा **मुनिदशा का अन्तरङ्ग लिङ्ग,** मोक्ष का कारण है – ऐसा भगवान ने कहा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई वीतराग का मार्ग नहीं है। अन्य कोई वीतराग का नाम भले ही रख लेवे, परन्तु वीतराग का मार्ग तो यह एक ही है।

प्रथम तो अपने से, यथोक्त क्रम से यथाजातरूपधर हुए आत्मा के, अयथाजात -रूपधरपने के कारणभूत मोह-राग-द्वेषादिभावों का अभाव होता ही है।

पूर्व कथित आत्मस्वभाव का भान करके तत्पश्चात् सहज आनन्द की दशा में झूलती मुनिदशा होती है। हठपूर्वक प्रतिकूलता सहन करना मुनिमार्ग नहीं है। मुझमें प्रतिकूलता है ही

नहीं; शीत–उष्ण आदि सब तो परद्रव्य के साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनका मुझमें अभाव है – ऐसे भानपूर्वक जिन्हें अन्तरङ्ग में वीतरागी स्थिरता बढ़ गयी है, वहाँ ऐसा मुनिपना सहज होता है। यथाजात; अर्थात्, सहजरूप ज्ञायकपना हुआ है। यथाजातरूप तो अनादि का त्रिकाल है और वैसी निर्मलपर्याय प्रगट की, तब यथाजातरूप को धारण किया; अर्थात्, यथाजातरूपधर हुआ।

क्षुधा–तृषा का सम्बन्ध, जड़ के साथ है। मैं तो चैतन्य हूँ; मुझे क्षुधा–तृषा का दु:ख नहीं है। सर्दी–गर्मी का दु:ख मुझे नहीं है, मैं तो ज्ञानस्वभाव हूँ। मेरा पर के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और जो मेरा स्वभाव है, वह मुझे कभी नुकसान नहीं कर सकता तथा परचीज का तो मुझमें अभाव है; इसलिए वह मुझे हानि नहीं कर सकती – ऐसा जिसे भान नहीं है, वह वीतरागमार्ग में मुनि नहीं है।

यथाजातरूपधरपना तो वीतरागी सहजदशा की अस्ति है और उसमें मोह–राग–द्वेष की नास्ति है। हठ से त्याग नहीं किया है परन्तु सहजस्वभाव में से उत्पन्न हुई वीतरागीदशा ऐसी हो गयी है। देखो, यह मुनिदशा! श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव इत्यादि सभी छठवें–सातवें गुणस्थान में झूलते हुए भावलिङ्गी सन्त थे, पञ्च परमेष्ठी पद में शामिल थे। ऐसे मुनिपने का पालन न हो सके तो उसकी यथार्थ श्रद्धा रखनी चाहिए, परन्तु इससे विपरीत नहीं मानना चाहिए।

और उनके अभाव के कारण, जो कि उनके सद्भाव में होते हैं – ऐसे (1) वस्त्राभूषण का धारण, (2) सिर और दाढ़ी–मूछों के बालों का रक्षण, (3) सकिञ्चनत्व, (4) सावद्ययोग से युक्तता, तथा (5) शारीरिक संस्कार का करना – इन (पाँचों) का अभाव होता है; जिससे उस आत्मा के (1) जन्मसमय के रूप, जैसा रूप, (2) सिर और दाढी–मूछ के बालों का लोञ्च, (3) शुद्धत्व, (4) हिंसादिरहितता, तथा (5) अप्रतिकर्मत्व (शारीरिक शृङ्गार–संस्कार का अभाव) होता ही है; इसलिए यह बहिरङ्ग लिङ्ग है।

जहाँ अन्दर में सहज वीतरागदशारूप यथाजातरूपधर होता है, वहाँ मोह–राग–द्वेषादि का अभाव होता ही है और जहाँ मिथ्यात्व, राग–द्वेषादि का अभाव होता है, वहाँ वस्त्रादि भी

नहीं होते, क्योंकि मोहादि के सद्भाव में ही वस्त्राभूषण आदि होते हैं तथा मुनिराज को सिर के केशों का शृङ्गार भी नहीं होता। उन्हें केशलोञ्च करते हुए दु:ख नहीं लगता, क्योंकि केश तो परद्रव्य हैं – ऐसे भानसहित ऐसी सहजदशा हो जाती है कि केशलोञ्च करते हुए दु:ख नहीं लगता।

जब भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा ली, तब उनके साथ त्यागी हुए चार हजार राजा, द्रव्यलिङ्गी होकर विपरीत आचरण करते थे। तब देवों ने आकर कहा कि 'दिगम्बर मुनि का वेष रखकर ऐसे आचरण करोगे तो हम दण्ड देंगे ? तब उन राजाओं ने द्रव्यलिङ्ग का परित्याग करके विविध वेष बना लिए। **जिन्हें अन्तर में वीतरागीदशा होती है, उन्हें बाहर में वस्त्र, धन इत्यादि का परिग्रह नहीं होता।** सावद्ययोग नहीं होता, शरीर का संस्कार नहीं होता, वह साबुन से शरीर नहीं धोता। इस प्रकार रागादि के अभाव में मुनिराज को जिन पाँच बातों का सद्भाव होता है, वे हैं –

1. जन्मसमय के रूप, जैसा रूप होता है;
2. सिर और दाढ़ी-मूँछ के केशों का लोञ्च होता है;
3. शुद्धत्व होता है; अर्थात्, वस्त्रादि अथवा धनादि का परिग्रह नहीं होता;
4. हिंसादि से रहितपना होता है; तथा
5. प्रतिकर्म; अर्थात्, शरीर की सजावट नहीं होती।

– ऐसा भावलिङ्गी मुनि का **बाह्य लिङ्ग** है।

और फिर, आत्मा के यथाजातरूपधरपने से दूर किया गया जो अयथाजातरूप -धरपना, उसके कारणभूत मोह-राग-द्वेषादिभावों का अभाव होने से ही, जो उनके सद्भाव में होते हैं - ऐसे जो (1-2) ममत्व के और कर्म-प्रक्रम के परिणाम, (3-4) शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक तथाविध योग की अशुद्धि से युक्तता, तथा (5) परद्रव्य से सापेक्षता; इन (तीनों) का अभाव होता है; इसलिए (उस आत्मा के) (1-2) मूर्च्छा और आरम्भ से रहितता, (3-4) उपयोग और योग की शुद्धि से युक्तता, तथा (5) पर की अपेक्षा से रहितता होती ही है; इसलिए यह अन्तरङ्ग लिङ्ग है।

1-2. मुनियों को मोहादि का अभाव होने के कारण, जो उस मोह के सद्भाव में होते हैं – ऐसे ममत्व के और क्रम-प्रक्रम के परिणाम नहीं होते। क्रमापक्रम; अर्थात्, बाह्यकार्य की जिम्मेदारी का बोझा मुनिराज अपने सिर पर नहीं रखते। पाठशाला पढ़ाना, पुस्तक लिखना (छपवाना) इत्यादि का भार अपने सिर नहीं रखते। ऐसे परिणाम ही नहीं होते। सहज विकल्प उठे तो हो जाएँ। निश्चित समय के पश्चात् सभा में उपस्थिति देने का और व्याख्यान करने का, ऐसा कोई काम मुनि अपने सिर पर नहीं लेते। गृहस्थ श्रावकों को उस प्रकार के रागादि परिणाम होते हैं परन्तु मुनि को वैसे परिणाम नहीं होते।

मुनि की भूमिका में लौकिक काम तो होते ही नहीं, परन्तु धार्मिक प्रवृत्ति के काम का बोझ भी मुनि अपने सिर पर नहीं रखते। मुनिदशा तो एकदम निवृत्तदशा है। विकल्प उत्पन्न हो तो उपदेश आदि करते हैं परन्तु उसका भार अपने माथे नहीं रखते।

अहो! हम तो अपनी सहजज्ञान की दशा धारण करते हैं। उपदेश आदि किसी काम का भार, अपने पर नहीं रखते। ऐसी तीन कषाय चौकड़ी के अभाववाली मुनिदशा होती है।

प्रश्न – उपदेश देना तो धर्म का काम है न?

उत्तर – धर्म, आत्मा में होता है या उपदेश में? विकल्प उत्पन्न हो तो उपदेश दें, परन्तु उसका बोझा माथे नहीं रखते। जब कुन्दकुन्द प्रभु समयसार लिखने बैठे, तब 'मुझे यह रचना पूरी करनी ही है' – ऐसा हठभाव नहीं था। वह रचना तो सहज हो गयी। जहाँ कुछ भी ममत्व होता है, वहीं किसी कार्य की जिम्मेदारी सिर पर लेने का; अर्थात्, क्रमप्रक्रम के परिणाम होते हैं।

3-4. शुभाशुभभाव से रञ्जित मलिनउपयोग मुनि को नहीं होता और उस अशुद्धोपयोगपूर्वक की अशुद्धि से युक्तपना भी मुनि को नहीं होता।, तथा

5. परद्रव्य का अपेक्षापना भी मुनि को नहीं होता। मुनिदशा ऐसी सहजदशा होती है।

देखो, यहाँ मुनिपना कैसा होता है? – यह बात चल रही है। पहले तो आत्मस्वभाव का भान होना चाहिए। गृहस्थाश्रम में सम्यग्दर्शन होना चाहिए। वह सम्यग्दर्शन कोई बाह्य वस्तु नहीं है, अपितु आत्मा पर से भिन्न ज्ञानस्वभावी जैसा सर्वज्ञ ने देखा है, वैसा श्रद्धा में

लेना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन के पश्चात् विशेष आत्मस्थिरता होना मुनिपना है।

अन्दर में चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का आलम्बन लेकर रमणता करने का नाम मुनिपना है। उन मुनिराज को किसी के प्रति ममत्व / मूर्च्छा नहीं होती। सिद्ध भगवान जैसे आनन्द का अनुभव करनेवाली दशा, मुनिदशा है। वह दशा आरम्भ से रहित होती है। उन्हें बाह्य में तो अत्यन्त निवृत्ति है और अन्तरङ्ग में राग-द्वेषादि के आरम्भ से निवृत्ति है तथा उपयोग की शुद्धि है। उनका उपयोग स्वस्वरूप में अत्यधिक स्थिर है और परद्रव्य की अपेक्षापने का अभाव है। मुनिराज को बाह्य में गुफा की स्पृहा नहीं है किन्तु वे तो अन्तर में चैतन्य की गुफा में गहरे जाकर ध्यान करते हैं। श्री समयसार की 49 वीं गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्यदेव कहते हैं -

'निर्विकल्पनिर्मोहनिरञ्जननिज शुद्धात्मसमाधिसञ्जातसुखामृत-रसानुभूतिलक्षण गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति।

अर्थात्, निर्विकल्प, निर्मोह, निरञ्जन, निज शुद्धात्मा की समाधि से उत्पन्न सुखामृतरस की अनुभूति जिसका लक्षण है - ऐसी गहरी गिरि-गुफा में स्थित होकर सर्व तात्पर्य से वह शुद्धात्मा ध्यातव्य है।'

यहाँ ध्यान के लिए अन्दर की गहरी गुफा में जाने को कहा है। बाहर के पत्थर की गिरि-गुफा में तो नेवला भी रहता है और बारहसिंगा भी वहाँ रहता है परन्तु अन्दर में चैतन्यस्वभाव की गुफा में जाकर मुनिराज आत्मा को ध्याते हैं। ऐसे मुनि को मूर्च्छा और आरम्भ से रहितपना होता है। उपयोग और योग की शुद्धि होती है; पर की अपेक्षा से रहितपना होता है; इसलिए यह **अन्तरङ्ग लिङ्ग** है।

अब, (श्रामण्यार्थी) इन दोनों लिङ्गों को ग्रहण करके और ऐसा - ऐसा करके श्रमण होता है - इस प्रकार 'भवति'; अर्थात्, 'होता है'। इस क्रिया में बन्धुवर्ग से विदा लेनेरूप क्रिया से लेकर, शेष सभी क्रियाओं का एक कर्ता दिखलाते हुए, इतना करने से निश्चित श्रामण्य की प्राप्ति होती है - ऐसा उपदेश करते हैं।

देखो, बाह्य में द्रव्यलिङ्ग हो और अन्तरङ्ग में भावलिङ्ग न हो तो वह मुनि नहीं है।

तत्पश्चात् श्रमण होने का इच्छुक दोनों लिङ्गों को ग्रहण करता है, गुरु को नमस्कार करता है, व्रत तथा क्रिया को सुनता है और उपस्थित होता है; उपस्थित होता हुआ श्रामण्य की सामग्री पर्याप्त (परिपूर्ण) होने से श्रमण होता है।

गृहस्थदशा में आत्मा का भान था, पश्चात् कुटुम्बीजनों की अनुमति लेकर, पञ्च महाव्रत ग्रहण करके, गुरु के पास दीक्षा लेकर, वह जीव, द्रव्य और भाव दोनों लिङ्गों का ग्रहण कर, गुरु को नमस्कार करके, व्रत तथा क्रिया को सुनकर उपस्थित होता है। 'उपस्थित होता है', अर्थात्, आत्मा के स्वभाव में स्थित होता है, तभी श्रामण्य की समस्त सामग्री पूर्ण होती है और तभी वह मुनि होता है।

बाह्य में निर्ग्रन्थ लिङ्ग न हो और वस्त्रादि हों तो वहाँ मुनिपने की बाह्य सामग्री ही नहीं है तथा बाह्य में द्रव्यलिङ्गी हो जाए, परन्तु अन्तरङ्ग में वीतरागदशारूप भावलिङ्ग न हो तो उसे भी मुनिपने की सामग्री नहीं है; इसलिए वह मुनि नहीं है। गृहस्थपने में रहकर मुनिदशा हो जाए, ऐसा नहीं हो सकता। देखो; यह तो अभी मुनिपने की बात है, केवलज्ञानी की दशा तो अभी इससे भी बहुत उत्कृष्ट है।

परमगुरु – प्रथम ही अर्हन्त भट्टारक और उस समय (दीक्षाकाल में) दीक्षाचार्य – इस यथाजातरूपधरत्व के सूचक बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग लिङ्ग के ग्रहण की विधि के प्रतिपादक होने से, व्यवहार से उस लिङ्ग के देनेवाले हैं। इस प्रकार उनके द्वारा दिये गये उन लिङ्गों को ग्रहण क्रिया के द्वारा सम्भावित-सम्मानित करके, (श्रामण्यार्थी) तन्मय होता है।

प्रथम, अरहन्त भट्टारक, वे परमगुरु हैं तथा उस काल में दीक्षा देनेवाले आचार्य, वे भी परमगुरु हैं। वे यथार्थ लिङ्ग बताते हैं कि देख भाई! अन्तर में ज्ञायकस्वरूप का अवलम्बन लेना, बाह्य पदार्थों अथवा पुण्य का अवलम्बन मत लेना। अन्तरस्वरूप में स्थिर होना, वह भावलिङ्ग है और बाह्य में निष्परिग्रह अवस्था, वह द्रव्यलिङ्ग है – ऐसे दोनों लिङ्गों का स्वरूप परमगुरु प्रतिपादित करते हैं; इसलिए वे अरहन्त और दीक्षाचार्य व्यवहार से उन लिङ्गों के

दातार हैं। अन्तर में स्वयं वैसी दशा प्रगट की तो वहाँ निमित्त अपेक्षा से गुरु को उसके दातार कहा गया है। आत्मसिद्धि में भी आता है —

वह तो प्रभु ने ही दिया, वरतूं चरणाधीन।

इसी प्रकार यहाँ कहा है कि गुरु ने भावलिङ्ग और द्रव्यलिङ्ग दिया – यह तो उपचार है। मुनि स्वयं भी शरीर के द्रव्यलिङ्ग को नहीं कर सकते, वह तो सहज हो जाता है। तब परमगुरु ने वह द्रव्यलिङ्ग दिया – ऐसा उपचार से कहा जाता है।

आत्मा का भान और ऐसी वीतरागी मुनिदशा के बिना सुखी नहीं हुआ जाता। ऐसी मुनिदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता और ऐसी मुनिदशा सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं होती। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो धर्म की मूल सामग्री है। जिसे वह सामग्री तो है, तदुपरान्त मुनिदशा की अन्य सामग्री क्या है ? वह यहाँ बताते हैं।

वह दीक्षाधारक श्री परमगुरु द्वारा प्रदत्त दोनों लिङ्गों को सम्मानपूर्वक अङ्गीकार करता है कि 'हे भगवन्! आपने मुझे मुनिपना दिया; इस प्रकार मुनिपना अङ्गीकार करके तन्मय होता है; अर्थात्, अन्तर में डुबकी लगाकर लीन होता है।

फिर जिन्होंने सर्वस्व दिया है – ऐसे मूल और उत्तर परमगुरु को, भाव्यभावकता के कारण प्रवर्तित इतरेतरमिलन के कारण जिसमें से स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है – ऐसी नमस्कार क्रिया के द्वारा सम्भावित करके-सम्मानित करके, भावस्तुति वन्दनामय होता है।

हे नाथ! आपने मुझे सम्पूर्ण आत्मा दिया, मुझे मोक्ष दिया, मुझे कल्याण दिया। हे प्रभु! आपने भावलिङ्ग देकर मुझे मुक्ति दी, आपने मुझे सर्वस्व दिया। स्वयं अन्दर में जागृत होकर वह कहता है कि 'हे नाथ! आपने मुझे सम्पूर्ण आत्मा ही दिया।'

इस प्रकार मूल और उत्तर गुरुओं के प्रति विनय से नमस्कार करता है और तत्पश्चात् अन्तर के आनन्द में डूबकर भाव्यभावक का भेद छूट जाता है। 'मैं भावक हूँ, गुरु भाव्य हैं' – ऐसे स्व-पर के भेद का विकल्प टूटकर, स्वयं अन्दर में लीन हो गया। जहाँ अन्दर के अनुभव में लीन हुआ, वहाँ 'भगवान पूर्ण और मैं अपूर्ण', 'भगवान मेरे स्वामी और मैं

उनका सेवक' – ऐसे भेद का विकल्प भी छूट जाता है। ऐसे अनुभव के बिना मुनिदशा नहीं होती।

जहाँ अन्दर स्व-स्वरूप का गुणगान करके स्थिर हुआ, वहाँ परमगुरु को नमस्कार और सम्मान भी आ गया। स्वयं ध्यान में लीन हुआ, वहाँ स्वयं ही भावस्तुति और भाववन्दनामय हो जाता है। वहाँ भगवान की स्तुति का विकल्प नहीं रहा, परन्तु पर्याय अन्दर में स्थिर होकर चैतन्यमूर्ति भगवान में तल्लीन हो गयी, निर्विकल्प समाधि में लवलीन हो गयी। इसी का नाम **भावस्तुति** और **भाववन्दन** है; इसी का नाम **मुनिदशा** है।

जिसे ऐसी मुनिदशा की पहचान भी न हो, उसे ऐसे मुनिपने की उम्मीदवारी अथवा भावना भी कहाँ से होगी। जो वस्त्र-त्याग देने को ही मुनिपना मान ले, उसे तो अभी सच्चा भान (ज्ञान-श्रद्धान) भी नहीं है तो मुनिदशा तो कहाँ से होगी।

पश्चात् सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत को सुननेरूप श्रुतज्ञान के द्वारा समयरूप परिणमित होते हुए, आत्मा को जानते हुए सामायिक में आरूढ़ होता है।

पञ्च महाव्रत तो व्यवहार है, शुभराग है, निश्चय से तो आत्मा में वीतरागी स्थिरतारूप **एक ही महाव्रत** है। चैतन्यस्वभावी आत्मा में लीन होकर परिणमना; अर्थात्, स्व-समय में परिणमना, वह सामायिक है; बाह्य में सामायिक नहीं है। मुनि को प्रचुर सामायिक होती है और गृहस्थ को उससे थोड़ी होती है परन्तु दोनों की जाति एक ही है।

चैतन्यस्वरूप में लीनता के बिना सावद्ययोग; अर्थात्, पुण्य-पाप का त्याग नहीं हो सकता और सामायिक निधि नहीं हो सकती। बाहर से भले ही सावद्य छोड़ा दिखे, परन्तु जहाँ अन्दर में अज्ञानभाव है, वहाँ सभी सावद्ययोग पड़े हैं। **अज्ञान ही सबसे बड़ा सावद्यभाव है।**

अन्दर में आत्मा के निर्विकल्प श्रुतज्ञान द्वारा समयरूप में परिणमते हुए आत्मा को जानते हुए, उसके आनन्द में लीन होता है – यह मुनि की सामायिक है। जिनके चरणों में गणधर का नमस्कार पहुँचे, वे मुनि ऐसे होते हैं ? पुण्य का विकल्प छूटकर चैतन्य में लीन होना, उनकी सामायिक है।

पश्चात्, प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानस्वरूप क्रिया को सुननेरूप श्रुतज्ञान के द्वारा त्रैकालिक कर्मों से विविक्त (भिन्न) किये जानेवाले आत्मा को जानते हुए, अतीत-अनागत-वर्तमान और मन-वचन-काय सम्बन्धी कर्मों से विविक्तता (भिन्नता) में आरूढ़ होता है।

अतीत-वर्तमान-अनागत, काय-वचन-मन सम्बन्धी कर्मों से भिन्न, निज शुद्धात्मपरिणति ही प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यानस्वरूप क्रिया है।

प्रतिक्रमण तो अन्तरस्वरूप की निर्मल परिणति होना है। मुँह से पाठ बोलना तो शब्द हैं, जड़ हैं; शुभ विकल्प होना पुण्य है और अन्दर में शुभभाव से रहित होकर स्वरूप-स्थिर होने में प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान - इन तीनों की क्रिया आ जाती है। ऐसी दशा आने से पूर्व इसका ज्ञान तो करना चाहिए न! यह जाने नहीं और विकार अथवा जड़ की क्रिया में सामायिक आदि मान ले, उसकी तो श्रद्धा भी सच्ची नहीं है।

जहाँ आत्मा में लीन होकर स्थिर हुआ, वहाँ तीनों काल के कर्मों से आत्मा भिन्न हुआ। स्वरूप में स्थिरता होने पर पुण्य-पाप की उत्पत्ति न हो, इसका नाम प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना की क्रिया है। इसके अतिरिक्त मन-वचन-काय की क्रिया, आत्मा की नहीं है। धर्म की ऐसी क्रिया, भगवान और गुरु से सुनकर तत्पश्चात् अन्दर में लीन होकर होती है; अर्थात्, वह श्रामण, ज्ञायकपने आत्मा में लीन होता है।

पश्चात्, समस्त सावद्य कर्मों के आयतनभूत काय का उत्सर्ग (उपेक्षा) करके यथाजातरूपवाले स्वरूप को, एक को एकाग्रतया अवलम्बित करके रहता हुआ, उपस्थित होता है और उपस्थित हुआ, सर्वत्र समदृष्टिपने के कारण साक्षात् श्रामण होता है।

देखो, क्रम से सब बात की है परन्तु अन्दर में स्थिर होने में सब आ गया। काय; अर्थात्, शरीर को सावद्ययोग का आयतन, निमित्त की अपेक्षा कहा है, क्योंकि काय के आश्रय से राग का विकल्प उत्पन्न होता है, वह सावद्य है, पाप है। भगवान आत्मा, चैतन्यज्योति है; उसके आश्रय से मलिनभाव मिटकर निर्मलभाव होना, कायोत्सर्ग है - ऐसा कायोत्सर्ग करके

यथाजातरूपवाले स्वरूप को, एक को ही अवलम्बन करके रहता है और उसी में लीन होता है; इस प्रकार वह मुनि होता है।

अहो! ज्ञानसागर आत्मा का अवलम्बन करके उसमें लीन होना, मुनिदशा है। ऐसी मुनिदशा होने से उसे सर्वत्र ज्ञायकभाव रहता है, वीतरागभाव रहता है; इस प्रकार सर्वत्र समदृष्टि होने से वह जीव, साक्षात् श्रमण होता है। देखो, सर्वत्र ऐसी ही मुनिदशा होती है।

कोई कहे कि 'हम साधु नहीं होते तो तुम्हें साधु के दर्शन का और आहारदान का लाभ कहाँ से मिलता? इसलिए तुम्हें दर्शन का लाभ देने के लिए हम साधु हुए हैं।' - ऐसा कहनेवाले को साधुपना नहीं होता, क्योंकि क्या साधु दूसरों को लाभ देने के लिए होता है? साधु तो अपने में लीन और पर से निस्पृह है। साक्षात् छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनि, अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करते हैं - ऐसी मुनिदशा की पहचान के बिना धर्म नहीं होता और ऐसी मुनिदशा हुए बिना किसी की मुक्ति नहीं होती। ●

(- सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, गुजराती (दैनिक), दिनाङ्क 13-14 अप्रेल, 1951)

सन्तों की परम कृपा : आत्मा को परमात्मा बुलाते हैं....

अहो! सन्तों की परम कृपा है कि वे आत्मा को परमात्मा कहकर बुलाते हैं, पर्याय में पामरपना होने पर भी उसे मुख्य नहीं करके सन्त कहते हैं कि हे जीव! तू तो भगवान है... अति निर्मल है... आनन्दस्वरूप है... तू भी अपने आत्मा को ऐसा ही देख! तू राग जितना नहीं है, तू तो अनन्त गुण के वैभव से भरा है। जैनमार्ग में ऐसा परमात्मपना बतलाकर वीतरागी सन्तों ने महा उपकार किया है।

(- आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-28, अङ्क-327, पृष्ठ-8)

शुद्ध परमपारिणामिकभाव का अवलम्बन ही

निश्चय महाव्रत एवं निश्चय समिति

(नियमसार गाथा 119 तथा छहढ़ाला की छठवीं ढाल पर हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों से सङ्कलित सार-संक्षेप)

निर्मल वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी मोक्षमार्ग की पर्याय अथवा निश्चय धर्मध्यानरूपी पर्याय का आश्रय / आधार त्रैकालिक निज भगवान आत्मा है; शुभभाव आदि नहीं। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभावों से रहित, परमपारिणामिक-भावस्वरूप निज आत्मा के आश्रय से जो निर्मल निश्चयधर्मध्यान की पर्याय प्रगट होती है, वह शुभ-अशुभ समस्त भावों का नाश करने में समर्थ है। चारित्रगुण की शुभभावरूपी विकारी पर्याय से अशुभभाव का अभाव होता है परन्तु निश्चय धर्मध्यानरूपी शुद्धपर्याय, शुभ-अशुभ दोनों भावों का नाश करने में समर्थ है - ऐसा महान् सन्तों ने श्रोताओं को पुकार-पुकार कर कहा है।

अब, निश्चयसम्यग्दर्शन का ध्येयरूप त्रैकालिक निज आत्मा का स्वरूप कहते हैं - समस्त परद्रव्यों के परित्यागरूप लक्षण से लक्षित अखण्ड नित्य निरावरण सहज परमपारिणामिकभाव पूर्णानन्दस्वरूप है।

श्री नियमसार, गाथा 38 की टीका में निज आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहा है — **अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाला, शुद्ध सहज परम-पारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा कारणपरमात्मा, वह वास्तव में आत्मा है।**

नियमसार में ही अन्यत्र भी कहा है — **त्रिकाल निरावरण, नित्य आनन्द जिसका लक्षण है, ऐसा निरञ्जन निज परमपारिणामिक-भावस्वरूप कारणपरमात्मा, वह निज आत्मा है।**

निश्चय धर्मध्यानरूप शुद्धपर्याय को ऐसे निज आत्मा का आश्रय/अवलम्बन है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्ररूपी धर्मध्यान, निज आत्मा के अवलम्बन से प्रगट होता है परन्तु दया-दानादि के शुभराग से निश्चयधर्मध्यान प्रगट होता हो - ऐसा नहीं है।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप निज आत्मा के आश्रय से जो निश्चय धर्मध्यानरूप पर्याय प्रगट हुई है, उसके आश्रय से भी नवीन निश्चय धर्मध्यानरूप पर्याय प्रगट नहीं होती है, क्योंकि देव-शास्त्र-गुरु और अपूर्ण तथा पूर्ण शुद्धपर्याय के आश्रय से तो राग की ही उत्पत्ति होती है।

औदयिक औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक - इन चार भावों से परमारिणामिकभाव भावान्तर; अर्थात्, अन्य भाव है। जिसका संसार किनारा निकट आ गया है, ऐसा अति आसन्न भव्य जीव, इस परमपारिणामिकभाव की भावना से, एकाग्रता से औदयिकादि चार भावों का परिहार करने में समर्थ है। वास्तव में औदयिक अशुद्धभाव का परिहार, उपशम-क्षयोपशम और क्षायिक शुद्धभाव से होता है परन्तु यहाँ पर औदयिकादि चार भावों के परिहार में क्षायिकभावरूप शुद्धपर्याय का भी परिहार; अर्थात्, त्याग करना कहा है, उसका कारण इस प्रकार है —

शुद्धात्मद्रव्य; अर्थात्, अंशी का ही अवलम्बन लेने से क्षायिकभावरूप शुद्धपर्याय प्रगट होती है। क्षायिकभाव; अर्थात्, शुद्धपर्याय; अर्थात्, अंश का अवलम्बन करने से क्षायिकभावरूप शुद्धपर्याय कभी प्रगट नहीं होती; इसलिए क्षायिकभाव का अवलम्बन भी त्याज्य है। इस प्रकार क्षायिकभाव के अवलम्बन के त्याग को यहाँ क्षायिकभाव का परिहार कहा गया है।

नियमसार की 119वीं गाथा में ऐसा कहा गया है कि मोक्षार्थी जीव को परद्रव्यों का आलम्बन तो दूर रहो, परन्तु अपने औदयिकभावों; अर्थात्, समस्त शुभाशुभभावों, उपशमभावों; अर्थात्, उपशमसम्यक्त्वादि, क्षायोपशमिकभावों; अर्थात्, अपूर्ण ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि पर्यायों तथा क्षायिकभावों; अर्थात्, पूर्ण शुद्धपर्यायों का भी अवलम्बन छोड़ना चाहिए; **मात्र**

परमपारिणामिकभाव; अर्थात्, शुद्धात्मद्रव्यसामान्य का अवलम्बन लेना चाहिए। उसका अवलम्बन लेनेवाला भाव ही निश्चय से महाव्रत, समिति, गुप्ति, प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त आदि सब कुछ है।

आत्मस्वरूप का अवलम्बन, आत्मस्वरूप का आश्रय, आत्मस्वरूप के प्रति सन्मुखता, आत्मस्वरूप के प्रति झुकाव, आत्मस्वरूप का ध्यान, परमपारिणामिकभाव की भावना, मैं ध्रुव शुद्ध सामान्य आत्मद्रव्य हूँ, ऐसी परिणति आदि — इन सबका एक ही अर्थ है।

इस कथन का सार यह है कि धर्मी जीव को क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद क्षायिकसम्यग्दर्शन तथा शुद्धनिश्चयचारित्रदशा प्राप्त करना हो तो अपने परमपारिणामिक-स्वभावरूप द्रव्यसामान्य का ही आश्रय लेना होगा, तभी क्षायिकसम्यग्दर्शन तथा शुद्धनिश्चय-चारित्ररूपदशा प्रगट होगी। क्षायिकसम्यग्दर्शनरूपी शुद्धपर्याय का आश्रय करने से नवीन क्षायिकभावरूप शुद्धपर्याय अथवा अन्य कोई शुद्धपर्याय प्रगट नही होगी, क्योंकि श्रीनियमसार की गाथा 50 में क्षायिकभावरूप शुद्धपर्याय को भी परद्रव्य कहा है।

जिस प्रकार परद्रव्य में से अपनी निर्मलपर्याय प्रगट नहीं होती; उसी प्रकार क्षायिकभावरूप शुद्धपर्याय भी परद्रव्य होने से उसके आश्रय से कभी निर्मलपर्याय प्रगट नहीं होगी; अतः क्षायिकभावादि का आश्रय नहीं करना ही क्षायिकभावादि का परिहार; अर्थात्, त्याग कहा जाता है।

अति आसन्न भव्य जीव, पुण्य-पापरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान है, क्योंकि उसने त्रैकालिक ज्ञायकस्वभावी आत्मा की भावना से पुण्य-पापरूपी विकारीभावों का नाश कर दिया है। **सहज परमपारिणामिकभाव की भावनारूप एकाग्रता से जो ध्यान प्रगट हुआ है; अर्थात्, निर्विकल्प वीतरागी पर्याय प्रगट हुई है, उसको निश्चय से महाव्रत, समिति, गुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, आलोचना आदि अनेक नामों से कहा जाता है। निश्चयधर्मध्यान ही निश्चय से महाव्रत, प्रायश्चित्तादि सब कुछ है।**

प्रश्न – निश्चय महाव्रत किसे कहते हैं और उसके कितने भेद होते हैं ?

उत्तर – त्रैकालिक अभेद ज्ञान–आनन्दस्वरूपी भगवान आत्मा में श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक स्थिरता करना, निश्चय महाव्रत है। उसके पाँच भेद हैं। (1) निश्चय अहिंसा, (2) निश्चय सत्य, (3) निश्चय अचौर्य, (4) निश्चय ब्रह्मचर्य, और (5) निश्चय अपरिग्रह।

(1) अहिंसामहाव्रत – भगवान आत्मा, अहिंसा; अर्थात्, अकषाय स्वरूप ही है, उसके आश्रय से वीतरागी अकषायभाव प्रगट होना, वह **निश्चय अहिंसामहाव्रत** है।

मुनियों की प्रवृत्ति, पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय स्थावरकाय और त्रसकाय – इन छह काय के जीवों की रक्षापूर्वक होती है।

उनकी प्रवृत्ति इतनी सावधानीपूर्वक होती है कि पानी की एक बूँद अथवा हरितकाय के एक पत्र का भी घात न हो। तात्पर्य यह है कि मुनिराज को बाह्य सर्व प्रकार की द्रव्यहिंसा दूर हो गई है तथा अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व और कषायभाव दूर होने से भावहिंसा भी नहीं होती। इस प्रकार उन मुनिराजों के अहिंसामहाव्रत होता है। जिसमें जीव हिंसा होना सम्भव हो, ऐसे आहार–विहार का मुनिराज परित्याग कर देते हैं।

वनस्पतिकाय में अनन्त जीव हैं, इस प्रकार की जिसे श्रद्धा हो, वही वास्तविकरूप से अहिंसा का पालन कर सकता है। वनस्पतिकाय में अनन्त जीव हैं, पानी की एक बूँद में असंख्य जीव हैं, अण्डे में पञ्चेन्द्रिय जीव है; इस प्रकार जिनमार्ग में कथित छह काय के जीवों की धर्मी जीव को आस्था है। जिसे सर्वज्ञ के वचन की श्रद्धा नहीं है, सूक्ष्मरूप से जीवों का अस्तित्व कहाँ–कहाँ है ? – इसका भी जिसे पता नही है; शहद इत्यादि में त्रसजीव हैं, इस बात को जो नहीं जानते, उन अज्ञानी जीवों के द्वारा अहिंसा का पालन किस प्रकार सम्भव है ? जो जिनमार्ग में सर्वज्ञदेव द्वारा कथित जीवस्थानों को जानता–मानता है, उसे ही सच्ची जीवदया हो सकती है।

व्यवहार से भी जिसे जीव के स्थानों का पता नहीं है, उस जीव को द्रव्य अहिंसा भी नहीं होती और जीव का परमार्थ चैतन्य जीवन, राग से भी भिन्न है, राग स्वयं भावहिंसा है, फिर भी जो उस राग को धर्म का कारण मानता है, उसे रागरहित चैतन्यभावरूप भाव अहिंसा कैसे हो सकती है ?

अहा! द्रव्य और भावहिंसा से रहित, रत्नत्रयरूप वीतरागभाव से सहित मुनियों का जीवन धन्य है।

(2) सत्यमहाव्रत - ज्ञायकस्वभावी आत्मा, त्रिकाल सत्यस्वरूप ही है, उसके अवलम्बन से निर्विकल्प वीतरागी परिणति होना, वह **निश्चय सत्यमहाव्रत** है।

जिस प्रकार अहिंसा के द्रव्य और भाव दो प्रकार कहे गये हैं। उसी प्रकार सत्य आदि में भी द्रव्य-भावरूप दो प्रकार समझ लेना चाहिए। वास्तव में तो रागादिभाव उत्पन्न नहीं होना अहिंसा है - ऐसा कहा है, इसी में सत्य आदि सभी समाहित हो जाते हैं, क्योंकि जहाँ रागादिभावरूप अहिंसा नहीं हो; वहाँ असत्य, चोरी आदि प्रकार भी नहीं होते।

देखो! मुनियों के अन्तरङ्ग वीतरागतासहित महाव्रत होते हैं। उनके भाव में असत्य नहीं है और वे वचन से भी असत्य नहीं बोलते। आक्रोशपूर्वक बोलना, किसी का अहित हो - ऐसे वचन बोलना भी असत्य है और वास्तव में तो अनेकान्तमय सत्य वस्तुस्वरूप से विपरीत कथन महा-असत्य है। जिसे सत्य वस्तुस्वरूप का पता न हो, उसे द्रव्य-भावरूप सत्य का वास्तविक पालन नहीं हो सकता।

अहा! अनेकान्तमय सत्य वस्तुस्वरूप को जाननेवाले और वीतरागभाव में झूलनेवाले मुनिराजों को असत्य बोलने का प्रसङ्ग ही कहाँ है? उन्हें जगत से कुछ लेना-देना नहीं है। सिंह जैसे मुनिराज, अन्दर चैतन्य की मस्ती में आनन्द से डोलते हैं। अरे! जहाँ सत्यस्वरूप में से बाहर शुभ विकल्प में आना भी नहीं रुचता, वहाँ असत्य वचन के भाव कैसे हो सकते हैं! इस प्रकार मुनियों के सत्य महाव्रत होता है।

(3) अचौर्यमहाव्रत - शुद्ध चैतन्य ध्रुव आत्मा अचौर्यस्वरूप है और परद्रव्य के ग्रहण-त्यागरहित है - ऐसे त्रैकालिक आत्मस्वरूप में श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक एकाग्रता करने से जो निर्मल वीतरागीदशा प्रगट हुई है, वह **निश्चय अचौर्यमहाव्रत** है, क्योंकि बाहर से निर्मलपर्याय को ग्रहण नहीं किया है, अन्तर में से प्रगट की है।

निज आत्मा के रत्नत्रयरूप वीतरागी वैभव से सन्तुष्ट मुनिवरों को बाहर के परद्रव्यों से क्या प्रयोजन है कि वे चोरी करें? अरे! अन्य वस्तु की तो बात ही क्या? वे मिट्टी और पानी भी बिना दिये ग्रहण नहीं करते।

दिन में एक बार आहार करते हैं, वह भी तब, जब श्रावक अत्यन्त भक्तिपूर्वक पड़गाहन करके बुलावे और आहार शुद्ध हो। मुनिराज बिना पड़गाहन के तो आहार के लिए जाते ही नहीं और न आहार की याचना करते हैं। याचना करना तो दीनता है, ऐसी दीनता अयाचक मुनिवरों को कैसे हो सकती है!

अन्तरङ्ग में परद्रव्यों को अपना मानकर किञ्चित्मात्र भी ग्रहण नहीं करते – ऐसे मुनिवरों को भाव तथा द्रव्य से अचौर्यमहाव्रत होता है।

(4) ब्रह्मचर्यमहाव्रत – ब्रह्म; अर्थात्, ज्ञान–आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा है, उसमें रमणता करने से वीतरागी आनन्द की दशा प्रगट होना, वह **निश्चय ब्रह्मचर्यमहाव्रत** है।

अहा! जिन्होंने चैतन्य में रमणता का अतीन्द्रिय सुख चखा है, वे मुनिवर तो सदा ही चिद्ब्रह्म में रमनेवाले हैं; बाह्य विषयों में रमणता उनके छूट गई है। वे ऐसे निर्विकार हैं कि देह भी दिगम्बर है। उनको देह को छिपाने की वृत्ति नहीं होती। वे ब्रह्मस्वरूप आनन्द में विचरते हैं; इसलिए वे शीलवन्त हैं। शील के जो अठारह हजार भेद हैं, वे वीतरागी मुनि के होते हैं। इस प्रकार मोक्षमार्गी मुनिराजों को आनन्दब्रह्म चैतन्य में विचरण करने से अब्रह्मभावों का उत्पाद ही नहीं होता, विषयों में वृत्ति ही नहीं जाती; इस प्रकार उन्हें सहज **ब्रह्मचर्यमहाव्रत** होता है।

(5) अपरिग्रहमहाव्रत – त्रैकालिक शुद्ध चैतन्यस्वरूप ध्रुव आत्मा, स्वभाव से ही अपरिग्रहस्वरूप है। आत्मा ने विकल्प और राग को तो पकड़ा नहीं है, लेकिन वर्तमान पर्याय को भी अनादि से आजतक पकड़ा नहीं है। पर्याय को त्रैकालिक आत्मा कभी आलिङ्गन (स्पर्श) नहीं करता – ऐसे अपरिग्रहस्वभावी भगवान आत्मा का अवलम्बन करने पर निर्मल वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, वह **निश्चय अपरिग्रहमहाव्रत** है।

एक मिथ्यात्व, चार क्रोधादि कषायें तथा नव हास्यादि कषायें; इस प्रकार चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग परिग्रह है तथा धन, धान्य, मकान, वस्त्र आदि दश प्रकार का बाह्य परिग्रह है। मुनिराज को अन्तरङ्ग में चैतन्यतत्त्व के स्वसंवेदन के बल से मिथ्यात्व, अव्रतादिभावों का परिग्रह छूट गया है और बहिरङ्ग में भी वस्त्र, पात्र, धन इत्यादि परिग्रह छूट गया है।

जहाँ देह का ही ममत्व नहीं है, वहाँ वस्त्रादि का ग्रहण कैसा ? जिन्हें बारम्बार स्वरूप में लीनता द्वारा शुद्धोपयोग हुआ करता है, उन मुनियों को तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति निरन्तर होती है और वही धर्म है।

चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग और दश प्रकार का बहिरङ्ग – ऐसा चौबीस प्रकार का परिग्रह, मुनिराजों के छूट गया है। यद्यपि संज्वलन कषाय है परन्तु तीन प्रकार की मुख्य कषाय छूट जाने से, मुनिराज अपरिग्रही हैं।

प्रश्न – निश्चयसमिति किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार की है ?

उत्तर – चिदानन्द भगवान आत्मा में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना, वह निश्चयसमिति है। उसके पाँच भेद हैं – (1) निश्चय ईर्यासमिति, (2) निश्चय भाषासमिति, (3) निश्चय एषणासमिति, (4) निश्चयआदान-निक्षेपणसमिति, और (5) निश्चय प्रतिष्ठापनसमिति।

(1) ईर्यासमिति – ज्ञायकस्वभावी आत्मा ईर्यासमितिस्वरूप है, उसको देखकर शुद्धप्रवृत्ति करना, वह **निश्चय ईर्यासमिति** है।

ईर्या; अर्थात्, गमनागमन। पहले तो मुनि, निष्प्रयोजन गमनागमन करते ही नहीं और आहार आदि के लिए गमन का प्रसङ्ग बने तो सावधानीपूर्वक चार हाथ जमीन अवलोकन कर गमन करते हैं । चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलने का विकल्प होना, वह **व्यवहार ईर्यासमिति** है; परमार्थ ईर्यासमिति नहीं। निश्चय ईर्यासमिति होने पर ही व्यवहार ईर्यासमिति हो सकती है।

(2) भाषासमिति – हित-मित-प्रिय वचन बोलने का विकल्प होना, वह **व्यवहार भाषासमिति** होने से परमार्थ भाषासमिति नहीं है परन्तु सत्यस्वरूप भगवान आत्मा के सन्मुख होकर सत्यरूप से निर्मल वीतरागरूप परिणमन करना, वह **निश्चय भाषासमिति** है।

मुनिराज, बिना प्रयोजन तो बोलते ही नहीं और जब बोलते हैं, तब कैसा मधुर बोलते हैं ? जो जगत के जीवों का सच्चा हित करनेवाला हो, सबका अहित दूर करनेवाला हो। किसी का भी अहित हो, ऐसा वचन मुनिराज नहीं बोलते। जिसका श्रवण सुखकारी होता है, सुननेवाले को प्रिय होता है और मिथ्यात्वादि भ्रमरोग को मिटाता है – ऐसे वचन मुनिराज जब

बोलते हैं तो मानो उनके मुखरूपी चन्द्रमा से अमृत ही झरता है!

अहा! चैतन्य के शान्तरस में झूलनेवाले मुनि, जब स्वरूप से बाहर आकर बोलते हैं, तब उनके वचनों में भी शान्तरस झरता है और सुननेवाले को भी प्रिय – सुखकर लगता है। वाह! यह मेरे हित की कोई अपूर्व बात समझाते हैं, इनके वचन कोई अपूर्व शान्ति देनेवाले हैं।

(3) एषणासमिति – चैतन्य आनन्दघनस्वभावी आत्मा, एषणास्वरूप ही है – ऐसे आत्मा की निर्मल वीतरागपरिणति द्वारा शोध करके आनन्द का भोजन करना, वह **निश्चय एषणासमिति** है अथवा वीतरागी भावलिङ्गी सन्त, निज आत्मा की शोध करके अतीन्द्रिय आनन्द में ही लीन रहें और बाह्य शुभभाव में भी नहीं आयें, वह **परमार्थ एषणासमिति** है।

ज्ञान–ध्यान द्वारा आत्मसाधना में लीन रहनेवाले मुनिराज को चारित्र टिकाने के लिए आहार की वृत्ति उत्पन्न हो तो दिन में एक ही बार, एक ही घर, निर्दोष आहार लेते हैं; बारम्बार आहार नहीं लेते और वह आहार भी जैनमार्ग के आचरण को जाननेवाले उत्तम कुलवान श्रावक के घर लेते हैं। आहारदान के प्रसङ्ग पर मुनि के प्रति विनयपूर्वक नवधाभक्ति कैसी होती है? यह जैन श्रावक के अतिरिक्त अन्य किसी को ज्ञात नहीं होता और उस प्रकार की विधि बिना मुनिराज आहार–ग्रहण नहीं करते।

आहार लेते–लेते भी उसमें कहीं जीव–जन्तु की हिंसा का सन्देह हो अथवा बाल आदि अशुद्ध वस्तु आहार में दिखे तो मुनिराज आहार–ग्रहण करना छोड़ देते हैं। भले ही पूर्व में एक–दो दिन के उपवास किए हों तो भी शिथिल बनकर आहार नहीं लेते तथा परिणाम में क्लेश भी नहीं करते; अपितु आहार सम्बन्धी विचार छोड़कर, आत्मा के ज्ञान–ध्यान में उपयोग जोड़ देते हैं – ऐसा उत्तम आचरण **व्यवहार एषणासमिति** में होता है।

(4) आदान–निक्षेपणसमिति – वीतराग–विज्ञानघनस्वभावी आत्मा ने अनन्त गुणों को ग्रहण कर रखा है, जिसे वह छोड़ता नहीं और रागादि को कभी ग्रहण नहीं करता – ऐसे त्रैकालिक आत्मा का अवलम्बन लेकर, निर्विकल्प शुद्धपरिणति को ग्रहण करना और रागादि अशुद्धपरिणति को छोड़ना, वह **निश्चय आदान–निक्षेपणसमिति** है।

वीतरागमार्गी जैन मुनियों को शरीर की रक्षा के लिए कोई उपकरण नहीं होते; संयम की रक्षा के लिए पिच्छी होती है, जिसके द्वारा जीव-जन्तुओं की रक्षा होती है। ज्ञान के उपकरणस्वरूप कभी शास्त्र रखते हैं। मल-मूत्रादि की शुचिता के लिए पानी से भरा कमण्डल होता है; इस प्रकार पिच्छी, शास्त्र और कमण्डल को रखने-उठाने में वे सावधानी रखते हैं। किसी भी जीव-जन्तु की विराधना न हो, वैसा वर्तन करते हैं - ऐसे सावधानीयुक्त परिणाम, **व्यवहार आदान-निक्षेपणसमिति** है।

(5) प्रतिष्ठापनसमिति - चैतन्य का नूर, आनन्द का पूर भगवान आत्मा, प्रतिष्ठापनस्वरूप है - ऐसे आत्मा के सन्मुख होकर लीनता करने से जो निर्मल वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, वह **निश्चय प्रतिष्ठापनसमिति** है। मुनिराज, शरीर के मल-मूत्र, कफ आदि का त्याग, भूमि के संशोधनपूर्वक सावधानी से करते हैं, यह **व्यवहार प्रतिष्ठापनसमिति** कहलाती है।

अखण्ड-नित्य निरावरण-सहज परमपारिणामिकभाव स्वरूप निज आत्मा के अवलम्बन-आश्रय-सन्मुखता-ध्यान से जो निश्चय वीतरागपरिणति प्रगट हुई है, उसे निश्चय प्रायश्चित कहो, निश्चय महाव्रत कहो, निश्चय समिति कहो, निश्चय गुप्ति कहो, निश्चय प्रत्याख्यान कहो, निश्चय प्रतिक्रमण कहो, निश्चय आलोचना कहो, निश्चय शील कहो - वे सब पर्यायें ध्यानरूप ही हैं; अर्थात्, परमपारिणामिकभाव का ध्यान करने से ही निश्चय महाव्रतादि पर्यायें प्रगट होती हैं। ●

वीतरागचारित्र ही इष्टफल प्रदाता

(श्रीप्रवचनसार गाथा 6-7 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

प्रवचनसार के प्रारम्भ में पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों को नमस्काररूप मङ्गलाचरण किया और शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र ही साक्षात् मोक्षमार्ग है - ऐसा दर्शाकर मोक्षमार्ग को आचार्यदेव ने अङ्गीकार किया है।

अब, छठवीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि वीतरागचारित्र, इष्ट फलवाला है; वही सुखरूप मोक्षदाता है; इसलिए वह उपादेय है और राग, अनिष्टफल देनेवाला है; राग का फल, बन्धन और क्लेश है; अतः वह हेय है।

चारित्र को धर्म कहा है किन्तु कौन-सा चारित्र ? वीतरागभावरूप चारित्र। जो मोह और क्षोभ अर्थात् राग-द्वेषरहित चारित्र है, वह धर्म है, उसका फल मोक्ष है। शुभराग, वह चारित्र नहीं है; वह तो कषायकण है, उससे तो क्लेश और बन्धन होता है। अरे! ऐसा स्पष्ट धर्म का स्वरूप होने पर भी अज्ञानीजन, शुभराग को-पुण्य को सच्चा धर्म मानते हैं। शुभराग में या पुण्य के फल में सुख नहीं है - यह बात आचार्यदेव इस प्रवचनसार में अनेक प्रकार से, युक्ति से स्पष्ट कहते हैं।

अहा! मोक्षमार्ग के पथिक मुनिवर तो शुद्धोपयोग के द्वारा मोक्ष को साध्य करना चाहते हैं, बीच में जो शुभराग आ पड़ता है, उसकी भावना का आदर नहीं है; उस राग के फल में तो पुण्यबन्धन होता है और भवभ्रमण करना पड़ता है।

देखो, पाँच पाण्डव मुनिवर... शत्रुञ्जयगिरि पर ध्यान में खड़े थे; वहाँ धधकते हुए तप्त लोहे के गहने दुर्योधन के भानेज ने पहनाये... मुनिराजों पर उपसर्ग किया, तब उनमें से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन – ये तीन मुनि तो सरागचारित्र को छोड़ कर, वीतरागचारित्र के द्वारा स्वरूप में विशेष निश्चल होकर, केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष को प्राप्त हुए और शेष दो नकुल, सहदेव मुनि को ऐसी वृत्ति उत्पन्न हुई कि 'अरे! भाइयों को उपसर्ग के समय क्या होता होगा ?'

– इस प्रकार शुभविकल्परूप सरागचारित्र में अटक गये और शुभराग के फल में सर्वार्थसिद्धि देवलोक में गये, वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष को प्राप्त करेंगे; इस प्रकार शुभराग के कारण दो भव हुए। इसलिए ऐसा शुभरागयुक्त सरागचारित्र तो इष्टफलरूप मोक्ष को रोकनेवाला है और वीतरागचारित्र ही मोक्षरूप इष्टफल को देनेवाला है; अतः मुमुक्षु को वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य है और सरागचारित्र छोड़ने योग्य है। सरागचारित्र तो देवलोकरूप अनिष्टफल देनेवाला है। अरे! स्वर्ग के विषय कहीं धर्मी को इष्ट नहीं हैं; आत्मा का अतीन्द्रिय सुख ही धर्मी को इष्ट है। शुभराग, इन्द्रियसुखदाता है; अतीन्द्रियसुख में तो वह बाधक ही है–रोकनेवाला ही है; इसलिए वह अनिष्ट है, छोड़ने योग्य है।

अहो! आचार्यदेव ने कितनी स्पष्ट बात समझायी है। शुभराग को स्पष्टरूप से अनिष्ट फलदाता कहा है और अज्ञानी उसे मोक्ष का कारण मानता है! देखो, वीतरागचारित्र तीनों काल इष्ट फलदाता होने से वही मोक्षार्थी को ग्रहण करने योग्य है। सम्यग्दर्शन –सम्यग्ज्ञान भी यद्यपि मोक्षमार्ग है परन्तु उसके साथ स्वरूपस्थिरतारूप वीतरागचारित्र प्रगट किये बिना मोक्षमार्ग अखण्ड नहीं होता; साथ–साथ भूमिकानुसार जितना राग शेष रहता है, उससे जीव, स्वर्ग के वैभवरूप क्लेश को पाता है; अतः वह कुछ भी मुमुक्षु को इष्ट नहीं है।

शुभराग तो स्वयं विषमभावरूप होने से उसमें आत्मिकशान्ति नहीं है। मोक्ष के कारणरूप तो साम्यभाव है। स्वरूप में प्रवृत्ति के द्वारा राग–द्वेषरहित शुद्धपरिणाम प्रगट होते हैं, उसका नाम चारित्र है और उसी में परम शान्ति का माधुर्य है, वह धर्म है, वही आत्मा का स्वभाव भी है। ऐसे चारित्र को भगवान ने मोक्ष का साधन कहा है और ऐसा चारित्र भी

सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही होता है। ऐसे चारित्रवन्त के ही मुनित्व होता है। जिसे मूल में सम्यग्दर्शन ही नहीं है, जो शुभराग को सुख का कारण मानकर उपादेय समझता है, उसे तो चारित्र ही कैसा ? और मुनित्व भी कैसा ?

राग तो संयोगीभाव है, परसमयरूप प्रवृत्ति है और चारित्र तो स्वभावभाव है, स्वसमयप्रवृत्ति है। अरे! सच्चे चारित्र की पहिचान भी जीवों को दुर्लभ हो गयी है। बाह्य में देह की क्रिया में, नग्न शरीर में या व्रतादि के शुभराग में ही अज्ञानी ने चारित्र मान रखा है किन्तु वह चारित्र है ही नहीं; चारित्र तो आत्मगुण है, उसमें शुद्ध चैतन्य प्रकाशित है। जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का घोलन है – ऐसा सर्वज्ञकथित चारित्र ही धर्मी को ग्रहण करने योग्य है।

देखो, आचार्यदेव यहाँ चारित्र ग्रहण करने का उपदेश दे रहे हैं। लोग कहते हैं कि तुम चारित्र को मानते हो ? हाँ, किन्तु कौन-सा चारित्र ? अज्ञानियों का माना हुआ चारित्र तो चारित्र ही नहीं है; वह तो क्लेश है। यह तो अन्तर में चैतन्य के अनुभव में वीतरागीलीनतारूप चारित्र की बात है कि जिसके ग्रहण से परम इष्ट ऐसे मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

भाई! मोक्ष के लिये कैसे चारित्र की भावना करने योग्य है ? उसका स्वरूप स्वयं आचार्यदेव ऐसी चारित्रदशा में रहकर बतला रहे हैं। स्वयं को अनुभव में आ रही है — ऐसी चारित्रदशा का यह कथन है। जो स्वयं ने मोक्ष के स्वयंवर में अङ्गीकार की है - इष्ट है और बीच में राग आता है, वह हमारा इष्ट नहीं है; उसको तो छोड़कर हम स्वरूप में अवस्थित होना चाहते हैं। क्षण-क्षण में बुद्धिपूर्वक के विकल्प टूट करके निर्विकल्प शुद्धोपयोग होता है — ऐसी चारित्रदशा में वर्तते हुए मुनिराज का यह कथन है।

अरे भाई! ऐसी वीतरागता को समझ तो सही! मोक्ष के हेतु ऐसी वीतरागता ही अङ्गीकार करने योग्य है; राग का एक कण भी रखने योग्य नहीं है — ऐसा दृढ़ निर्णय तो कर! निर्णय और श्रद्धान सच्चे होंगे तो चारित्रदशा का अवसर आयेगा, किन्तु श्रद्धा में भूल होगी तो चारित्र कहाँ से आयेगा ? अरे! सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित का शुभभाव तो राग है, वह भी अनिष्ट फलदाता है, फिर अज्ञानी के शुभराग की तो बात ही क्या ? चारित्र, वह राग या शरीर की क्रिया नहीं है। चारित्र तो चैतन्य में चरणरूप है। जिसे निजस्वरूप की खबर भी नहीं है, वह कहाँ चरण अर्थात् विश्रान्ति करेगा ?

भूमिकानुसार शुभराग आता है किन्तु वह वास्तव में चारित्र है ही नहीं; उसे तो चारित्रदशा में सहचर देखकर चारित्र का उपचार किया है। जो सत्य वीतरागचारित्र को भूलकर, राग को ही सच्चा चारित्र मान रहा है, उसे तो मिथ्यात्व है; अर्थात्, सच्चा या उपचार एक भी चारित्र उसे नहीं है। जहाँ सच्चा चारित्र हो, वहाँ उचित राग में आरोपरूप व्यवहार होता है। जिसे सत्यार्थ स्वरूप की पहचान नहीं है, उसे व्यवहार का भी पता नहीं है। सच्चे निश्चयसहित ही व्यवहार होता है। जहाँ निश्चयचारित्र नहीं है, फिर भी उसे सच्चा चारित्र मान लेता है तो विपरीत मान्यतावश, उसे मिथ्याश्रद्धा होती है।

आचार्यदेव ने सरागचारित्र अर्थात् व्यवहारचारित्र के शुभराग को बन्ध का कारण-क्लेश कहकर स्पष्ट बतलाया है कि वह मोक्षमार्ग नहीं है, वह तो अनिष्ट है, अनिष्ट फलदाता है; सच्चा चारित्र तो एक वीतरागभाव है, जो इष्ट ऐसे मोक्षफल को देनेवाला है। ऐसा चारित्रधर्म का स्वरूप प्रवचनसार की 07 वीं गाथा में बतलाया है।

मोक्ष का कारण तो वीतरागभाव है। वीतरागभावरूप चारित्र ही धर्म है। साम्यभाव, वीतरागभाव धर्म है। सरागचारित्र में शुभराग है, वह तो बन्ध का कारण है; वह धर्म नहीं है, वह जीव का स्वभाव नहीं है; चारित्रधर्म, जीव का स्वभाव है-निर्विकारी शुद्धपरिणाम है।

मोह-क्षोभरहित; अर्थात्, मिथ्यात्व और राग-द्वेषरहित — ऐसे समभावरूप जो आत्मपरिणाम, वह चारित्रधर्म है, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना नहीं होता। सम्यग्दर्शनसहित जो शुभराग है, वह कहीं चारित्र नहीं है; चारित्र तो रागरहित स्वाश्रित निर्मलभाव ही है। जिसने स्व-पर की भिन्नता जानकर, स्व-स्वभाव में एकाग्रता की है, उसे ही स्वसमय में प्रवृत्तिरूप चारित्र होता है। ऐसा चारित्र, शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करता है। चैतन्य का शुद्ध प्रकाशन ही चारित्र है। ऐसा चारित्र, इष्टफल अर्थात् मोक्ष दाता है। अज्ञानी, शुभराग को चारित्र मान रहा है किन्तु वह इष्टफल देनेवाला नहीं है; राग तो क्लेश देनेवाला है।

भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाशी सूर्य है, उसकी चैतन्यकिरणों में रागादि मैल नहीं है। चैतन्य का प्रतपनरूप चारित्र, वह राग की प्रवृत्ति से रहित है। आप चारित्र की क्रिया मानते हो ? तो कहते हैं कि हाँ। चारित्र की क्रिया कैसी होती है ? कि अपने शुद्धस्वरूप में प्रवृत्तिरूप क्रिया, वह चारित्र की क्रिया है। ऐसी क्रिया द्वारा मोक्ष सधता है। मोक्ष की साधक ऐसी चारित्रक्रिया को अज्ञानी नहीं पहिचानता है।

अहो! चारित्रदशा का ऐसा वीतरागस्वरूप! इस समय में तो वह सुनने को भी महाभाग्य से मिलता है तो वैसी साक्षात् चारित्रदशा की महिमा की क्या बात? यह समरसरूप चारित्र, भवाग्नि की तपन को शान्त करनेवाला है। चैतन्य के अतीन्द्रिय शान्तरस में लीन हुए मुनियों को ऐसी चारित्रदशा होती है। दर्शनमोह और चारित्रमोह – दोनों का नाश करके, शुद्धात्मा की प्रतीति और उसमें एकाग्रता हो, तब चारित्रदशा और मुनिपना प्रगट होता है। **अहा! मुनि हुए, वे परमेष्ठी हुए; जगत्पूज्य सिद्धों की और अरहन्तों की श्रेणी में बैठे। शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्पदशा में ही मुनिपना प्रगट होता है।**

प्रथम, सातवाँ गुणस्थान होता है, फिर सविकल्पदशा होने पर छट्ठा गुणस्थान होता है – ऐसा ही मुनिदशा का क्रम है। प्रथम, छठवाँ गुणस्थान आये और फिर सातवाँ — ऐसा नहीं है। सर्व परिग्रह से रहित होकर, आत्मा के ध्यान में एकाग्र होने पर सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है, तब मुनिदशा हुई कहलाती है। ऐसी दशा बिना मुनिपना, वह सच्चा मुनिपना नहीं है और उसको सच्चा चारित्र नहीं होता। अन्तर की शुद्धि के बिना कदाचित् शुभराग से पञ्च महाव्रत पाले तो वह कोई मोक्ष का कारणरूप; अर्थात्, चारित्ररूप नहीं है; वह तो पुण्यबन्ध का और स्वर्ग के क्लेश का कारण है।

शुभराग भी मोह का ही प्रकार है; चारित्र तो निर्मोह परिणाम हैं। ऐसे शुद्धपरिणाम से परिणमित हुआ जीव, शुद्ध है, वह स्वयं चारित्र है। चारित्र, वह जीव से अलग कोई परिणाम नहीं है। निजशुद्धात्मपरिणतिरूप धर्म ही सच्चा धर्म है और पञ्च परमेष्ठी भगवान आदि की भक्तिरूप शुभराग, वह व्यवहारधर्म है अर्थात् पुण्यबन्ध का कारण है। यदि उसी को मोक्ष के कारणरूप परमार्थ धर्म मान ले तो, उसे पापानुबन्धी पुण्य है जो मिथ्यात्वसहित ही बँधता है। यहाँ तो प्रथम से ही 'ज्ञान-दर्शनस्वरूप स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष ऐसा मैं, पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार करता हूँ' – इस प्रकार अपनी प्रतीतिसहित की बात है। आत्मा की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र की भावना है, बीच में शुभराग आये, उसकी धर्मी को भावना नहीं है।

शुभराग तो शुभपरिणति है, वह शुद्धपरिणति नहीं है; आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्र ये तीनों शुद्धपरिणतिरूप हैं, उस शुद्धपरिणति द्वारा ही मुनिदशा होती है। शुद्धपरिणति

के बिना सम्यग्दर्शन, मुनिपना या केवलज्ञान आदि कुछ भी नहीं होता। शुद्धपरिणति ही धर्म है, वही मिथ्यात्वादि भावरूप संसार में डूबते हुए आत्मा का उद्धार करके शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थिर करती है। आगे कहेंगे कि हे भव्य जीवो! यदि तुमको दु:ख से मुक्त होने की भावना हो तो पञ्च परमेष्ठी को प्रणाम करके ऐसे शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र को अङ्गीकार करो! हम तो ऐसी चारित्रदशा का अनुभव कर रहे हैं और तुम भी अङ्गीकार करना चाहते हो तो 'उस मार्ग के प्रणेता हम यह खड़े हैं।' ● *(-आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-25, अङ्क-8, पृष्ठ 24-28)*

मुनि की भावना – मुझे तो शुद्धोपयोग में ही रहना है.....

मुनिराज को ज्यों-ज्यों आत्मध्यान की शक्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों व्यवहार छूटता जाता है। मुनिराज को इतनी शुद्धि तो प्रगट ही है कि अन्तर्मुहूर्त से अधिक उपयोग बाहर रहता ही नहीं। विकल्प आते हैं, परन्तु उनमें तत्परता नहीं। पुरुषार्थ की कमजोरी से व्यवहार में आना पड़ता है, लेकिन भावना तो बारम्बार शुद्धस्वरूप में स्थिर होने की ही रहती है। विकल्प के प्रति खेद वर्तता है।

जयधवल में आता है कि मैंने शुद्धोपयोग की प्रतिज्ञा की है, फिर भी आहार का राग आया तो मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग हुई, इसलिए मैं पुन: शुद्धोपयोग की प्रतिज्ञा करता हूँ। मुझे तो शुद्धोपयोग में ही रहना है। अहो! ऐसी दशा, वह यथार्थ मोक्षमार्ग है। स्वरूपलीनता ही मोक्ष का उपाय है, बीच में व्यवहार का विकल्प आता है, वह तो बन्ध का कारण है।....

....आहाहा ! दिगम्बर सन्तों ने भी क्या आश्चर्यकारी काम किया है ? बहुत थोड़े शब्दों में पूरा सार भर दिया है। *(योगसार प्रवचन, पृष्ठ 170-172)*

मुनिराज को छेदोपस्थापनाचारित्र के अन्तर्गत

अट्ठाईस मूलगुण की प्रवृत्ति

(प्रवचनसार, गाथा 208–214 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

मुनिदीक्षा के पश्चात् मुनिराज, निर्विकल्प **सामायिकचारित्र** में आरूढ़ होकर केवलज्ञान ही प्राप्त करना चाहते हैं; अतः सर्व प्रथम सामायिक में लीन हो जाते हैं परन्तु ऐसा निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप चारित्र नहीं हो पाने पर, वे अट्ठाईस मूलगुणों को अङ्गीकार करते हैं – यह **छेदोपस्थापनाचारित्र** माना गया है। प्रवचनसार, गाथा 208–209 की तात्पर्यवृत्ति टीका में उत्थानिका में आचार्य जयसेन कहते हैं –

'जब मुनिराज निर्विकल्प सामायिकसंयम से च्युत होते हैं, तब सविकल्प छेदोपस्थापनाचारित्र को धारण करते हैं।'

अथवा छेद; अर्थात्, व्रतों का खण्डन होने पर, पुनः व्रतों को धारण करनेवाला छेदोपस्थापक कहलाता है।

उक्त विषय में यहाँ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का सार दिया जा रहा है –

साक्षात् श्रमण होने तक की बात पूर्व गाथा में कही गयी थी। अब, निर्विकल्पदशा में विकल्प उत्पन्न हो तो मुनिराज वापस छठवें गुणस्थान में आते हैं। उस समय की स्थिति कैसी होती है ? वह कहते हैं –

अविच्छिन्न सामायिक में आरूढ़ हुआ होने पर भी, श्रमण कदाचित् छेदोपस्थापना के योग्य है, ऐसा अब उपदेश करते हैं -

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च॥ 208॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥ 209॥॥ युगलं॥

व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोंच, आवश्यक, अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन, और एक बार आहार - ये वास्तव में श्रमणों के मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं; उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण, छेदोपस्थापक होता है।

छेदोपस्थापन दो प्रकार का है - 1. सातवें गुणस्थान से पुनः छठवें गुणस्थान में आये, इतना सामायिक में भङ्ग पड़ा; इसलिए उसका नाम छेद है, तथा 2. छठवें गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुणों में कोई प्रमाद हो जाए तो उसे भी छेद कहते हैं।

सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत की व्यक्तियाँ (विशेष; प्रगटताएँ) होने से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की विरतिस्वरूप पाँच प्रकार के व्रत तथा उसकी परिकरभूत पाँच प्रकार की समिति; पाँच प्रकार का इन्द्रियरोध; लोच; छह प्रकार के आवश्यक; अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन (मञ्जन नहीं करना), खड़े-खड़े भोजन और एक बार आहार - इस प्रकार ये (अट्ठाईस) निर्विकल्प सामायिक संयम के विकल्प (भेद) होने से श्रमणों के मूलगुण ही हैं।

छठवें गुणस्थान में शुभवृत्ति उत्पन्न हो, वहाँ अट्ठाईस मूलगुण के अतिरिक्त अन्य वृत्ति नहीं होती। ये अट्ठाईस मूलगुण तो व्यवहार से हैं और परमार्थ से तो स्वरूप में रमना - यह एक ही मूलगुण है। यहाँ सामायिकपूर्वक छेदोपस्थापना की बात की गयी है; अर्थात्, शुभ का निषेध करके निर्विकल्प सामायिकदशा हो गयी है, फिर विकल्प उत्पन्न होने पर छठवें गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुण की शुभवृत्ति आती है, उसका नाम छेदोपस्थापना है परन्तु उसमें

इन अट्ठाईस मूलगुणों के अतिरिक्त वस्त्र-पात्र आदिक की वृत्ति नहीं होती। मुनिदशा का यह स्वरूप भगवान ने कहा है।

साधुपद कैसा होता है ? – यह उसकी बात है। अपने को भी ऐसा साधुपद प्रगट होने के पूर्व साधुपद कैसा होता है ? – उसकी पहचान तो करना चाहिए, क्योंकि देव का स्वरूप क्या है ? गुरु का स्वरूप क्या है ? और शास्त्र का स्वरूप क्या है ? – यह नहीं जाने तो मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता; इसलिए मुनि का स्वरूप जानना चाहिए। बाह्य में परिग्रहरहित हुए बिना और अन्तरङ्ग में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होकर वीतरागभाव हुए बिना, मुनिदशा नहीं होती। भले ही आत्मभान हो और मति-श्रुत-अवधि – ये तीन ज्ञान भी हों परन्तु अन्तरङ्ग में सच्ची वीतरागता हुए बिना, मुनिदशा नहीं होती।

मुनिदशा का यह एक ही प्रकार है। दिगम्बर शासन के अतिरिक्त अन्य में अन्य प्रकार के मुनि होते हैं – ऐसा नहीं है। दिगम्बर शासन कहो या वस्तु का स्वरूप कहो, इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से मुनिदशा नहीं होती। माता से जन्मे शिशुवत् निर्विकार और वस्त्रादिरहित दशा हुए बिना, मुनिपद माननेवाले ने गुरु का स्वरूप नहीं जाना है।

जिसे मुनिदशा हुई है, उसे सर्व सावद्ययोग का प्रत्याख्यान हो गया है। अन्तरङ्ग में सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पदशा प्रगट हो, वह सामायिक है। मुनि को आत्मध्यान में लीन होने पर पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है, तत्पश्चात् छठवाँ आता है। निर्विकल्पदशा के समय एक ही महाव्रत है, उसमें शुभविकल्प भी नहीं है। तत्पश्चात् छठवें गुणस्थान में आने तक पञ्च महाव्रत की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, एक भी हरितकाय जीव (सचित्त वनस्पति) की हिंसापूर्वक आहार लेने की वृत्ति नहीं होती – ऐसी अहिंसा होती है; इसी प्रकार कोई असत्, चोरी, अब्रह्मचर्य अथवा परिग्रह के सावद्यभाव, मुनि को नहीं होते – ऐसे पञ्च महाव्रत होते हैं और उन पञ्च महाव्रतों के साथ-साथ पाँच समिति इत्यादि अट्ठाईस मूलगुण होते हैं।

अट्ठाईस मूलगुण इस प्रकार हैं – पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलोञ्च, अचेलपना, अस्नानता, भूमि-शयन, अदन्तधोवन, खड़े-खड़े भोजन और एक बार भोजन। इन अट्ठाईस मूलगुणों का शुभविकल्प छठवें गुणस्थान में होता है; इससे

विरुद्धभाव मुनियों को नहीं होता। मुख्यरूप से तो मुनिराज जङ्गल में आत्मध्यान में ही लीन होते हैं – ऐसा मुनिदशा का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है।

अनन्त तीर्थङ्कर भगवन्तों के सनातनमार्ग में श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव जाहिर करते हैं कि जो इससे विपरीत मुनिदशा मानता है तो उसने अनन्त तीर्थङ्करों की आज्ञा नहीं मानी है। ऐसी सहज मुनिदशा होती है, उसमें हठ नहीं है; छठवें गुणस्थान में ऐसी शुभवृत्ति होती है। अन्तरङ्ग में वीतरागभाव के बिना नग्नदशा हो जाए, वह कोई मुनिदशा नहीं है; वह तो द्रव्यलिङ्ग है। जहाँ अन्दर में आत्मा के आनन्द में लीनता है, वहाँ ऐसा उदासीन वीतरागभाव सहज हुआ है कि दाँत साफ करने का अथवा वस्त्रादि ग्रहण करने का विकल्प भी उत्पन्न नहीं होता। मुनि तो सिंहवृत्तिधारक हैं, खड़े-खड़े ही आहार करते हैं। यदि शरीर में वैसी सामर्थ्य न हो तो समाधि अङ्गीकार करते हैं परन्तु अन्य प्रकार से आहार नहीं करते हैं।

मुनिराज एक ही बार आहार ग्रहण करते हैं, उन्हें दूसरी बार आहार की वृत्ति भी उत्पन्न नहीं होती। ये सब बाहर की बातें नहीं हैं परन्तु अन्दर में उस जाति का वीतरागभाव हो गया है। भाई ! यह तो सन्तों का परम्परा मार्ग है।

जो अट्ठाईस मूलगुण हैं, वे निर्विकल्प सामायिक के भेद हैं। अभेद में तो निर्विकल्पता ही एक मूलगुण है और विकल्प उत्पन्न होने पर अट्ठाईस भेद होते हैं। जब मुनिराज निर्विकल्प सामायिक में स्थिर हों, तब सातवें गुणस्थान में तो इन अट्ठाईस भेदों का विकल्प भी नहीं होता, परन्तु जब वे निर्विकल्पदशा में स्थिर नहीं रह सकते, तब अट्ठाईस मूलगुण के शुभविकल्प में आते हैं; वहाँ भी वीतरागभाव तो विद्यमान ही है। तात्पर्य यह है कि मुनिराज अकषायभाव को रखकर ही विकल्प में आते हैं।

जब (श्रमण) निर्विकल्प सामायिक संयम में आरूढ़ता के कारण, जिसमें विकल्पों का अभ्यास (सेवन) नहीं है – ऐसी दशा में से च्युत होता है, तब केवल सुवर्णमात्र के अर्थी को कुण्डल, कङ्कण, अंगूठी आदि को ग्रहण करना (भी) श्रेय है किन्तु ऐसा नहीं है कि (कुण्डल इत्यादि का ग्रहण कभी न करके) सर्वथा स्वर्ण की ही प्राप्ति करना ही श्रेय है – ऐसा विचार करके मूलगुणों में विकल्परूप से (भेदरूप से) अपने को स्थापित करता हुआ छेदोपस्थापक होता है।

सप्तम गुणस्थान में निर्विकल्प सामायिक तो अकेला स्वर्ण है और छठवें गुणस्थान में आने पर अट्ठाईस मूलगुण के शुभविकल्प होते हैं, वे भी स्वर्ण की पर्यायें हैं, क्योंकि उस शुभविकल्प के समय भी अन्दर में विशेष अकषायभाव विद्यमान ही है।

अहो! मुनिराज, प्रतिक्षण विकल्प को तोड़कर अन्दर में ऐसे लीन होते हैं कि मानो अभी केवलज्ञान लिया या लेंगे!! केवलज्ञान लेने की शीघ्रता करते हैं। जब निर्विकल्परूप से न रह सकें, तब छठवें गुणस्थान में विकल्प उत्पन्न होता है और तब अट्ठाईस मूलगुणों का शुभराग आता है। वहाँ हठ नहीं है कि शुभविकल्प आये ही नहीं। उन्हें विकल्प आने पर भी वीतरागता टिकी रहती है, इस अपेक्षा से अट्ठाईस मूलगुण को भी सामायिक संयम के भेद कहा गया है। मुनिराज, छठवें गुणस्थान के समय उस शुभराग में रहते हैं, इसका नाम छेदोपस्थापना है। मूलभूत एक निर्विकल्प संयम में छेद होकर, अट्ठाईस मूलगुण की वृत्ति उत्पन्न होती है; इसलिए वे मुनि छेदोपस्थापक हैं।

अब, मुनि को दीक्षा देनेवाले जैसे दूसरे (आचार्य) होते हैं; वैसे ही अन्य छेदोपस्थापक भी होते हैं - ऐसा कहते हैं।

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा॥ 210॥

मुनिराज, सप्तम गुणस्थान से छठवें गुणस्थान में आते हैं, वह स्वयं के उपादान की योग्यता है। उस समय निमित्त कैसा होता है? यह बात भी साथ ही करते हैं। जो दीक्षा देनेवाले हैं, वे गुरु हैं और छठवें गुणस्थान में आने पर सामायिक इत्यादि का स्वरूप बतानेवाले अन्य भी होते हैं; इसलिए छेदोपस्थापक, पर; अर्थात्, दूसरे भी होते हैं - ऐसा कहा है।

लिङ्ग ग्रहण के समय जो प्रव्रज्या (दीक्षा) दायक हैं, वे उनके गुरु हैं और जो छेदद्वय में उपस्थापक हैं (अर्थात्, 1. जो भेदों में स्थापित करते हैं, तथा 2. जो संयम में छेद होने पर पुनः स्थापित करते हैं), वे शेष श्रमण निर्यापक हैं।

मुनिराज को अट्ठाईस मूलगुणों की वृत्ति उत्पन्न होना भी निश्चय संयम में छेद है तो फिर अन्य भावों की बात ही क्या है? इनसे विरुद्धभाव आवें, वहाँ तो मुनिदशा होती ही नहीं।

छेद दो प्रकार का है –

1. निर्विकल्प संयम में 28 मूलगुणों का विकल्प उत्पन्न होना, वह **छेद** है।

2. छठवें गुणस्थान में 28 मूलगुणों में किञ्चित् अतिचार लगना भी **छेद** है।

जो आचार्य लिङ्गग्रहण के समय निर्विकल्प सामायिक संयम के प्रतिपादक होने से प्रव्रज्यादायक हैं, वे गुरु हैं और तत्पश्चात् तत्काल ही जो (आचार्य) सविकल्प छेदोपस्थापना संयम के प्रतिपादक होने से, 'छेद के प्रति उपस्थापक' (भेद में स्थापित करनेवाले) हैं, वे निर्यापक हैं; उसी प्रकार जो (आचार्य) छिन्न (खण्डित) संयम के प्रतिसन्धान (पुनः स्थापित) करने की विधि के प्रतिपादक होने से 'छेद होने पर उपस्थापक' (संयम में छेद होने पर, उसमें पुनः स्थापित करनेवाले) हैं, वे भी निर्यापक ही हैं; इसलिए छेदोपस्थापक, पर (अन्य) भी होते हैं।

जब मुनिराज निर्विकल्प सामायिक में नहीं रह सकें और छठवें गुणस्थान में आवें, तब दूसरे मुनि कहते हैं – 'हे मुनि! अन्तर में निर्विकल्प अप्रमत्तभाव में झूलना ही मुनिदशा है – ऐसा उपदेश सुनकर वे पुनः निर्विकल्प हो जाते हैं। वहाँ अन्य मुनि को छेदोपस्थापक कहा जाता है **अथवा** 28 मूलगुणों में कोई अतिचार लगे तो उसे प्रायश्चित्त इत्यादि देकर उस अतिचार को दूर करते हैं, उन्हें भी छेदोपस्थापक कहा जाता है।

दूसरे निर्यापक हैं – यह निमित्त अपेक्षा से कहा है। चरणानुयोग में निमित्त का भी ज्ञान कराया है। गुरु, निर्यापक हैं – इसका यह अर्थ नहीं है कि गुरु इसके संयम का निर्वाह करा देते हैं, अपितु श्रमण स्वयं अपने संयम का निर्वाह करते हैं, वहाँ निमित्तरूप से गुरु को भी निर्यापक कहा जाता है। वहाँ उपदेश देनेवाले गुरु भी 28 मूलगुणों से विरुद्ध उपदेश नहीं देते हैं।

छेदोपस्थापक के दो अर्थ हैं –

1. जो छेद (भेद) के प्रति उपस्थापक हैं; अर्थात्, जो 28 मूलगुणरूप भेद समझाकर, उनमें स्थापित करते हैं, वे **छेदोपस्थापक** हैं।

2. जो छेद होने पर उपस्थापक हैं; अर्थात्, संयम छिन्न होने पर या खण्डित होने पर पुनः उसमें स्थापित करते हैं, वे भी **छेदोपस्थापक** हैं।

देखो, वस्त्रसहित मुनिदशा माननेवाले को तो तीर्थङ्कर भगवान को भी वैसा ही कहनेवाला मानना पड़ेगा और शास्त्र भी वैसे ही मानने पड़ेंगे। इस प्रकार उसकी श्रद्धा में देव, गुरु और शास्त्र तीनों के स्वरूप में विपरीतता हो जाती है, उसमें तो गृहीत मिथ्यात्व है।

अहो! मुनिदशा का सम्यक्त्व, उनकी आत्मा में झूलती चारित्रदशा और उनकी केवलज्ञान लेने की तैयारी! - जो ऐसी मुनिदशा को विपरीत मानते या मनवाते हैं, वे कुन्दकुन्द भगवान का विरोध करते हैं। एक ओर कुन्दकुन्द भगवान को महान कहना और फिर वस्त्रसहित मुनिदशा मानना - इन दोनों बातों का मेल नहीं है, क्योंकि कुन्दकुन्द भगवान तो कहते हैं कि तीन काल में भी वस्त्रसहित मुनिपना हो ही नहीं सकता। वस्तुस्वरूप का भगवान द्वारा कथित और सन्तों द्वारा अनुभवित मुनिदशा का यही सच्चा मार्ग है; इसके अतिरिक्त अन्यमार्ग है ही नहीं।

वस्त्ररहित भी मुनि होते हैं और वस्त्रसहित भी मुनि होते हैं - ऐसे मुनियों के दो प्रकार नहीं हैं। मुनि को निर्ग्रन्थ कहा जाता है; अर्थात्, उन्हें अन्तरङ्ग में तो तीन कषाय की ग्रन्थि टूट गयी है और बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह का अभाव होता है - ऐसी दशा हो, वही वीतरागमार्ग में मुनिपना है।

अब, छिन्न संयम के प्रतिसन्धान की विधि का उपदेश करते हैं -

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया॥ 211॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं॥ 212॥॥ युगलं॥

यदि श्रमण के प्रयत्नपूर्वक की जानेवाली कायचेष्टा में छेद होता है तो उसे तो आलोचनापूर्वक (विचार करके) क्रिया करना चाहिए॥

यदि श्रमण, छेद में उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैनमत में व्यवहारकुशल श्रमण के पास जाकर आलोचना करके (अपने दोष का निवेदन करके), वे जैसा उपदेश दें, वह करना चाहिए॥

अन्तरङ्ग में अतिशय वीतरागदशापूर्वक मुनिदशा का यथार्थ व्यवहार कैसा होता है और निमित्त कैसे होते हैं ? इन सबका वर्णन इस चरणानुयोगसूचक चूलिका में किया है।

मुनिराज को मुनि के योग्य शुद्धोपयोग होता है, इसे अन्तरङ्ग अथवा निश्चय प्रयत्न कहते हैं और उस शुद्धोपयोगदशा के साथ वर्तता जो हठरहित, देह-चेष्टादि सम्बन्धी शुभोपयोग होता है, वह बहिरङ्ग अथवा व्यवहार प्रयत्न है। जब तक शुद्धोपयोगदशा न हो, तब तक शुभोपयोग हठसहित होता है। वह शुभोपयोग, व्यवहार प्रयत्न की संज्ञा भी प्राप्त नहीं कर सकता।

अन्तर में वीतरागभाव के बिना, मात्र अकेले 28 मूलगुण के शुभविकल्प ही करता हो तो वह छठवें गुणस्थान के योग्य शुभोपयोग नहीं है परन्तु हठपूर्वक का शुभोपयोग है। सहज शुद्धोपयोगदशापूर्वक छठवें गुणस्थान में शुभविकल्प होता है, वह शुभोपयोग का व्यवहार प्रयत्न है। जहाँ अन्तरङ्ग में कषायरहित निश्चय प्रयत्न हो, वहीं शुभ को व्यवहार प्रयत्न कहा जाता है। अन्तरङ्ग में वीतरागभावरहित अकेले शुभभाव को तो मुनिदशा का व्यवहार प्रयत्न भी नहीं कहा जा सकता। अन्दर में वीतरागी भाव रखकर, जो 28 मूलगुण की वृत्ति उत्पन्न हुई, उसे व्यवहार प्रयत्न कहा है। मुनिदशा तो अन्तर के वीतरागभाव से ही कायम है।

जहाँ ज्ञाता-दृष्टास्वरूप में रमणता है, वहाँ सहज प्रमाद से दोष हो जाए तो निर्दोषपने निवेदन करके उस दोष को टाल देते हैं। अन्दर में ज्ञातास्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता है, उसके जोर से राग टल जाता है। चरणानुयोग में तो व्यवहार का कथन आता है परन्तु वस्तुस्वरूप से ज्ञानी तो विकल्प का भी ज्ञाता-दृष्टाभाव होता है।

संयम का छेद दो प्रकार का है - बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग। उसमें, मात्र कायचेष्टा -सम्बन्धी बहिरङ्ग छेद है और उपयोगसम्बन्धी अन्तरङ्ग छेद है।

निश्चय से किसी कायचेष्टा से दोष नहीं होता तथा आत्मा कायचेष्टा कर सकता है - ऐसा है ही नहीं, परन्तु निमित्तरूप से काया की चेष्टा में कुछ अन्तर पड़ गया हो; अर्थात् कदाचित् हरितकाय पर पैर लग गया हो, वहाँ मुनि के भाव में तो दोष नहीं है; अतः उसे बहिरङ्ग छेद कहते हैं और यदि अन्तरङ्ग के शुभभाव में कुछ प्रमाद हो जाए तो उसे अन्तरङ्ग छेद कहते हैं।

यदि भलीभाँति उपयुक्त श्रमण के प्रयत्नकृत कायचेष्टा में कथञ्चित् बहिरङ्ग छेद होता है तो वह सर्वथा अन्तरङ्ग छेद से रहित है; इसलिए आलोचनापूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतिकार (इलाज) होता है।

अन्दर में यदि उपयोग का तो दोष है नहीं, भूमिकानुसार शुद्ध और शुभ दोनों भाव यथावत् हैं, मात्र शरीर की चेष्टा में अन्तर पड़ा है। अन्तरङ्ग छेद तो जरा भी नहीं है, मात्र बहिरङ्ग छेद है; इस कारण आलोचनापूर्वक (विवेकपूर्वक) क्रिया से वह बहिरङ्ग छेद टल जाता है।

यदि वही श्रमण उपयोगसम्बन्धी छेद होने से साक्षात् छेद में ही उपुयक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधि में कुशल श्रमण के आश्रय से, आलोचनापूर्वक उनके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा (संयम का) प्रतिसन्धान होता है।

यदि अन्तरङ्ग छेद होता है; अर्थात्, अन्दर विकल्प में कुछ अन्तर पड़ गया हो तो गुरु के समीप निवेदन करके, उनके द्वारा उपदेशित उपवास आदि अनुष्ठान द्वारा उस छेद का अभाव करता है।

वस्तुत: अन्दर में आत्मा का भान और स्थिरता है, वही मुनिदशा है। वहाँ शुभविकल्प कैसा होता है तथा उसका निमित्त कैसा होता है ? – यह ज्ञान कराने के लिए यहाँ यह वर्णन किया है।

देखो, मुनिदशा कैसी होती है ? – मुनि को अन्तर के आनन्द में स्थिरता होती है, उसका नाम स्वस्थभाव है। मुनिराज तो अन्तर के ज्ञानानन्द में एकदम लवलीन हैं, उसमें शुभभाव की वृत्ति भी नहीं है – ऐसा वीतरागी स्वस्थभाव अन्दर में टिकाए रखकर बाह्य में शरीर के हलन–चलन इत्यादि में सहज फेरफार हुआ हो तो वह, मात्र बाह्य छेद है और वह तो अन्तर में उसकी आलोचना करने से टल जाता है। शरीर की क्रिया पर ऐसा लक्ष्य गया कि यह ऐसा हुआ। वहाँ शुभविकल्प से उसका विचार कर लेने से ही बाह्य छेद का प्रायश्चित्त हो जाता है।

शुद्धोपयोग में से बाहर निकलकर छठवें गुणस्थान में शुभविकल्प उत्पन्न हुआ, उतने

अंश में स्वभाव से हटा; इसलिए वहाँ शरीर की क्रिया को निमित्तरूप से बाह्य छेद में गिना गया है; उस छेद को टालने के लिए स्वरूप का विचार करना – ऐसी यहाँ बात है।

शरीर की चेष्टा, आत्मा की नहीं है तथा उस चेष्टा का दोष आत्मा को नहीं लगता, परन्तु शुभविकल्प उत्पन्न होने पर, अपना लक्ष्य शरीर की चेष्टा पर गया हो, तब उसमें कुछ फेरफार हुआ हो तो उसकी आलोचना करने की बात की गयी है, क्योंकि उसे अन्दर के भाव में तो दोष लगा नहीं है किन्तु यदि अन्दर के भाव में दोष लगे और स्वसंवेदन की भूमिका से च्युत हो तो आचार्य के समीप जाकर निर्दोषरूप से निवेदन करके प्रायश्चित्त लेता है।

अहो! मुनिराज अन्दर में तो ज्ञाता-दृष्टाभाव से राग के भी कर्ता नहीं हैं, उन्हें तो एकदम उदासीन परिणाम वर्तते हैं, स्वद्रव्य का ही अवलम्बन है। पर्याय क्रमसर होती है, उसके वे ज्ञाता हैं; उसमें कुछ भी फेरफार करने की बुद्धि नहीं है। एक चैतन्यद्रव्य में ही प्रतिबद्ध हैं, असंख्य प्रदेशी ज्ञानपिण्ड में ही लीनता है, वहाँ विकल्प उत्पन्न होने पर परिणाम में कितनी सरलता है, उसकी यह बात है। अहो! मुनिराज को तो स्वभावसन्मुखता की उग्रता वर्तती है।

जिनके रोम-रोम में वैराग्य की धारा बहती हो, जिन्हें देखते ही ऐसा लगे कि मानो जगत् के परमेश्वर हों, आत्मा के असंख्य प्रदेशों में निर्विकल्प आनन्द की धारा बहती हो, अन्दर स्वरूप में झूलते हैं... ऐसे मुनिराज जगत् के धर्मपिता हैं। अहो! अभी तो वीतरागी सन्त मुनिराज के दर्शन भी दुर्लभ हैं। अभी तो लोगों को ऐसी मुनिदशा का स्वरूप समझना भी कठिन हो गया है।

अब, श्रामण्य के छेद के आयतन होने से परद्रव्य-प्रतिबन्ध निषेध करने योग्य है, ऐसा उपदेश करते हैं –

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि॥ 213॥

अधिवास में (आत्मवास में अथवा गुरुओं के सहवास में) वसते हुए या विवास में (गुरुओं से भिन्न वास में) वसते हुए, सदा (परद्रव्य सम्बन्धी) प्रतिबन्धों को परिहरण करता हुआ, श्रामण्य में छेदविहीन होकर श्रमण विचरण करो।

मुनिराज, शुद्ध उपादानरूप से चिदानन्दस्वरूप के सन्मुख रहते हैं और निमित्तरूप से श्रीगुरु के समीप उनके चरणों में वसते हैं अथवा गुरु की आज्ञा लेकर एकान्त में वसते हैं; स्वच्छन्द नहीं वर्तते। चिदानन्दस्वरूप की रमणता में प्रतिबन्ध नहीं आने देते। मुनिदशा तो महादशा है, पुरुष को भी वह दशा दुर्लभ है और सनातन वीतरागमार्ग में, स्त्री-अवस्था में ऐसी मुनिदशा नहीं होती। स्त्री को अधिक से अधिक पञ्चम गुणस्थान होता है और वह आर्यिका होती है परन्तु छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाली मुनिदशा का उग्र पुरुषार्थ उसको होता ही नहीं।

वास्तव में सभी परद्रव्य-प्रतिबन्ध उपयोग के उपरञ्जक होने से निरुपराग उपयोगरूप श्रामण्य के छेद के आयतन हैं; उनके अभाव से ही अछिन्न श्रामण्य होता है। इसलिए आत्मा में ही आत्मा को सदा अधिकृत करके (आत्मा के भीतर) वसते हुए अथवा गुरुरूप से गुरुओं को अधिकृत करके (गुरुओं के सहवास में) निवास करते हुए या गुरुओं से विशिष्ट - भिन्न वास में वसते हुए, सदा ही परद्रव्य-प्रतिबन्धों को निषेधता (परिहरता) हुआ, श्रामण्य में छेदविहीन होकर श्रमण प्रवर्तन करो।

देखो यह मुनिदशा! मुनिराज तो सर्वज्ञ भगवान के दीवान हैं, केवलज्ञान लेने की तैयारी में हैं। एक बार आहार-ग्रहण के पश्चात् पुनः आहार लेने की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। कैसी भी तीक्ष्ण गर्मी हो, तथापि जल-ग्रहण करने की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। अहो! मुनिराज तो अन्दर में चैतन्य के आनन्द के अनुभव में लवलीन वर्तते हैं, वहाँ तृषा कैसी ? चैतन्य से बाह्य परपदार्थ के प्रति वृत्ति जाए, वह चैतन्य को उपराग या मलिनता करनेवाली है।

मुनिराज को चैतन्य का उपयोग शोभित हो गया है। व्याख्यान करते-करते अथवा आहार करते-करते ही बीच में सातवें गुणस्थान का निर्विकल्प अनुभव हो जाता है... बारम्बार चैतन्य गोला अन्दर में भिन्न अनुभवन में आता है - ऐसी मुनिराज की क्रिया है। बाहर में यह लेना अथवा छोड़ना - यह वस्तुतः मुनिराज की क्रिया नहीं है।

वास्तव में नग्न वेष अथवा शुभराग में साधुपद नहीं है। जहाँ अन्दर में एकदम शुद्धोपयोग की जमावट हो गयी है, उसका नाम साधुपद है। जहाँ उस शुद्धोपयोग का अभाव है, वहाँ ही श्रामण्य का छेद है। शुद्धोपयोग में छेद न पड़े और चैतन्य में लीनता टिकी रहे, वहाँ

अच्छिन्न श्रामण्य है। इसलिए श्रमणों को अपने आत्मा को आत्मा में ही स्थापित करके, उसी में वसना चाहिए।

देखो, आत्मा को व्रत के राग में स्थापित करने को नहीं कहा है, क्योंकि वह भी विकार है; उपादानरूप से अन्दर शुद्धात्मा में ही वसने को कहा है और निमित्तरूप से श्रीगुरुओं को गुरुपने स्थापित करके उनके समीप ही वसना चाहिए अथवा गुरु की आज्ञा अनुसार अन्य स्थान में वसना चाहिए; अर्थात्, जिस प्रकार परद्रव्य का प्रतिबन्ध न हो और शुद्धोपयोगभाव में छेद न पड़े, उस प्रकार श्रमणों को वर्तना चाहिए। इस प्रकार श्रमणों को परद्रव्य के प्रतिबन्ध का अभाव होता है – यह बात की।

अब, श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन होने से स्वद्रव्य में ही प्रतिबन्ध (सम्बन्ध या लीनता) करने योग्य है, ऐसा उपदेश करते हैं –

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्हि दंसणमुहम्हि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥ 214 ॥

जो श्रमण, सदा ज्ञान में और दर्शनादि में प्रतिबद्ध तथा मूलगुणों में प्रयत (प्रयत्नशील) विचरण करता है, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।

मुनि तो वस्तुस्वभाव में लीन हो गये हैं; अर्थात्, स्वद्रव्य में ही प्रतिबद्ध हो गये हैं तथा मूलगुणों में प्रयत्नशील विचरते हैं, वे ही परिपूर्ण श्रामण्यवाले हैं। जहाँ स्वद्रव्य में लीनता न हो, वहाँ तो श्रामण्यपना भी नहीं होता।

एक स्वद्रव्य-प्रतिबन्ध ही, उपयोग का मार्जन (शुद्धत्व) करनेवाला होने से, मार्जित (शुद्ध) उपयोगरूप श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन है।

स्वद्रव्य में लीनतारूप एक शुद्धोपयोग ही आत्मा को शुद्धता करनेवाला है, इसके अतिरिक्त किसी निमित्त का प्रतिबन्ध अथवा शुभराग आत्मा को शुद्धता करनेवाला नहीं है। शुद्धोपयोग ही साधुपने की परिपूर्णता का स्थान है, वह एकमात्र स्वद्रव्य में लीनता ही है। अभी जिसे स्वद्रव्य का भान भी न हो, उसे मुनिदशा कैसी ? मुनिदशा का घर तो एक आत्मद्रव्य ही है। २८ मूलगुण की वृत्ति उत्पन्न हो, वह भी वास्तव में श्रामण्यदशा का घर नहीं है। स्वद्रव्य में प्रतिबद्ध हुआ शुद्धोपयोग ही श्रामण्य की परिपूर्णता है।

उसके सद्भाव से ही परिपूर्ण श्रामण्य होता है; इसलिए सदा ज्ञान में और दर्शनादिक में प्रतिबद्ध रहकर मूलगुणों में प्रयत्नशीलता से विचरना, ज्ञानदर्शनस्वभाव शुद्धात्मद्रव्य में प्रतिबद्ध - ऐसे शुद्ध अस्तित्वमात्ररूप से वर्तना, यह तात्पर्य है।

शुद्ध चैतन्यद्रव्य में वर्तने का नाम साधुपना है। शुभराग में वर्तने का नाम साधुपना नहीं है। बहुत से लोगों ने तो साधुपने का ऐसा स्वरूप सुना भी नहीं होगा। आत्मा तो ज्ञान-दर्शनस्वभावी है - ऐसे आत्मा में लीन होकर वर्तना ही मुनिपने का तात्पर्य है। पञ्च महाव्रत के विकल्प उत्पन्न हों, वह मुनिपने का तात्पर्य नहीं है। यद्यपि वे विकल्प होते हैं परन्तु तात्पर्य तो शुद्धोपयोग टिकाने का ही है। अभी ऐसा मुनिपना जाने भी नहीं और इससे विपरीत माने, उसे तो सत्यमार्ग की श्रद्धा भी नहीं है।

यह मार्ग नया नहीं है किन्तु अनादि का है। यह मार्ग तीर्थङ्करदेव अनादि से कहते आये हैं। सन्त, सेवन करते आये हैं। अभी भी महाविदेहक्षेत्र में यही मार्ग मुख्यरूप से वर्त रहा है। सीमन्धर भगवान इसी मार्ग का उपदेश दे रहे हैं और इस मार्ग के पालनहारे हजारों-लाखों सन्त मुनिवर वहाँ अभी भी मौजूद हैं।

देखो, यहाँ इस शास्त्र में मुनिदशा का चित्र दिखलाया है कि देखो ऐसी होती है मुनिदशा; अन्य प्रकार से नहीं होती। दो हजार वर्ष पूर्व श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने यह बात की है और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने एक हजार वर्ष पूर्व इसकी टीका की है और यही मार्ग अभी कहा जा रहा है। पहले ऐसी श्रद्धा करो, भले ही मुनिदशा न हो परन्तु पहले उसकी यथार्थ पहचान तो करो; इसके अतिरिक्त अन्यमार्ग से धर्म नहीं होगा।

जैनदर्शन में मुनिपना न हो तो कोई दण्ड नहीं है, क्योंकि भले ही मुनिपना न हो परन्तु श्रद्धा तो ऐसी ही रखनी चाहिए। यदि ऐसी श्रद्धा करे तो ही वह सत्यमार्ग पर है परन्तु जिसकी श्रद्धा विपरीत है, उसकी श्रद्धा में दोष आएगा।

अहो! यह मार्ग तो अनन्त सन्तों द्वारा सेवित, अनन्त सर्वज्ञ तीर्थङ्करों द्वारा कथित, गणधरों द्वारा झेला हुआ तथा इन्द्रों और चक्रवर्तियों द्वारा आदर किया हुआ मार्ग है। यह मार्ग तीन काल में फिरनेवाला नहीं है। इस मार्ग से अन्य प्रकार माननेवाले की श्रद्धा मिथ्या है। ●

(- श्री सदगुरु प्रवचनप्रसाद, 14-16 अप्रैल 1951)

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण : पाँच महाव्रत

1. अहिंसामहाव्रत

(नियमसार, गाथा 56 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं॥ 56॥

गाथार्थ : जीवों के कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि जानकर, उनके आरम्भ से निवृत्तिरूप परिणाम, वह पहला व्रत, अर्थात् अहिंसा महाव्रत है।

यह अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है।

यह अहिंसाव्रत; अर्थात्, व्यवहार अहिंसाव्रत, क्योंकि यह तो व्यवहारचारित्र का अधिकार है न! अत: कहते हैं कि यह व्यवहार अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है; अर्थात्, व्यवहार अहिंसाव्रत की बात है।

प्रश्न – क्या अहिंसाव्रत दो जाति / प्रकार का है ?

उत्तर – हाँ, अहिंसा दो प्रकार की है – (1) निश्चय अहिंसा, और (2) व्यवहार अहिंसा। निश्चय अहिंसा, वीतरागी परिणाम है और व्यवहार अहिंसा, रागरूप मन्दकषाय के परिणाम हैं। इस प्रकार वस्तुस्थिति है।

प्रश्न – व्यवहार तो दोष है, तब उनका वर्णन किसलिए किया है ?

उत्तर – दोष को भी समझना चाहिए न! दोष है, उसका अस्तित्व है – ऐसा ज्ञान तो कराना चाहिए न! इसीलिए यहाँ उसका वर्णन किया है। दोष का ज्ञान कराने के लिए यहाँ बतलाया है कि ऐसे भाव होते हैं। जहाँ स्वद्रव्य का उग्र; अर्थात्, गुणस्थान के योग्य आश्रय है, वहाँ उस भूमिका में पराश्रित / परावलम्बी कषाय की मन्दता इस जाति की होती है – ऐसा यहाँ बतलायेंगे। साथ ही यह भी कहेंगे कि ज्ञानी, व्यवहार प्रयत्न करता है क्योंकि यहाँ तो व्यवहार से बात की गयी है न!

कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थान के भेद और मार्गणास्थान के भेद पहले ही (42 वीं गाथा की टीका में ही) प्रतिपादित किये गये हैं; यहाँ पुनरुक्तिदोष के भय से प्रतिपादित नहीं किये हैं। वहाँ कहे हुए उनके भेदों को जानकर, उनकी रक्षारूप परिणति ही अहिंसा है।

कुलभेद; अर्थात्, जीव की उत्पत्ति के (जीव के उत्पन्न होने योग्य) शरीरों के भेद; अर्थात्, योनि में उत्पन्न होनेवाले जीवों के शरीरों की विविधता को कुलभेद कहते हैं। वे सब मिलाकर एक सौ साढ़े सत्तानवें लाख करोड़ है।

जो उत्पत्तिस्थान हैं, उन्हें योनिस्थान कहते हैं। वे सब मिलाकर चौरासी लाख हैं। जीवस्थान के चौदह भेद हैं तथा मार्गणास्थान के भी चौदह भेद हैं। इन कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थान तथा मार्गणास्थान का वर्णन पूर्व में 42 वीं गाथा में आ गया है; इसलिए यहाँ उनकी पुनरावृत्ति करने का कोई कारण नहीं है। इन भेदों को जानकर... देखो, यही गाथा में भी कहा है कि **जाणिऊण-ज्ञात्वा;** अर्थात्, जीव के कुलभेद कैसे हैं ? जीव की उत्पत्ति कहाँ-कहाँ होती है ? जीव के भेद कितने हैं और मार्गणा के भेद कितने हैं ? – इन्हें जानना, ऐसा कहते हैं।

प्रश्न – यह जानना तो अप्रयोजनभूत है ?

उत्तर – परन्तु ऐसा जानने का व्यवहार है या नहीं ? और वह एक न्याय से प्रयोजनभूत भी है। अहिंसा; अर्थात्, राग की मन्दता के परिणामों के लिये उन जीवस्थानादिवाले जीवों को जानना प्रयोजनभूत है। किस-किस प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं ? (कुलभेद)। कहाँ-कहाँ जीव उत्पन्न होते हैं ? (योनिभेद)। किस-किस प्रकार की जीव की जाति है और मार्गणा की जाति में कहाँ-कहाँ जीव है ? – यह जानना प्रयोजनभूत है।

प्रश्न – यह तो बहुत विकल्प हुए ?

उत्तर – तो भी वे होते हैं न! ऐसा जानने का व्यवहार है या नहीं ? है; इसलिए ये भेद जानने के लिए प्रयोजनभूत है; अर्थात्, इन्हें जानना तो चाहिए कि ऐसे भेद हैं, बस इतना! क्योंकि इन्हें जाने बिना जीवों की हिंसा का त्याग किस प्रकार करेगा ? जीवों के स्थान कहाँ –कहाँ हैं – इसके ज्ञान के बिना जीवहिंसा के परिणाम का त्याग किस प्रकार करेगा ? और व्रत की बात कहकर, किसी को एकदम मोक्ष नहीं हो जाता – यह कहना है। आशय यह है कि मुनिराज, अन्दर / आत्मा में स्थिर हैं तो भी अभी उनको परावलम्बी रागभाव रहता है – यह कहना है।

अहा! जो सर्वथा वीतरागी हो गये हैं, उनकी यहाँ बात नहीं है परन्तु जिन्हें स्वरूप का उग्र अवलम्बन है, प्रचुर स्वसंवेदन है, उनकी भूमिका में हिंसा के त्यागरूप अहिंसा के ऐसे परिणाम होते हैं – यह कहना है। वे, कहाँ–कहाँ जीव हैं, उन्हें जानकर, उनकी हिंसा के पाप–परिणाम का त्याग करते हैं और उन्हें अहिंसाव्रत होता है।

प्रश्न – यह अहिंसाव्रत तो मुनि के लिये है न ?

उत्तर – हाँ, यहाँ तो मुनि की बात है परन्तु दूसरों को भी तो यह जानना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को भी मुनि होने के पूर्व मुनिपना कैसा है, चारित्र कैसा है – क्या यह नहीं जानना चाहिए ? चारित्र कैसा होता है, चारित्र में व्रत कैसे होते हैं, व्रत में भी अहिंसा के परिणाम कैसे होते है और कैसी हिंसा का त्याग होता है ? – इसका ज्ञान समकिती को भी होता है। उसे चारित्र नहीं है तो क्या चारित्र का ज्ञान भी नहीं होता है ? ज्ञानी को केवलज्ञान नहीं है तो क्या केवलज्ञान का ज्ञान भी नहीं है; इसी प्रकार उसे अहिंसाव्रत नहीं है तो क्या अहिंसाव्रत का ज्ञान भी नहीं है ? यह तो योगसार में भी आता है कि छह द्रव्यों को प्रयत्न से जानना चाहिए। यही बात यहाँ भी है। वहाँ जो प्रयत्न की बात की है, वही बात यहाँ भी की है। अहा! यह तो सब एक ही लाईन है; अर्थात्, समस्त सन्तों की एक ही बात है।

यहाँ कहा है कि **उनके भेदों को जानकर...** यह जानना, चौथे गुणस्थान में भी होता है और छठवें गुणस्थान में भी होता है। तथा देखो! **उनकी रक्षारूप परिणति...** – ऐसा कहा है, वह भी व्यवहार कथन है। उनकी रक्षारूप परिणति का यह अर्थ नहीं है कि उन दूसरे जीवों

को बचा सकते हैं। वस्तुतः यह तो व्यवहार की भाषा है। अन्य को न मारनेरूप परिणति/रक्षा का अर्थ यह है कि हिंसा के परिणामों का त्याग, और यही अहिंसा है। यह अहिंसाव्रतपरिणति, शुभपरिणाम है; अर्थात्, अभी इतना विभावभावरूप मन्दराग होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि समिति में रक्षा करना कहा गया है, उसका अर्थ यह है कि अन्य जीवों को दुःख न हों – ऐसे प्रयत्न परिणाम है और उन्हें ही 'रक्षा की' – ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः तो अन्दर में अपने परिणाम का ही हिंसा के परिणाम से बचाव है; पर की रक्षा का कथन तो व्यवहार है।

उनका मरण हो या न हो, प्रयत्नरूप परिणाम बिना सावद्यपरिहार / दोष का त्याग नहीं होता।

यहाँ प्रयत्न; अर्थात्, व्यवहारप्रयत्न की बात है। अन्य जीव मरें या न मरें, उसके साथ हिंसा अथवा अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि अन्य जीवों का मरण अथवा जीवन तो परद्रव्य की स्वतन्त्र पर्याय है, तथापि व्यवहारप्रयत्नरूप परिणाम के बिना, हिंसा के दोष का त्याग नहीं होता। देखो, हिंसा के परिणाम का त्याग, प्रयत्नरूप परिणाम के बिना नहीं होता – ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अशुभभाव से / सावद्य से बचने के लिए शुभभावरूप प्रयत्न होता है। इसका स्पष्टीकरण फुटनोट में किया है कि –

मुनि को (मुनित्वोचित) शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो (हठरहित) देहचेष्टादिक –सम्बन्धी शुभोपयोग, वह व्यवहारप्रयत्न है। [शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहारप्रयत्न भी नहीं कहलाता।]

मुनित्वोचित = मुनित्व + उचित, अर्थात् मुनिपने के योग्य; मुनि जो कि छठवें गुणस्थान में हैं, उनके योग्य। जिन्हें उग्ररूप से अन्तर्मुख परिणाम प्रगट हुए हैं – ऐसे मुनि को तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक शुद्ध अवस्था प्रगट हुई है और वही मुनिपने के योग्य शुद्धपरिणति है। (मुनित्वोचित शुद्धपरिणति; अर्थात्, मुनिपने के योग्य तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक होनेवाली शुद्ध अवस्था।) मुनिराज को त्रिकाली ज्ञायकभाव का उग्ररूप से अवलम्बन करके जो शुद्धपरिणति; अर्थात्, वीतराग अवस्था प्रगट हुई है, वह चारित्र है, अर्थात् मुनि के योग्य शुद्धपरिणति है और उसके साथ देखकर चलना इत्यादि सम्बन्धी अन्दर

में जो हठरहित शुभोपयोग है, वह व्यवहारप्रयत्न है; जबकि निजस्वरूप में स्थिर होना, निश्चयप्रयत्न है। लो, इसमें तो प्रत्येक पर्याय की सम्भाल ली है। कहो, ऐसी बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कहाँ हो सकती है?

प्रश्न – पर्याय का क्या काम है?

उत्तर – क्या पर्याय वस्तु नहीं है? पर्याय की अस्ति है या नहीं? भले ही शुभपरिणाम, वैभाविक / विकारीपर्याय है, तथापि उसकी अस्ति है या नहीं? इसलिए उसे भी जानना चाहिए।

यहाँ कहते हैं कि कुलभेद, योनिभेद; अर्थात्, जीव की उत्पत्ति स्थानों के भेद, जीवस्थानों के भेद और मार्गणास्थानों के भेद को जानकर, सावद्य के परिणामों को व्यवहारप्रयत्न से त्याग करने को अहिंसाव्रत कहते हैं। भाई! ऐसी बात है। अहो! शुभोपयोग, व्यवहारप्रयत्न है और अन्दर में शुद्धोपयोग; अर्थात्, स्वाश्रय से उत्पन्न हुई शुद्धपरिणति, वह निश्चयप्रयत्न है।

प्रश्न – क्या, दोनों प्रयत्न एक साथ होते हैं?

उत्तर – हाँ, दोनों प्रयत्न एक साथ होते हैं, तथापि राग की रचना करना, वह नपुंसक वीर्य है और स्वरूप की रचना करना, वह सच्चा वीर्य है। देखो, यहाँ व्यवहारप्रयत्न शब्द आया है, उससे यह इतनी बात चलती है।

अहा! जो शुद्धपरिणति की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं और उस स्वरूप रचना करनेवाले वीर्य को निश्चयप्रयत्न कहते हैं, जबकि शुभभाव को व्यवहारप्रयत्न कहते हैं परन्तु वह व्यवहारप्रयत्न, अर्थात् नपुंसकता, तथापि अस्तिरूप से (होनेरूप से) वर्णन करते हुए मुनि को व्यवहारप्रयत्न होता है – ऐसा यहाँ कहना है। वस्तुतः तो अपने अस्तित्व का जो वास्तविक वीर्य है, वह तो शुद्धपरिणति की ही रचना करता है और उसे ही वीर्य कहते हैं।

आत्मा में एक वीर्य नामक गुण है, उसका धारक द्रव्य (आत्मद्रव्य) है; जहाँ उस अनन्त गुणों के एकरूप द्रव्य का आश्रय लिया, वहाँ वीर्यगुण, अनन्त गुणों की शुद्धपरिणति की रचना करता है और उसे ही सच्चा वीर्य व सच्चा-निश्चयप्रयत्न कहा जाता है। इस प्रयत्न के साथ सावद्ययोग के परिणाम के त्यागरूप व्यवहारप्रयत्न होता है, तथापि वह व्यवहारप्रयत्न वीर्यगुण का सम्यक्; अर्थात्, वास्तविक कार्य नहीं है क्योंकि गुण का कार्य तो निर्मलरूप ही

आता है, जबकि यह व्यवहारप्रयत्न तो शुद्ध सम्यक्परिणतिवाली भूमिका में मात्र शुभरागरूप होता है। कहो, ऐसी बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त और वस्तुस्थिति को बतलानेवाले सन्तों के सिवाय कहाँ है ? कहीं नहीं है। यहाँ तो पर्याय-पर्याय की सम्भाल ली है।

यहाँ कहते हैं कि जहाँ शुद्धपरिणति न हो; अर्थात्, जहाँ स्वरूप का आश्रय ही नहीं है, जहाँ पूर्णानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा का पर्याय में स्वीकार ही नहीं है, जहाँ आनन्दादि अनन्त-अनन्त गुणस्वभावमय पूर्णस्वरूप का 'वह इतना महातत्त्व है' - ऐसा पर्याय में स्वीकार ही नहीं है और जहाँ स्वद्रव्य की प्रतीति और उसका ज्ञान नहीं है, वहाँ शुभोपयोग, हठसहित होता है; अर्थात्, वहाँ अहिंसा के परिणामरूप शुभोपयोग हठसहित होता है और उसे तो व्यवहारप्रयत्न भी नहीं कहा जाता, क्योंकि व्यवहारप्रयत्न तो वहीं होता है, जहाँ पूर्ण शुद्धस्वरूप का स्वीकार होकर परिणति शुद्ध हुई है।

भाई! शुद्धपरिणति में पूर्णस्वभाव का स्वीकार होता है; अर्थात्, शुद्धपरिणति में स्वीकार होता है कि यह स्वभाव पूर्ण है और इससे वह शुद्ध होता है। इस परिणतिरहित जो अकेला शुभपरिणाम है, उसे तो यहाँ व्यवहारप्रयत्न भी नहीं कहते। जिसे स्वभाव के आश्रय से निश्चयप्रयत्न है, जिसे त्रिकाली आत्मा की स्वीकृति की प्रसिद्धि पर्याय में प्रगट हुई है, उसे व्यवहारप्रयत्न होता है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

जिसकी पर्याय में पूर्ण स्वरूप प्रसिद्ध हुआ है, उस जीव की उस पर्याय को निश्चयप्रयत्न कहते हैं और वैसे जीव को होनेवाले शुभराग को व्यवहारप्रयत्न कहते हैं - यह वस्तु की स्थिति है। इसमें कुछ भी कम-ज्यादा करने जाएगा तो वस्तुस्थिति नहीं रहेगी - ऐसा मार्ग है।

अहा! एक ओर तो ज्ञानी को कर्तृत्वबुद्धि छूट गयी है, तथापि शुभपरिणाम का परिणमनरूप कर्तृत्व है। क्या कहा यह ? कि प्रवचनसार में 47 नयों में एक कर्तृत्वनय आता है। ज्ञानी को, शुभराग करने योग्य है - ऐसी कर्तृत्वबुद्धि तो छूट गयी है और इसलिए उसे शुद्धपरिणति हुई है परन्तु अभी परिणति एकदम शुद्ध नहीं हुई है; इसलिए शुभपरिणति होती है - इस कारण 'परिणमता है, वह कर्ता' - इस अपेक्षा से, शुभपरिणतिरूप परिणमनेरूप कर्तापना ज्ञानी को होता है तथा वह कर्तापना ज्ञानी को ज्ञान में जाननेयोग्य भी है। देखो, शुभपरिणाम करनेयोग्य नहीं है - ऐसा मानने पर भी ज्ञानी को शुभपरिणति होती है और उसे

यहाँ व्यवहारप्रयत्न कहा गया है। भाई! यह तो सम्यग्ज्ञान का धर्मकाँटा है कि जिसमें कुछ भी फेरफार; अर्थात्, कम-अधिक अथवा विपरीत नहीं चलता – ऐसी अद्भुत बात है।

यहाँ कहते हैं कि अन्य का मरण हो अथवा न हो, उसके साथ व्यवहारप्रयत्न का सम्बन्ध नहीं है तथा उस प्रयत्नरूप परिणाम के बिना दोष का त्याग नहीं होता; इसलिए व्यवहारप्रयत्न का ज्ञान करना चाहिए। इसीलिए तो छहढाला में कहा है कि **'बिन जानें तें दोष-गुणन को, कैसे तजिये-गहिये'** (छहढाला, 3/11) अर्थात्, बिना जानें, दोषों को कैसे त्यागा जा सकता है और गुणों को कैसे ग्रहण किया जा सकता है ? इस प्रकार ज्ञानी को दोष जानना होता है, तथापि 'समयसार' में तो कहते हैं कि ज्ञानी, मुख्यरूप से शुद्धात्मा को जानता है और शुद्धरूप परिणमित होता है। **शुद्धं तु वियाणंतो शुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो;** अर्थात्, शुद्धात्मा को जानता-अनुभव करता हुआ जीव, शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है और **जाणंतो दु असुध्धं;** अर्थात्, शुद्धस्वरूप को छोड़कर जो अकेली अशुद्धता को जानता है, उसे **अशुद्धमेवप्पयं लहइ;** अर्थात्, अशुद्धता ही प्राप्त होती है। 'व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है' – ऐसा समयसार की 12 वीं गाथा में कहा है, उसका अर्थ यह है कि शुद्धस्वभाव को जानते हुए व्यवहार जाना जाता है – ऐसा व्यवहार होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है कि निश्चयसहित शुभराग हो तो उसे व्यवहार कहते हैं और कदाचित् निश्चय न हो तो भी वह जीव, निश्चय प्राप्त करेगा – इस अपेक्षा से उसके शुभराग को व्यवहार कहा जाता है। जो जीव, निश्चय प्राप्त करनेवाला है, उसके शुभोपयोग को परम्परा से, वर्तमान में व्यवहाराभास होने पर भी, व्यवहार कहा जाता है। भाई! मोक्षमार्गप्रकाशक में तो एक-एक बात को छानकर बहुत स्पष्ट किया है, एकदम स्पष्ट बात की है परन्तु जिसे सम्यक् प्रकार से जानना हो, उसके लिए यह बात है; जिसे हठ करके अपना असत्य रखना हो अथवा स्वयं ने जो विपरीत मान रखा है, उसका कुछ तो रखो – ऐसी हठ जिसे करनी हो, उस जीव के लिए यह बात नहीं है। भाई! शास्त्र में जो कहा है, उसे माननेवाला जीव ही आत्मा में रहेगा।

अहा! जिस पर्याय में पूर्णस्वरूप आत्मा का स्वीकार हुआ है, वह पर्याय कितनी महान है! अनादि से निमित्त, राग और पर्याय को मानते हुए 'भगवान आत्मा नहीं है' – ऐसा माना

था। अस्तिरूप से / सत्तारूप से / होनेरूप से आत्मा होने पर भी उसे नास्तिरूप माना था, परन्तु अब उसने पूर्ण परमेश्वर का स्वीकार किया तो वह शुद्धपर्याय कितनी महान! निमित्त, राग और एक समय की पर्यायरूप अंश के अस्तित्व का अभिप्राय छोड़कर, जिसने अभिप्राय में पूर्ण स्वभाववान भगवान आत्मा लिया / स्वीकार किया, वह शुद्धपर्याय कितनी महान! ऐसी शुद्धपर्याय की भूमिका में वर्तनेवाला शुद्धतारूप प्रयत्न, वह निश्चयप्रयत्न है और उस समय सावद्ययोग के परिणाम के त्याग के लिए वर्तनेवाला शुभोपयोग, वह शुभप्रयत्न / व्यवहारप्रयत्न है।

प्रश्न – दोनों प्रयत्न एक साथ वर्तते होंगे ?

उत्तर – हाँ, एक साथ वर्तते हैं; यही बात तो यहाँ चल रही है। जहाँ अकेला शुभभाव है, वहाँ निश्चयप्रयत्न नहीं होने से, व्यवहारप्रयत्न भी नहीं है और जहाँ पूर्ण शुद्धता हो गयी है, वहाँ भी व्यवहार नहीं है। जबकि यहाँ तो जो साधकरूप से अन्तरस्वरूप को साधता है, ऐसे जीव को अभी पूर्ण साध्यदशा नहीं हुई है; इसलिए बाधकपना भी होता है – ऐसा कहते हैं। इसका कारण यह है कि यदि उसे बाधकपना हो ही नहीं तो पूर्ण हुआ कहलाए। अहा! भाई! यह तो निरन्तर स्वाध्याय करने का काल है।

अहा! स्वयं पूर्ण परमात्मस्वरूप है, उसका स्वीकार करने से जो परिणति प्रगट हुई, उसे निश्चयप्रयत्न कहते हैं और यह निश्चयप्रयत्न भी, पूर्ण प्रयत्न / वीर्यस्वरूप भगवान आत्मा की अपेक्षा तो अनन्तवें भाग कहा है। सम्पूर्ण वस्तु / आत्मा प्रयत्नस्वरूप ही है और उसमें से प्रगट होनेवाली निश्चयपरिणति है, वह तो अनन्तवें भाग का प्रयत्न है, जिसे कि शुद्धप्रयत्न / निश्चयप्रयत्न कहा जाता है।

दूसरे प्रकार से कहें तो त्रिकाली आत्मा तो प्रयत्नस्वरूप ही है, उसे जिस प्रयत्न ने स्वीकार किया, उस प्रयत्न को शुद्धप्रयत्न कहते हैं और उसके साथ होनेवाले सावद्ययोग के परिणाम के त्यागरूप परिणामों को शुभप्रयत्न कहते हैं।

देखो, एक पर्याय के दो भाग हैं – (1) शुद्धपरिणतिरूप भाग, (2) शुभपरिणतिरूप भाग। चारित्रगुण की एक समय की पर्याय में शुद्धस्वभाव के आश्रय से जितनी परिणति है,

वह शुद्धपरिणति है और उस चारित्रपर्याय का जो अंश / भाग, शुभरागरूप परिणमित होता है, वह शुभपरिणति है। इस प्रकार चारित्रगुण की एक समय की पर्याय के कालभेद अपेक्षा दो भाग नहीं हैं, अपितु भावभेद से दो भाग हैं। कालभेद कहने से तो पहले शुद्धप्रयत्न / शुद्धपरिणति हो और बाद में शुभप्रयत्न / शुभपरिणति हो - ऐसा नहीं है; अपितु शुद्धप्रयत्न के / शुद्धपरिणति के काल में ही उस पर्याय का एक अंश / भाग, पूर्ण वीतरागपरिणति नहीं होने से सावद्य से बचनेरूप होता है, जो कि शुभप्रयत्न है - ऐसा ही सहजस्वभाव है। देखो न! ऐसी बात सर्वज्ञ के अलावा अन्य कहाँ हो सकती है?

देखो, भाषा ऐसी ली है कि 'प्रयत्नपरायण को'; अर्थात्, व्यवहारप्रयत्नपरायण को अहिंसाव्रत होता है क्योंकि राग की मन्दतारूप प्रयत्न के बिना तीव्रराग का / सावद्य का त्याग नहीं होता है। इसी कारण जिसे हिंसा के परिणाम के त्यागरूप प्रयत्न वर्तता है, उस प्रयत्नपरायण को अहिंसाव्रत होता है - ऐसा यहाँ कहते हैं। लो, यह व्यवहार अहिंसाव्रत की बात की और फिर भी उसमें कितनी बात कर दी है।

अहा! जैसे, एक के बिना बिन्दु की क्या गिनती है? कुछ भी नहीं है; वर के बिना बारात की क्या कीमत है? कुछ भी नहीं और वर के बिना बारात किसकी? किसी की नहीं, क्योंकि वर होने पर ही बारात कहलाती है, वरना तो वह मनुष्यों का झुण्ड कहलाता है। इसी प्रकार पूर्ण स्वरूप के आश्रय से पूर्णता का स्वीकार होने पर भगवान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान की जो परिणति / दशा प्रगट हुई, उसके साथ स्वरूप की रमणता भी है और वैसी दशावन्त को, उसी काल में, उसी भूमिका के साथ हिंसा के परिणाम के अभावरूप प्रयत्न परिणाम होते हैं, उन्हें अहिंसाव्रत कहा जाता है। अरे! किन्तु अज्ञानी को तो व्रत क्या है? परिणाम क्या है? द्रव्य क्या है और गुण क्या है? इत्यादि का कुछ भी भान नहीं होता और 'हम व्रतधारी हैं' - ऐसा वह मानता है।

श्रीमद् में भी आता है न -

लहा स्वरूप न वृत्ति का, ग्रहा व्रत अभिमान।
ग्रहे नहीं परमार्थ को, लेने लौकिक मान॥

(आत्मसिद्धि, काव्य 28)

प्रश्न – व्यवहार, साधन और निश्चय, साध्य – क्या ऐसा शास्त्र में नहीं आता?

उत्तर – यह तो व्यवहार से 'व्यवहारसाधन की अस्ति है' – ऐसा बताया है। वस्तुत: तो साध्य, अर्थात् निश्चय प्रगट होता है, वह तो व्यवहारसाधन की अपेक्षा रखे बिना अपने आत्मद्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है।

प्रश्न – फिर भी पञ्चास्तिकाय में तो कहा है न कि व्यवहार, साधन और निश्चय, साध्य है। क्या वहाँ भेद / भिन्न साधन-साध्य नहीं कहा है?

उत्तर – सब कहा है, सुन तो! यह अहिंसाव्रत के परिणाम, साधन हैं और निश्चय, उसका साध्य है – ऐसा जो भिन्न साधन-साध्य कहा है, वह तो व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए कहा है। निश्चयपरिणतिरूप साधकपने में ऐसा व्यवहार का परिणाम होता है – ऐसा उसका ज्ञान कराया है। शुद्धपरिणतिरूप निश्चयसाधन है, उसका आरोप करके शुभपरिणति को व्यवहारसाधन कहा है; वस्तुत: तो वह साधन नहीं है। निश्चयसाधन और व्यवहारसाधन – ऐसा शास्त्र में कहा है परन्तु दो प्रकार का साधन है ही नहीं; हाँ, साधन का कथन दो प्रकार से है। साधन तो एक निश्चय ही है और वही यथार्थ साधन है, जबकि दूसरा व्यवहारसाधन, साधन नहीं है, तथापि जो साधन नहीं है, उसे व्यवहारनय साधनरूप से निरूपण करता है क्योंकि साधक की भूमिका में वैसा शुभभाव होता है – ऐसा बतलाने के लिए व्यवहार को भी आरोप से / उपचार से साधनरूप से कहा जाता है।

यहाँ कहा है कि हिंसा के परिणाम के त्यागरूप प्रयत्न में परायण को अहिंसाव्रत होता है।

प्रश्न – मुनिराज, निश्चय में प्रयत्नपरायण तो है ही, परन्तु उन्हें व्यवहारप्रयत्नपरायण भी क्यों कहा?

उत्तर – मुनि, हिंसा के परिणाम के अभाव करनेरूप प्रयत्न में परायण हैं; इसलिए वे व्यवहारप्रयत्नपरायण / व्यवहारप्रयत्न में तत्पर हैं – ऐसा कहा है। इस प्रकार उन्हें हिंसा के परिणाम को छोड़नेरूप / अभाव करनेरूप व्यवहारप्रयत्नपरायण कहा जाता है।

इस प्रकार यह व्यवहार अहिंसाव्रत की व्याख्या हुई।●

(– प्रवचन रत्न चिन्तामणि, हिन्दी, भाग-3, पृष्ठ 3-12)

2. सत्यमहाव्रत

(नियमसार, गाथा 57 एवं कलश 77 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया बिदियवदं होइ तस्सेव॥ 57॥

गाथार्थ : राग से, द्वेष से अथवा मोह से होनेवाले मृषाभाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है, उसी को सदा दूसरा व्रत, अर्थात् सत्यमहाव्रत है।

अब, सत्यव्रत की गाथा है।

यह, सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है।

यहाँ (ऐसा कहा है कि) सत्य का प्रतिपक्ष; अर्थात्, सत्य से विरुद्ध परिणाम, वह मृषापरिणाम है; वे (असत्य बोलने के परिणाम) राग से, द्वेष से अथवा मोह से होते हैं। जो साधु-आसन्नभव्य जीव, उन परिणामों का परित्याग करता है; अर्थात्, समस्त प्रकार से छोड़ता है, उसे दूसरा व्रत होता है।

यहाँ असत्यभाषा बोलने की बात नहीं है परन्तु असत्य बोलने के परिणाम की बात है। वे असत्य बोलने के परिणाम या तो राग से या द्वेष से या मिथ्याभ्रम से-मोह से होते हैं। जिसका मोक्ष निकट है / जिसे पूर्ण पर्यायरूप मोक्ष का परिणमन निकट है - ऐसा आसन्न भव्य जीव, झूठ बोलने के परिणाम को छोड़ता है। देखो; वह जीव, भव्य तो है, तदुपरान्त आसन्न भव्य है - ऐसा कहते हैं। भव्य जीव, मोक्ष प्राप्त करनेयोग्य तो है परन्तु वह तो पुरुषार्थ करेगा, तब मोक्ष

प्राप्त करेगा। जबकि यह (सत्यव्रतवाला) जीव तो आसन्न भव्य है; मोक्ष प्राप्त करने की तैयारीवाला है, मोक्ष के अत्यन्त निकट है – ऐसा कहते हैं। देखो, यह भगवान सर्वज्ञ द्वारा कथित सत्यव्रत का स्वरूप!

अहा! कहते हैं कि राग-द्वेष और मोह से होनेवाले (असत्य बोलने के) अशुभपरिणामों को, जिसका मोक्ष; अर्थात्, सिद्धपद अब निकट है – ऐसा आसन्न भव्य जीव, अपने में वीतराग परिणामरूप वर्तता हुआ छोड़ता है। तात्पर्य यह है कि उसे ऐसा सत्य बोलने का विकल्प होता है।

दूसरे प्रकार से कहें तो उसे मृषाभाषा बोलने के परिणाम को छोड़नेरूप परिणाम होते हैं और उन्हें व्यवहारसत्यव्रत कहा जाता है। उसे यह दूसरा सत्यव्रत होता है।

जिसे अन्दर में पूर्ण वीतरागस्वभाव का साक्षात्कार हुआ है, जिसके परिणाम में पूर्ण जिनस्वभाव का साक्षात्कार हुआ है, जिसे परम सत्यस्वरूप त्रिकाली आत्मा का परिणाम में साक्षात्कार हुआ है, उसके वे परिणाम, वीतरागीपरिणाम हैं और वह निश्चयधर्म है। उस चारित्र की भूमिका में राग-द्वेष और मोह से होनेवाले झूठ बोलने के परिणामों का त्याग होता है; अर्थात्, सत्य बोलने का शुभविकल्प होता है और उस शुभविकल्प को व्यवहारसत्यव्रत कहा जाता है।

जो पुरुष अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है, वह स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एक स्वामी होता है; अर्थात्, वह परलोक में अनन्यरूप से देवाङ्गनाओं के बहुत से भोग प्राप्त करता है।

जो पुरुष अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है; अर्थात्, जिसे सत्य बोलने का भाव है, वह स्वर्ग की स्त्रियों के पुण्यकल / अनेक भोगों का एक भागी होता है। देखो, यह कहकर स्पष्ट किया है कि सत्यव्रत का जो शुभभाव है, वह तो संयोग देनेवाला है। वह शुभभाव है न! इसलिए उसके फलरूप में तो देवाङ्गनाओं इत्यादि का संयोग प्राप्त हो – ऐसा वह भाव है। देखो, यहाँ स्पष्ट किया है कि व्रत, शुभभाव है और उस शुभभाव से शुद्धता हो – ऐसा नहीं है।

प्रश्न – 'शुभभाव से शुद्धता होती है' – ऐसा बाद में तो कहेंगे ?

उत्तर – यह बात तो 'परम्परा से' कहेंगे, क्योंकि व्यवहार में परम्परा से कहने की रीत है न!

यहाँ कहते हैं कि जो अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है; अर्थात्, जैसा सत्स्वरूप है, वैसा कहता है, वह स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एक भागी होती है। देखो, यहाँ '**स्वर्गस्त्रीणा**' – ऐसा कहा है परन्तु वह सत्यव्रतवाला स्वर्ग में से मनुष्यपने में आयेगा – ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि वह यहाँ से / मनुष्यपने में से स्वर्ग में जाता है न! इसलिए स्वर्ग की स्त्रियों की बात की है। तात्पर्य यह है कि उसे स्वर्ग का संयोग प्राप्त होगा और वह इन्द्राणी के भोगों में; अर्थात्, कषाय के अङ्गारों से जलेगा – ऐसा कहते हैं।

सत्यव्रतवाला शुभभाव के फलरूप में इन्द्राणी / देवियों के भोगों को प्राप्त करेगा; अर्थात्, उस ओर का अशुभराग होगा और वह तो कषायभाव है। (इसलिए कषायरूपी अङ्गारों से जलेगा।) समयसार की 74 वीं गाथा में आया है कि आस्रव दुःखरूप हैं तथा दुःखफलरूप हैं। आस्रव का फल दुःख है, जो आस्रवपरिणाम हैं, उनसे पुद्गलकर्म बँधता है, उस पुद्गलकर्म से संयोग प्राप्त होते हैं और उन पर लक्ष्य जाने से राग उत्पन्न होता है; इसलिए आस्रवरूप हैं। यद्यपि वहाँ तो शुभभाव से देवाङ्गनाओं के भोगों की प्राप्ति होना कही है क्योंकि (टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव) स्वयं मुनि हैं, इसलिए स्वर्ग में ही जाएँगे। यहाँ कहा है कि सत्य बोलने के शुभभाव से पुण्य बँधता है; इसलिए अनुकूल संयोग देनेवाला – ऐसा जो पुण्यबन्ध है, उसका वह निमित्त है और उस शुभभाव का फल दुःख है।

प्रश्न – इस श्लोक में तो सत्य की (शुभराग की) महिमा की है कि इससे बढ़कर दूसरा कौन है ?

उत्तर – यह तो अन्य व्रत की अपेक्षा से सत्य से बढ़कर दूसरा कौन है – ऐसा कहा है। इन्दौर के काँच मन्दिर में लिखा है कि –

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।
कागवीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

अरे! मनुष्य की विष्ठा तो अभी खाद में भी काम आती है और सूअर भी खाता है; जबकि कौए की विष्ठा तो खाद में भी काम नहीं आती। अतः धर्मी जीव, प्राप्त होनेवाले संयोगों को 'कागवीट सम' मानते हैं; अर्थात्, मानो कौए की विष्ठा प्राप्त हुई हो – ऐसा मानते हैं।

देखो, यहाँ व्रत के फल में स्वर्ग की स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं – ऐसा कहते हैं, तो भी ज्ञानी उन्हें ऐसा मानता है कि मानों कौए की विष्ठा प्राप्त हुई है। मेरा आनन्द तो मेरे ही पास है और जिसकी तरफ जाने से, वह आनन्द दूर हो, वह दुःख है – ऐसा ज्ञानी मानते हैं।

अहा! यहाँ तो शुभभाव का फल बताना है; इसलिए यह कहा है कि शुभभाववाला स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एक भागी होता है; वरना वस्तुतः तो शुभराग दुःखरूप ही है। शुभभाव, वर्तमान में दुःखरूप है और भविष्य में भी उसका फल दुःख है क्योंकि वह संयोग देता है। शुभभाव, कैसा भी संयोग दे, परन्तु देता तो संयोग ही है। यद्यपि यहाँ स्त्री का संयोग कहा है परन्तु वीतराग की वाणी आदि का संयोग दे तो भी वह दुःखरूप है। क्यों? क्योंकि उस संयोग पर लक्ष्य जाएगा तो राग ही होगा। अरे! शुभराग हो तो भी वह दुःख है – ऐसी वीतराग–वाणी है।

अहा! इस शुभभाव के फल में दुःख है। इससे वर्तमान में भी दुःख है और बाद में भी दुःख है परन्तु यहाँ तो शुभभाव का फल संयोग प्राप्त होना है, मात्र इतना बताना है; इसलिए इस अपेक्षा से बात की है, वरना शुभभाव से देवाङ्गनाओं का संयोग प्राप्त होगा, उस पर लक्ष्य जाएगा तो अशुभराग होगा, जो कि दुःख है। अरे! शुभभाव के फल में पुण्योदयरूप से भगवान की वाणी प्राप्त हो, समवसरण प्राप्त हो और वहाँ भगवान का सुयोग प्राप्त हो – यह बात लो तो भी उस पर लक्ष्य जाएगा तो शुभराग होगा और वह शुभराग, दुःख है। अतः सत्य ही कहा है कि शुभराग दुःखरूप है और दुःखफल है। अरे! ऐसा वीतरागभाव सुनने को मिले और फिर उसकी रुचि हो – यह अलौकिक बात है। बापू! यह कोई कोरी बात अथवा वार्ता नहीं है।

...... और लोक में सर्वदा सर्व पुरुषों का पूज्य बनता है।

सर्वदा, अर्थात् सभी काल में और सर्व, अर्थात् समस्त; इस लोक में भी सभी धर्मात्मा ज्ञानी पुरुष उसका आदर करते हैं, उसे बहुमान देते हैं, अर्थात् वह सत्पुरुषों का पूज्य बनता है।

वास्तव में क्या सत्य से अन्य कोई (बढ़कर) व्रत है ?

यहाँ वीतरागभाव की बात नहीं है कि सत्य उससे बढ़कर है किन्तु अन्य व्यवहारव्रतों की अपेक्षा बात है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य इत्यादि व्रतों में सत्यव्रत से बढ़कर दूसरा क्या है ? आगे 78 वें कलश में आयेगा कि 'व्रत क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है' परन्तु ऐसे कथन तो व्यवहार से ही आते हैं न! ऐसी बात आने पर अज्ञानी कहता है कि अहो.... ! इस प्रकार उसे हर्ष हो जाता है।

यहाँ कहते हैं कि जहाँ वीतरागपरिणाम वर्तते हों, शुद्धपरिणति वर्तती हो, उस भूमिका में होनेवाले व्रत के परिणामों को व्यवहारव्रत कहा जाता है परन्तु जहाँ द्रव्यस्वभाव का भान और वीतरागी निर्मलपरिणति ही नहीं है, वहाँ तो शुभराग को व्यवहार भी नहीं कहा जाता, क्योंकि शुभराग को / व्यवहार को जाननेवाला जागृत नहीं है तो शुभराग को व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ? 'मैं शुद्ध हूँ और यह राग भिन्न है' – ऐसी भिन्नता को जाननेवाला जागृत नहीं हुआ; अर्थात्, राग से भिन्न रही हुई आत्मवस्तु को जाननेवाला, जो राग से भिन्न पड़ा हुआ भाव है, वह जहाँ जागृत (प्रगट) न हुआ हो, वहाँ व्यवहार कहना कैसे ? परन्तु यहाँ तो जागृत हुए की बात है।

जिसकी दृष्टि और ज्ञानपर्याय ने पूर्णानन्द पूर्णस्वरूप प्रभु चैतन्य भगवान आत्मा को कब्जे में कर लिया है, उसे; अर्थात्, जहाँ निर्दोष वीतरागपर्याय वर्तती है – ऐसी भूमिका में होनेवाले व्रत के भाव को व्यवहारव्रत कहा जाता है। इसलिए यह अकेले व्रत की / शुभराग की बात नहीं है। अहा! ऐसा सूक्ष्म है। ● *(– प्रवचन रत्न चिन्तामणि, हिन्दी, भाग-3, पृष्ठ 23-26)*

3. अचौर्यमहाव्रत

(नियमसार, गाथा 58 एवं कलश 78 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

गामे वा णयरे वाऽरण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव॥ 58॥

गाथार्थ : ग्राम में, नगर में या वन में परायी वस्तु को देखकर, जो (साधु) उसे ग्रहण करने के भाव को छोड़ता है, उसी को तीसरा व्रत, अर्थात् अचौर्यमहाव्रत है।

यह तीसरे व्रत के स्वरूप का कथन है।

अब, ग्राम इत्यादि की अलग-अलग व्याख्या करते हैं।

जिसके चौतरफ बाड़ हो, वह ग्राम (गाँव) है....

गाँव उसे कहते हैं कि जिसके थूहर आदि की बाड़ हो, गाँवों में कहाँ गढ़ आदि होते हैं ? वहाँ तो बाड़ होती है, इसलिए थूहर आदि की बाड़ हो, उसे गाँव कहते हैं। ऐसे गाँव में कोई वस्तु पड़ी हो / कोई उसे भूल गया हो अथवा गिर गयी हो अथवा बाद में लेने आऊँगा - ऐसा विचारकर किसी ने उसे रखी हो तो उसे ग्रहण करने के परिणाम को मुनिराज छोड़ देते हैं - इसका नाम तीसरा व्रत (अचौर्यमहाव्रत) है, जो कि शुभभाव है।

जो चार द्वारों से सुशोभित हो, वह नगर है।

पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण - ऐसे चारों ओर जिसके चार दरवाजे हों, उसे नगर कहते

हैं। उसमें भी अन्य की रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई परवस्तु को देखकर उसके स्वीकारपरिणाम / ग्रहण करने के परिणाम को छोड़े, इसका नाम तीसरा (अचौर्य) व्रत है। चारित्रवन्त के ऐसे परिणाम को तीसरा व्रत कहा जाता है।

अब, अरण्य की व्याख्या करते हैं कि अरण्य किसे कहते हैं ?

जो मनुष्य के सञ्चाररहित, वनस्पतिसमूह, बेलों और वृक्षों के झुण्ड आदि से खचाखच भरा हो, वह अरण्य है।

अरण्य में वनस्पति का समूह होता है, बेलें होती हैं और वृक्षों के विशाल झुण्ड होते हैं, क्योंकि वर्षा के कारण वृक्षों के झुण्ड समीप-समीप खड़े होते हैं और वहाँ मनुष्यों का सञ्चार नहीं होता; इसलिए उन्हें तोड़े भी कौन ? देखो, टीका में कहा न कि 'मनुष्यों के सञ्चाररहित' – तो कहते हैं कि बड़ा अरण्य वनस्पति के झुण्डों, बेलों और वृक्षों के झुण्डों से खचाखच भरा होता है, उसे ही अरण्य कहा जाता है। ऐसे अरण्य में भी अन्य के द्वारा छोड़ी हुई किसी वस्तु को – गहने, पैसे, हीरा, माणिक, वस्त्र इत्यादि किसी भी वस्तु को ग्रहण करने के परिणाम को मुनिराज तज देते हैं।

ऐसे ग्राम, नगर या अरण्य में अन्य से छोड़ी हुई, रखी हुई, गिरी हुई अथवा भूली हुई परवस्तु को देखकर, उसके स्वीकार परिणाम का; अर्थात्, उसे अपनी बनाने-ग्रहण करने के परिणाम का जो परित्याग करता है, उसे वास्तव में तीसरा व्रत होता है।

दूसरों के द्वारा रखी हुई; अर्थात्, किसी ने कोई वस्तु रखी हो कि यहाँ कोई मनुष्य नहीं है; इसलिए अभी रख दें और बाद में ले जाऊँगा तथा गिरी हुई; अर्थात्, चलते-चलते किसी की कोई वस्तु गिर गयी हो।

प्रश्न – परन्तु अरण्य में तो मनुष्यों का सञ्चार नहीं है न ?

उत्तर – विशेष सञ्चार नहीं है परन्तु कोई मनुष्य अरण्य में आ गया हो और चीज गिर गयी हो – ऐसा आशय ग्रहण करना।

इसी प्रकार अरण्य में भूल गया हो; अर्थात्, कोई मनुष्य अरण्य में आ गया हो और वहाँ

कोई वस्तु भूल गया हो; यद्यपि अरण्य है तो मनुष्यों के सञ्चाररहित, तथापि कोई मनुष्य कहीं से आया हो और वस्तु भूल गया हो – उसकी बात है। यहाँ कहते हैं कि कोई अरण्य में पाँच –पच्चीस हीरे भूल गया हो अथवा यहाँ कौन आता है? अत: बाद में ले लूँगा – ऐसा विचारकर कुछ हीरे रख गया हो तो हीरे पड़े दिखते हैं। मुनिराज उन्हें देख लेने पर भी ग्रहण करने के परिणाम को छोड़ते हैं।

प्रश्न – जहाँ मनुष्यों का सञ्चार नहीं है, वहाँ मुनि पहुँच जाते हैं?

उत्तर – (हाँ) देखो, मनुष्यों का सञ्चार नहीं है, वहाँ मुनि जाएँ – ऐसा नहीं कहा है। अहा! पहले तो यह कहा है कि अरण्य में मनुष्यों का सञ्चार नहीं होता और फिर भी वहाँ कोई वस्तु छूटी हुई, रखी हुई, पड़ी हुई अथवा भूली हुई हो – ऐसा कहते हैं। लो, 'चीज़ भूल गयी हो' – ऐसा कहा, तो वहाँ पशु की बात तो होगी नहीं, परन्तु मनुष्यों की ही बात है और उस अरण्य में मुनि आ गये हों, क्योंकि तभी तो परवस्तु को देखकर.... – ऐसा कहा है न!

यहाँ कहते हैं कि ऐसे गाँव, नगर अथवा अरण्य में दूसरों के द्वारा रखी हुई, छोड़ी हुई, पड़ी हुई अथवा भूली हुई परवस्तु को–दूसरे की वस्तु को, हीरे दिखें तो उन्हें भी ग्रहण करने के परिणाम को मुनिराज त्यागते हैं। अहा! यहाँ मुनि की बात है कि वे 'वस्तु है' – ऐसा देखते तो हैं, तथापि उसे ग्रहण करने के परिणाम को छोड़ते हैं। 'लाओ न! ये हीरे ले जाऊँ, फिर किसी को दे दूँगा अथवा धर्म कार्यों में खर्च करूँगा अथवा गृहस्थ को दूँगा तो इनसे मन्दिर बनेगा' – ऐसे परिणाम मुनिराज को नहीं होते। जहाँ परवस्तु को लेने का परिणाम ही उन्होंने छोड़ दिया है तो फिर 'यह करूँगा या वह करूँगा' – यह प्रश्न ही कहाँ रहता है?

अरे! जिन्हें वस्त्र का धागा भी न हो, उन्हें ऐसे परवस्तु का परिग्रह हो अथवा वे परिग्रह को पकड़ें – ऐसा नहीं हो सकता। वे ऐसे परिणाम को छोड़ देते हैं – ऐसा मात्र यहाँ कहा है। इस कथन का यह आशय नहीं है कि उन्हें परवस्तु को ग्रहण करने के परिणाम आ जाते हैं और फिर उन्हें छोड़ देते हैं परन्तु वस्तुत: तो वे ऐसे परिणाम होने ही नहीं देते – यह बात यहाँ लेना है।

यहाँ कहा है कि सम्यग्दर्शनसहित स्वरूप की चारित्रदशा के योग्य वीतरागता/छठवें-सातवें गुणस्थान के योग्य चारित्रसहित जो मुनि हैं, उन्हें ऐसे तृतीय (अचौर्य) व्रत के परिणाम होते हैं, तथापि है वह पुण्यबन्ध का ही कारण।

देखो न, कैसी बात करते हैं ? कि '**आकर्षति रत्नानां**' अर्थात्, ऐसे शुभभाव, चैतन्यरत्न को आकर्षित करते हैं - ऐसा नहीं, परन्तु वे बाह्य रत्नों का ढेर देते हैं - ऐसे कहते हैं।

यह उग्र अचौर्य इस लोक में रत्नों के सञ्चय को आकर्षित करता है और (परलोक में) स्वर्ग की स्त्रियों के सुख का कारण है तथा क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है।

उग्र, अर्थात् उत्कृष्ट शुभभाव के फल में इसके पास रत्न के ढेर आते हैं - ऐसा कहते हैं। जिसने रत्न लेने के परिणामों का त्याग किया है, उसे उस शुभभाव के फल में बाह्य में रत्न के ढेर प्राप्त होंगे, परन्तु चैतन्यरत्न की प्राप्ति होगी - ऐसा नहीं है।

यहाँ कहा है कि अचौर्यव्रत के परिणाम, मनुष्यपने में रत्नों के ढेर को आकर्षित करते हैं -खींचते हैं। तात्पर्य यह है कि उसके पास रत्नों के ढेर आयेंगे तथा वह (अचौर्यव्रत) स्वर्ग की स्त्रियों के सुख का कारण है, परन्तु आत्मा के सुख का कारण नहीं है, क्योंकि व्रत के परिणाम शुभराग / पुण्य है।

अहा ! सम्यग्दर्शन; अर्थात्, आत्मा के अनुभवसहित वीतरागपरिणति की भूमिका में जो अचौर्यव्रत का भाव हो, उसका फल इस लोक में / मनुष्यभव में रत्नों के समूह को आकर्षित करना है और परलोक में / स्वर्ग में स्त्रियाँ प्राप्त होने में निमित्त होता है। निश्चय के; अर्थात्, आत्मा के भानसहित व्रत का शुभराग है न, और उसमें उतना अशुभराग भी मिटा है न; इसलिए अब कहते हैं कि 'क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है।' समयसार के मोक्ष अधिकार में भी आता है कि 'क्रम-क्रम से मिटाने में....' (गाथा 306 -307) क्रम-क्रम का अर्थ यह है कि अभी शुभभाव से अशुभभाव का अभाव हुआ है और फिर क्रम-क्रम से शुभभाव का भी अभाव करेगा।

देखो, तीन बातें ली हैं कि अचौर्यव्रत का शुभभाव (1) इस भव में रत्नों के सञ्चय

को आकर्षित करता है, (2) परलोक में स्वर्ग की स्त्रियों के सुख का कारण है, और (3) क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है, परन्तु यह मुनि के व्रत की बात है। इसका कारण यह है कि अज्ञानी के तो व्रत होते ही नहीं हैं और इस कारण यहाँ उसकी बात नहीं की है। यहाँ तो आत्मा के भानसहित उग्र आनन्द की परिणति की भूमिका में मुनि को जो यह व्रत होते हैं, उनकी बात है। जबकि अभी अज्ञानी की तो दृष्टि ही मिथ्या है, तब वहाँ व्रत कैसे ? जहाँ त्रिकाली वस्तु का स्वीकार ही नहीं है और जहाँ स्वीकार ही अंश / पर्याय और राग का है, वहाँ, अर्थात् जहाँ दृष्टि और भूमिका ही विपरीत है, वहाँ व्रत कैसा ? ऐसे व्रत और तप को तो बालव्रत और बालतप कहा जाता है। बालव्रत और बालतप; अर्थात्, मूर्खता से भरे हुए व्रत और तप।

अहा ! कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि को व्रत कैसा ? अज्ञानी को अन्दर में मिथ्यात्व से और मिथ्याभाव से महा-कषाय अग्नि सुलग रही है, इस कारण उसे ये अचौर्य आदि व्रत कैसे हो सकते हैं ? ऐसे व्रत के परिणाम तो, आत्मस्वभाव के आश्रय में मुनि को वीतरागपरिणति प्रगट हुई है, परन्तु पूर्ण वीतरागता नहीं हुई; इसलिए होते हैं और वह व्रत क्रमानुसार मुक्ति का कारण है; अर्थात्, उस व्रत का राग छूटकर (वह मुनि) पूर्ण वीतराग होकर मुक्ति प्राप्त करेगा। ●

(- प्रवचन रत्न चिन्तामणि, हिन्दी, भाग-3, पृष्ठ 29-32)

4. ब्रह्मचर्यमहाव्रत

(नियमसार, गाथा 59 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

दट्ठूण इत्थिरूवं वांच्छाभावं णियत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ॥ 59 ॥

गाथार्थ : स्त्रियों के रूप देखकर, उनके प्रति वांछाभाव की निवृत्ति वह, अथवा मैथुनसंज्ञारहित जो परिणाम, वह चौथा व्रत, अर्थात् ब्रह्मचर्यमहाव्रत है।

यह चौथे व्रत के स्वरूप का कथन है।

चौथे व्रत (ब्रह्मचर्यव्रत) के स्वरूप का कथन है।

सुन्दर कामिनियों के मनोहर अङ्ग के निरीक्षण द्वारा उत्पन्न होनेवाली कुतूहलता के चित्तवांछा के परित्याग से अथवा पुरुषवेदोदय नाम का जो नोकषाय का तीव्र उदय, उसके कारण उत्पन्न होनेवाली मैथुनसंज्ञा के परित्यागस्वरूप शुभपरिणाम से ब्रह्मचर्यव्रत होता है।

निरीक्षण, अर्थात् देखना। ऐसा सुन्दर रूप! ऐसी कौतूहलता की वाँछा का परित्याग, अर्थात् सर्वथा त्याग, वह चौथा व्रत है अथवा अन्दर पुरुषवेद का उदय आने पर, उसके कारण उत्पन्न होनेवाली मैथुनसंज्ञा का परित्याग, वह चौथा व्रत है। देखो, यहाँ तो वेद का उदय होने पर परिणाम में मैथुन का भाव न होने देना और शुभभाव होना, उसे ब्रह्मचर्यव्रत कहा है। वेदकर्म

का उदय होने पर भी, उस ओर का लक्ष्य छूटकर शुभभाव रहना, चौथा ब्रह्मचर्यव्रत है। यह व्रत, सम्यग्दर्शनसहित मुनिराज को होता है।

देखो, यहाँ वेद का तीव्र उदय लिया है कि वेद का तीव्र उदय होने पर भी, आत्मा में विषय –वासना के परित्यागस्वरूप शुभपरिणाम होने को यहाँ ब्रह्मचर्यव्रत चौथा व्रत कहा जाता है।

कामनियों की जो शरीरविभूति, उस विभूति का हे कामी पुरुष! यदि तू मन में स्मरण करता है तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा?

स्त्री के शरीर की सुन्दरता आदि जो विभूति है, उस ओर तेरा झुकाव वर्तता है; अर्थात्, जड़ शरीर की सुन्दरता, उसके अङ्गों की मनोज्ञता इत्यादि पर तेरा मन बहुत जाता है; अर्थात्, यदि तू शरीर की विभूति को याद करता है तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा? अर्थात्, तुझे अन्तर स्वरूप में रमणतापूर्वक चौथे व्रतरूप ब्रह्मचर्य का शुभभाव कैसे होगा?

शरीर की सुन्दर विभूति पर लक्ष्य जाने पर कौतूहल होता है कि अहाहा! – जिसे ऐसी वाँछा होती है, उसे अथवा शरीर की विभूति का मन में स्मरण करता है कि अहाहा! ऐसा स्मरण करनेवाले को मेरे वचन से क्या लाभ होगा? तात्पर्य यह है कि उसे जो शुभभाव होना चाहिए, वह तो उसने किया नहीं, अपितु अशुभभाव किया; इस कारण मुनि की भूमिका के योग्य चौथा व्रत होना चाहिए, वह कैसे होगा? – ऐसा कहते हैं।

अहो! आश्चर्य होता है कि सहज परमतत्त्व को-निजस्वरूप को छोड़कर, तू किस कारण विपुल मोह को प्राप्त हो रहा है।

सहज परमतत्त्व, अर्थात् निजस्वरूप। देखो, पाठ में है न कि '**सहज परमतत्त्वं स्वस्वरूपं।**' कहते हैं कि अहो! स्वाभाविक परमतत्त्व, ऐसा जो आनन्द अमृत का सागर प्रभु आत्मा है; अर्थात्, त्रिकाली अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ऐसा जो अपना पूर्ण परमतत्त्व है, वह स्वस्वरूप है, अपना स्वरूप है, तथापि अरे! ऐसे आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा को रुचि-दृष्टि में से छोड़कर, तुझे पर का प्रेम होता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि तुझे आत्मा के आनन्द का प्रेम नहीं है।

अहा! आत्मा के स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत है, जिसके एक अंश के स्वाद के समक्ष इन्द्र का इन्द्रासन भी मरे हुए चूहे और कुत्ते के सड़े हुए मुर्दे जैसा लगता है। ऐसे निज परम स्वरूपमय आनन्द को भूलकर तू किसलिए विपुल मोह को प्राप्त होता है ? तुझे किस कारण पर के प्रति प्रेम होता है ? ब्रह्मानन्दस्वरूप भगवान आत्मा परम अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर प्रभु है, तथापि उसे छोड़कर तू किस कारण पर के प्रति मोह करता है ? क्या तेरे पास आनन्द नहीं है कि जिससे तू पर में आनन्द की वाँछा करके वहाँ आनन्द शोधने जाता है ? पर पर में सुख पाने के लिए जाता है ? – ऐसा यहाँ कहते हैं।

कहते हैं कि तू किस कारण विपुल मोह को प्राप्त होता है ? क्योंकि व्रतधारी को तो परम आनन्दमय स्वरूप में सावधानी चाहिए, तथापि उसके बदले तू पर में सावधानी / मोह किस कारण पाता है ? क्या हुआ है तुझे ? क्या तुझे भ्रम का भूत लगा है ? परमतत्त्व / निजस्वरूप / स्वस्वरूप – ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दमय भगवान आत्मा का आश्रय अथवा अवलम्बन छोड़कर, तू पर में विपुल मोह करता है तो तुझे यह क्या हुआ ? किस कारण तू विपुल मोह को प्राप्त होता है ? इसका कारण यह है कि तुझे पर का प्रेम है, किन्तु स्व का प्रेम नहीं है।

अपना त्रिकाली स्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय है, उसका तुझे प्रेम नहीं है; अर्थात्, उसकी रुचि नहीं है, वह पोषाता नहीं है – ऐसा कहकर यह कहना चाहते हैं कि स्वयं आत्मा, जो कि परमानन्दस्वरूप परमात्मा है, उसका; अर्थात्, स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द से छलाछल भरा हुआ तत्त्व है, उसका यदि स्वीकार हो तो पर में मोह होने का प्रसङ्ग ही नहीं रहता और यदि पर में मोह होता है तो उसे अपने परमानन्दस्वभाव की दृष्टि और रुचि ही नहीं है, उसने अपने परमानन्दमय निज स्वभाव को श्रद्धा में लिया ही नहीं है।

तात्पर्य यह है कि पर में / स्त्री के सुन्दर शरीर और उसके मनोज्ञ अङ्गों को देखकर उनमें यदि तुझे कौतूहलता अथवा वाँछा होती है तो तूने परमानन्दस्वभावी आत्मा का भाव / आदर छोड़ दिया है, तुझे परमानन्दमय आत्मस्वभाव का प्रेम, दृष्टि अथवा रुचि नहीं है; तूने अपना अनादर करके पर का-मोह का आदर किया है।

अहा! सहज परमतत्त्व कहने से वस्तु स्वाभाविक है; अर्थात्, तू (आत्मा) सहजस्वरूप से विद्यमान है, अतीन्द्रियज्ञान और आनन्दस्वभाववाला सहजतत्त्व है, तथापि तुझे ऐसे अपने

स्वस्वरूप का आदर छोड़कर – प्रेम छोड़कर, इस सुन्दर स्त्री के अङ्ग–उपाङ्ग में कौतूहलता क्यों होती है ? तुझे परमानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की भावना होनी चाहिए, उसके बदले तूने यह पर की भावना क्यों की ? तुझे क्या हुआ है ? तुझे मिथ्यात्व का भूत लग गया लगता है।

प्रश्न – 'मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा' – इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – मुनि का आशय तो वीतरागभाव बतलाने का है और उस भूमिका में अशुभभाव टलकर शुभभाव रहें, वह चौथा व्रत है; अर्थात्, वीतरागभाव की भूमिका में चौथा व्रत होता है – ऐसा बतलाने का भाव है परन्तु वह वीतरागता तो तुझे है नहीं; इसलिए मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा ?

अहा! भगवान आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। निज परमतत्त्व अतीन्द्रिय सुखस्वरूप है। इससे अहाहा! यह क्या है ? (आत्मा कैसा है ?) – इस प्रकार उसकी कौतूहलता करके उसमें लीन होना चाहिए – स्थिर होना चाहिए–रहना चाहिए, परन्तु इसके बदले उसकी कौतूहलता छोड़कर इस पर की सुन्दरता की कौतूहलता में तू क्यों गया ? – ऐसा कहते हैं।

यदि पर की सुन्दरता – स्त्री की, उसके शरीर की और उसके शरीर के अङ्गोपाङ्गों की सुन्दरता देखकर तुझे वाँछा या कौतूहल होता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि तूने अपने भगवान आत्मा को छोड़ दिया है। यदि तुझे पर की / स्त्री के अवयवों की / सुन्दरता की कौतूहलता अथवा वाँछा है तो तू वहाँ चला गया है और तेरा भगवान आत्मा जो कि अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है, उसे तूने छोड़ दिया है। प्रभु! अद्भुत बात है।

जिसका मनोहर मधुर अतीन्द्रिय रस है – ऐसा भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् = शाश्वत् और चिदानन्द = अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द। तथापि अरे प्रभु! उसे तूने छोड़ दिया है। अरे! उसकी तो कौतूहलता होनी चाहिए कि यह क्या है ? यह क्या है ? यह क्या है ? (आत्मा कैसा है ?) और यदि उसका भान हुआ हो तो उसमें स्थिरता का भाव होता है परन्तु उसके बदले, अपने प्रभु के त्रिकाली आनन्दस्वभाव का स्वीकार नहीं करके, उसका अनादर करके तेरी वृत्ति इस पर की कौतूहलता में रुक गयी है, यह तूने अनर्थ किया है। अरे! छोटी बात में (कौतूहलता में) भी तू अपने प्रयोजन को भूल गया है – ऐसा कहते हैं।

अहा ! यदि तुझे अपने आनन्दस्वभाव का दृष्टि में आदर हो; अर्थात्, तेरी दृष्टि में तेरा तत्त्व ही हो, यदि तेरा स्वभाव ही तेरे आश्रय या अवलम्बन में हो तो तुझे पर की कौतूहलता होने का प्रसङ्ग ही नहीं रहता, परन्तु यदि तू पर की सुन्दरता के मोह में / कौतूहलता में रुका तो तेरी सुन्दरता दृष्टि में से छूट गयी, तेरा सुन्दर आनन्दस्वभाव (श्रद्धा में से) छूट गया। तात्पर्य यह है कि आनन्दमूर्ति आत्मा, जो कि स्वयं प्रभु है, उसे तथा उसकी सुन्दरता को तूने छोड़ दिया और तू इस पर की सुन्दरता में लग गया है; इसलिए तुझे चौथा व्रत कैसे हो सकता है ? – ऐसा कहते हैं। देखो न ! वैराग्य की मस्ती चढ़ावे – ऐसी बात है न !

कहते हैं कि जो आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के प्रेम में पड़ा है, उसका जिसने स्वीकार किया है, उसे 'पर में आनन्द है' – ऐसा भाव कैसे आ सकता है ? पर में सुख है – ऐसा भाव, जो कि ज़हर है, वह कैसे आयेगा ? अर्थात्, अमृत के स्वादी को ज़हर के स्वाद की कौतूहलता कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती – ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई ! यह तो अद्‌भुत बात है ! परन्तु यदि तू पर की कौतूहलता अथवा वाँछा के स्वाद में गया तो तू अपने आनन्द की सुन्दरता को भूल गया, तू अपने भगवान को भूल गया।

इस प्रकार इस चौथे व्रत की व्याख्या करके पद्मप्रभमलधारिदेव, जीव को जागृत करके खड़ा करते हैं कि जाग रे जाग नाथ ! आनन्द तो तुझमें पड़ा है प्रभु ! तू जागकर देखेगा तो तुझे अपने में आनन्द भासित होगा, परन्तु बाहर में कहीं आनन्द भासित नहीं होगा। अरे ! इन्द्र का इन्द्रासन भी तुझे मरे हुए कुत्ते अथवा चूहे के सड़े हुए मुर्दे के समान लगेगा।

देखो, यहाँ तो चौथे व्रत की बात की है, तो भी उसमें आत्मदृष्टि को भूलकर अज्ञानी जीव, अशुभभाव करता है – इस प्रकार बात को कहाँ तक ले गये हैं ? क्योंकि अज्ञानी को पर की वाँछा होने से पर का प्रेम हो गया है न ! इस कारण उसने आत्मा को दृष्टि में से छोड़ दिया है – ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहा है कि जिसे आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव रुचिकर हुआ है; अर्थात्, जो आनन्दस्वभाव के सन्मुख हुआ है, उस जीव को स्वरूप में स्थिरता / भावनावाला चारित्र होता है और उस भूमिका में विषय के त्यागरूप महाव्रत का विकल्प होता है, जिसे शुभभावरूपी व्रत कहते हैं परन्तु ये व्रत ऐसे; अर्थात्, निश्चयचारित्रवन्त जीव को होते हैं; इसके अतिरिक्त अज्ञानी

बाहर से ब्रह्मचर्य पालन करे और स्त्री का त्याग करे तो यहाँ उसकी बात नहीं है; अर्थात्, उसे व्रत नहीं होते। अभी उसे स्वरूप का आदर ही नहीं आया है; इसलिए व्रत के परिणाम के लिए अपेक्षित चारित्र की भूमिका है ही नहीं, इस कारण उसे व्रत के परिणाम नहीं हो सकते।

भाई! यह तो अद्भुत बात है! देखो न! छोटी सी बात / व्रत की बात होने पर भी इसमें सारी बात भर दी है। अभी अधिक बात तो बाद में 60 वीं गाथा में लेंगे।

इस प्रकार चौथे व्रत की बात हुई। ● *(प्रवचन रत्न चिन्तामणि, हिन्दी, भाग-3, पृष्ठ 34-38)*

उपसर्गावस्था में मुनियों की दशा का विचार

प्रतिकूल संयोगों में मुनि को देखकर, जो जीव मुनि को दुःखी मानते हैं, उन्हें चारित्रदशा में होनेवाले सुख की खबर नहीं है। मुनि के शरीर को सिंह फाड़कर खा रहा हो, उसे देखकर अज्ञानी, उन्हें दुःखी मानता है, जबकि मुनि तो वीतरागी शान्ति में हैं। वे आत्मा के आनन्द में झूलते हैं, उन्हें दुःख नहीं है, क्योंकि मुनिराज संयोग से दुःख नहीं मानते।

तू देह में आत्मबुद्धि से, संयोग के कारण दुःख मानता है, इसलिए तुझे मुनिदशा की खबर नहीं है। तथा वह अज्ञानता में यह भी बोलता है कि भले ही हमारे ऊपर ये दुःख आ जावें, किन्तु मुनि के ऊपर ये दुःख कभी न आवे।

ज्ञानी को राग आता है और वह मुनि को छुड़वाने (उपसर्ग दूर करने) का प्रयत्न करता है। मुनि को बचाने के लिए सिंह को तलवार लग जाए, तब भी वहाँ सिंह को मारने का अभिप्राय नहीं होता। मुनि को बचाने के प्रसङ्ग में बचानेवाला और मारनेवाला दोनों ही मर जावें – ऐसा भी हो सकता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी स्वर्ग में जाता है और सिंह नरक में जाता है। *(दिव्यध्वनिसार भाग 2, पृष्ठ 246-247)*

5. अपरिग्रहमहाव्रत

(नियमसार, गाथा 60 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेखभावणापुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स॥ 60॥

गाथार्थ : निरपेक्ष भावनापूर्वक; अर्थात्, जिस भावना में पर की अपेक्षा नहीं है – ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावनासहित, सर्व परिग्रहों का त्याग; अर्थात्, सर्व परिग्रहत्याग सम्बन्धी शुभभाव, उस चारित्रभर वहन करनेवाले को पाँचवाँ व्रत, अर्थात् अपरिग्रहमहाव्रत कहा है।

सबसे पहले अन्वयार्थ लेते हैं क्योंकि नीचे फुटनोट है न? देखो, गाथा में है कि **चारित्रं धर्म वहवं तस्स**; अर्थात्, चारित्र के भार को वहन करनेवाली की यह बात है। देखो, पहली बात तो यह ली है कि जिसे परमशुद्ध आनन्दमय भगवान आत्मा का अवलम्बन है, जिसे उसकी भावना है – ऐसे जीव को पाँचवाँ, अर्थात् अपरिग्रहव्रत होता है।

नीचे फुटनोट में है कि **मुनि को मुनित्वोचित निरपेक्ष शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो हठरहित सर्व परिग्रहत्यागसम्बन्धी शुभोपयोग, वह व्यवहारअपरिग्रहव्रत कहलाता है।**

मुनित्वोचित = मुनित्व + उचित, अर्थात् मुनिपने के योग्य और निरपेक्ष शुद्धपरिणति; अर्थात्, जिसे पर की, निमित्त की अथवा व्यवहार की अपेक्षा नहीं है – ऐसी भगवान आत्मा

की वीतरागीदशा। सर्व परिग्रहरहित, ऐसा भगवान आत्मा का त्रिकाली स्वरूप है, उसके आश्रय से प्रगट हुई शुद्धपरिणति, वह निरपेक्ष शुद्धपरिणति है। देखो, यहाँ यह कहते हैं कि व्यवहार का; अर्थात्, राग की मान्यता का भाव है तो शुद्धपरिणति प्रगट होती है – ऐसा नहीं है। तात्पर्य यह है कि शुद्धपरिणति को राग की अपेक्षा नहीं है। अद्भुत बात है! अहा! शुभोपयोग को, अर्थात् शुभराग को–शुभविकल्प को व्यवहारव्रत कहते हैं परन्तु किस शुभोपयोग को? शुद्धपरिणति के साथ वर्तते शुभोपयोग को! परन्तु जहाँ शुद्ध परिणति ही नहीं है, पूर्णानन्दमय सम्यक् आत्मस्वरूप का स्वीकार होकर जहाँ शुद्धदशा ही जागृत / प्रगट नहीं हुई है, वहाँ व्रत नहीं होते।

यह सुनकर कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि यदि अज्ञानी को व्रत नहीं होते तो फिर उन्हें चौथे व्रत की / ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिज्ञा किसलिए देते हैं? बाहर में लोग भी पूछते हैं कि तुम व्रत को हेय भी कहते हो और सबको व्रत भी देते हो?

भाई! यह ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा, व्रत नहीं है, वह व्रत कहाँ है? वह तो अशुभभाव के परिणाम से बचने का एक शुभभाव है, इतनी उसकी मर्यादा है। वस्तुतः अज्ञानी को व्रत होते ही नहीं, क्योंकि व्रत तो जिसे सम्यक् अनुभव हुआ हो, उसे होते हैं। सर्व परिग्रह के त्यागस्वरूप ऐसा निरपेक्ष तत्त्व भगवान आत्मा है, उसका आश्रय लेने पर प्रगट होनेवाली शुद्धपरिणति निश्चयव्रत है और उसके साथ होनेवाला व्रत का विकल्प, व्यवहारव्रत है।

शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है, वह शुभोपयोग तो व्यवहारव्रत भी नहीं कहलाता। [इस पाँचवें व्रत की भाँति अन्य व्रतों को भी समझ लेना।]

जिसमें शुद्ध सहजस्वरूप परमानन्दमय प्रभु भगवान आत्मा को दृष्टि में नहीं लिया, जिसे निर्मलदशा / परिणति नहीं हुई – ऐसे जीव को हठयुक्त शुभभाव होता है किन्तु सहज शुभभाव नहीं होता, क्योंकि उसे शुद्धपरिणति नहीं है। अज्ञानी, हठ से ब्रह्मचर्य आदि शुभभाव पालता है परन्तु ब्रह्मानन्दस्वरूप आत्मा का स्वाद उसे नहीं आया है; इसलिए वह व्यवहार; अर्थात्, बाह्य से ब्रह्मचर्य पालन करता है तो भी उसे व्रत नहीं कहा जाता।

बापू! यह बात सुनने को मिलना भी महापुण्य का योग हो, तब होता है – ऐसी चीज है। उसे उस जाति का क्षयोपशम हो, उस जाति का विकल्प हो और उस जाति का पुण्य हो, तभी यह बात सुनने को मिलती है।

यहाँ कहते हैं कि जैसे, माल बिना वारदाना किसका? किसी का नहीं। अथवा खाली घड़ा हो, उसे घी का घड़ा कहना या तेल का घड़ा कहना या पानी का घड़ा कहना? परन्तु जब अन्दर कोई माल ही नहीं है तो अकेले घड़े को किसका घड़ा कहना? किसी का नहीं। इसी प्रकार निश्चय शुद्धपरिणति के बिना, व्यवहार किसे कहना? परम प्रभु परमेश्वर, ऐसे अपने आत्मा का स्वीकार होकर, जहाँ अभी शुद्धपरिणति नहीं हुई, जहाँ परिणति ने पूर्ण स्वभाव को स्वीकार नहीं किया, वहाँ शुद्धपरिणति से रहित शुभराग को व्यवहार भी नहीं कहा जाता। भाई! अद्भुत बात है।

अरे! अज्ञानी तो वस्त्र-पात्र आदि छोड़कर नग्न हो जाए, इसलिए मानो सब हो गया हो –ऐसा मानता है; अर्थात्, मैंने बाह्य परिग्रह छोड़ा है, इसलिए सब छूट गया है और इससे अब आरम्भ परिग्रह छोड़ने का क्या काम है? – ऐसा वह मानता है। अरे भाई! आरम्भ परिग्रह छोड़ना किसे कहते हैं? क्या तुझे इसका पता है? अज्ञानी को आत्मवस्तु की पकड़ नहीं है; इसलिए शुभराग का विकल्प उत्पन्न होता है, उसकी पकड़ होती ही है और वही आरम्भ परिग्रह है। अहा! त्रिकाली आनन्दभावरूप ज्ञायकभाव की पकड़ / दृष्टि अज्ञानी को नहीं है, इसलिए उसकी कहीं तो पकड़ रहेगी। अतः अज्ञानी की शुभभाव की पकड़ है और वही महा-आरम्भ तथा महापरिग्रह है। दूसरे प्रकार से कहें तो अज्ञानी ने राग को पकड़ा है किन्तु राग को अपने से भिन्न नहीं रखा है। वह राग को भिन्न रखे भी कैसे? क्योंकि यदि उसने आत्मा को पकड़ा हो, तभी तो राग को भिन्न रखेगा न!

यहाँ कहने का आशय यह है कि राग से भिन्न निरपेक्ष तत्त्व है, उसे नहीं पकड़ा / अनुभव नहीं किया, इस कारण राग की पकड़ होती ही है। इसलिए अज्ञानी को राग में एकत्व है ही। उसने आत्मा को पकड़ा नहीं है; इसलिए राग की पकड़ है ही। जबकि ज्ञानी तो राग की पकड़ से छूट गया है और उसे शुभभाव आवे, उसको व्यवहार कहते हैं – ऐसी अद्भुत बातें हैं।

अहा! ऐसी बातें साधारण मनुष्य को ऐसी लगती है कि मानो यह कोई ऊँचे दर्जे की बात है परन्तु भाई! यह तो अभी सम्यग्दर्शन की; अर्थात्, धर्म के पहली श्रेणी की बात है। यहाँ कहते हैं कि पाँचवें व्रत की तरह अन्य सभी; अर्थात्, पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे व्रत के लिये भी समझ लेना कि यदि शुद्धपरिणति हो तो अहिंसा व्रतादि के विकल्प को व्यवहारव्रत कहते हैं। शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा का अवलम्बन करके, जहाँ शुद्धता का प्रवाह बहता हो, उस ज्ञानधारा की भूमिका में होनेवाली रागधारा को व्यवहारव्रत कहते हैं परन्तु जहाँ अभी ज्ञानधारा ही प्रगट नहीं हुई, वहाँ व्रत नहीं होते।

ज्ञान से मोक्ष होता है; राग से नहीं – यह सुनकर अज्ञानी कहता है कि नहीं, ऐसा नहीं है; यह बात मिथ्या है। ज्ञान के साथ समकित और चारित्र भी चाहिए। भगवान् ने अकेले ज्ञान से मुक्ति नहीं कही है। उससे कहते हैं कि अरे सुन तो सही! ज्ञान, अर्थात् ज्ञान का ज्ञान; श्रद्धा, अर्थात् ज्ञान की श्रद्धा और चारित्र, अर्थात् ज्ञान में रमणता। यह सब (श्रद्धा, रमणता आदि) ज्ञान ही कहलाते हैं। यह बात खानियाँ तत्त्वचर्चा में बहुत ली है। अहा! ज्ञान से मोक्ष होता है, इसका अर्थ यह है कि आत्मवस्तु ज्ञानस्वभावी है; इसलिए उसका ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरता – यह सब भी ज्ञानमय ही हैं, किन्तु रागमय नहीं हैं। यह 'ज्ञान से मोक्ष होता है' कहकर सिद्ध करना है।

देखो, समयसार के पुण्य-पाप अधिकार में आता है न कि ज्ञान से मोक्ष होता है। **(ज्ञानं हि मोक्षहेतुः... गाथा 151)** किन्तु 'ज्ञान से मोक्ष होता है' का अर्थ क्या है? यही कि आत्मसम्मुख हुआ ज्ञान, श्रद्धान और स्थिरता – ये तीनों ही ज्ञान हैं और इस ज्ञान से मोक्ष होता है किन्तु ज्ञान; अर्थात्, मात्र बाह्य का जानपना – ऐसा इस कथन का अर्थ नहीं है तथा 'ज्ञान से मुक्ति होती है' – ऐसा कहने से व्यवहार व्रतादि के राग से मुक्ति नहीं होती, राग मुक्ति का कारण नहीं है – यह भी सिद्ध होता है। अहा! ज्ञानस्वरूपी, ज्ञानस्वभावी आत्मवस्तु है, उसमें ज्ञान के साथ श्रद्धा और आनन्दादि गुण भी विद्यमान ही हैं; इसलिए उसमें एकाग्र होने पर जो श्रद्धा और आनन्दादि प्रगट होते हैं, वे सब भी ज्ञानमय ही हैं; रागमय नहीं और इस ज्ञान से मुक्ति होती है – ऐसा कहना है।

प्रश्न – ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही हैं न?

उत्तर – हाँ, ज्ञानमय ही है। उसे तो राग का भी ज्ञान है क्योंकि राग मेरा है – ऐसी मान्यता ज्ञानी को कहाँ है ? द्रव्य का ज्ञान, गुण का ज्ञान, पर्याय का ज्ञान, राग का ज्ञान और निमित्त का भी ज्ञान; इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान.... ही है।

यहाँ कहा है कि जहाँ शुद्धपरिणति नहीं है, वहाँ शुभोपयोग को व्यवहारव्रत भी नहीं कहा जाता। लो, अभी अज्ञानी को चौथा गुणस्थान का ठिकाना न हो और पाँचवें तथा छठवें गुणस्थान के व्रत लेकर मानता है कि हमें श्रावकपना और मुनिपना प्रगट हुआ है।

यहाँ (इस गाथा में), पाँचवें व्रत का स्वरूप कहा गया है।

देखो, पाठ में है न कि **सव्वेसिं गंथाणं चागो**; अर्थात्, उसमें से त्रिकाली द्रव्य की बात निकाली कि त्रिकाली तत्त्व प्रभु भगवान आत्मा, **सकल परिग्रह के परित्यागस्वरूप है** तथा **णिवेक्खभावणापुव्वं** – ऐसा भी शब्द है न! तो उसका अर्थ यहाँ टीका में यह किया है कि **निज कारणपरमात्मा के स्वरूप में अवस्थित होना**; अर्थात्, अपने पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के स्वरूप में अवस्थित होना, वह भावना है और ऐसी अवस्थितिपूर्वक व्रत होते हैं – ऐसा कहना है।

अहा! **णिवेक्खभावणापुव्वं**, अर्थात् निरपेक्षभावनापूर्वक – ऐसा शब्द गाथा में पड़ा है। इसलिए इसमें से आत्मा की निरपेक्षभावना, अर्थात् स्वरूप में अवस्थित – यह अर्थ तो टीका में कहा है परन्तु उससे पूर्व उसमें से यह भी निकाला कि त्रिकाली तत्त्व है, वह निरपेक्ष है। निरपेक्षभाव के कहने से वह वीतरागीपर्याय हुई। तदुपरान्त त्रिकाली तत्त्व भी निरपेक्ष है – ऐसा कहते हैं। उस निरपेक्ष त्रिकाली तत्त्व के स्वरूप की भावना को; अर्थात्, उसमें अवस्थिति को निरपेक्षभावना कहा जाता है। यह क्या कहते हैं ? वह प्रथम तो याद रहना कठिन है – ऐसी सूक्ष्म बात है। अज्ञानी को यह बात ऐसी लगती है कि शरीर का करना, वाणी बोलना, विकल्प वाचन करने की बात नहीं, कुछ करने की बात नहीं और सीधी आत्मा की भावना की बात ?

अहा! यहाँ पहले भगवान को / आत्मा को सम्हालते हैं। जैसे, कोई भी कार्य करने से पूर्व कहते हैं न कि **णमो अरिहंताणं**; उसी प्रकार यहाँ '**णमो परम निरपेक्ष परमात्मा**' – ऐसा कहते हैं। इस प्रकार जहाँ हो वहाँ पहले भगवान को–आत्मा को याद करते हैं। अरे!

अज्ञानी तो राग के; अर्थात्, पुण्य-पाप के प्रेम में रचा-पचा होता है। वह राग में ही पूर्ण अस्ति मानकर बैठा है; इसलिए उसे यह चीज क्या - कैसी है ? यह बात कान में पड़ते ही, मानो कि वह तो बम हो - ऐसी लगती है; अर्थात्, उसे लगता है कि क्या ऐसी अस्ति होगी ? परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि तेरे विकारीपरिणाम के पीछे महानिरपेक्ष; अर्थात्, सर्व परिग्रह के परित्यागस्वरूप महाप्रभु आत्मा विराजमान है।

देखो, यहाँ **सव्वेसिं गंथाणं चागो णिवेक्खभावणापुव्वं** कहकर, पर्याय की बात तो लेना है परन्तु उसमें से त्रिकाली द्रव्य की बात भी मुनिराज ने निकाली है; इसलिए सर्व परिग्रह के त्यागस्वरूप निरपेक्षभावना / स्थिरता - ऐसा जो शब्द है, उसमें से मुनिराज ने यह निकाला कि आत्मा त्रिकाली निरपेक्षभाव है। इस प्रकार पर्याय की बात में से द्रव्य की बात निकाली है। अहा! आनन्दरूप अमृत से भरा हुआ, छलकता हुआ आत्मा है। यही बात सैंतालीस शक्तियों में आती है कि अनन्त शक्तियाँ, अनन्त गुण उछलते हैं; अर्थात्, पर्याय में अनन्त गुण प्रगट होते हैं; इसलिए ज्ञान उछलता है, उसके साथ आनन्द भी उछलता है - ऐसा वहाँ आता है न!

यहाँ कहते हैं कि एक समय में अनन्त... अनन्त... अनन्त... पवित्र गुणों का एक पिण्ड, ऐसा यह भगवान आत्मा स्वयं समस्त परिग्रह के त्यागस्वरूप है - ऐसा निजकारणपरमात्मा है... देखो '**निजकारणपरमात्मा**' कहकर अपना कारणपरमात्मा कहा है, जो कि त्रिकालीस्वरूप है, शक्ति का सम्पूर्ण सत्व है, पूर्ण अनन्त गुणों का एकरूप पिण्ड है और जो अभेद है, एक नित्य-शाश्वत् तत्त्व है - ऐसे अपने स्वरूप में जो अवस्थित है; अर्थात्, जिसे निजकारणपरमात्मा के स्वरूप की भावना है, उसमें जिसकी एकाग्रता है, वह परम संयमी है। अनादि से राग और पुण्य में अवस्थित था, वह अब अपने परमात्मस्वरूप में अवस्थित है और ऐसी भावना; अर्थात्, अवस्थितिसहित होनेवाले को पाँचवाँ व्रत होता है - यह सिद्ध करना है। देखो, पाठ में **भावणां** शब्द है न! तो भावना अर्थात् अवस्थित, यह अर्थ टीका में किया है। अवस्थित = अव + स्थित, अर्थात् निश्चय से स्थित।

अहा! त्रिकाली ज्ञायक आत्मा आनन्दस्वरूप है और वह वस्तु तो सर्व परिग्रह के परित्यागस्वरूप ही है; इसलिए उसे कुछ छोड़ना भी नहीं है तथा कुछ ग्रहण भी नहीं करना

है। ऐसा निज कारण परमात्मा... देखो निजकारणपरमात्मा; अर्थात्, अपना स्वभाव किन्तु दूसरा कोई भगवान अथवा ईश्वर नहीं। स्वयं ही निजकारणपरमात्मा है और ऐसे पूर्ण स्वरूप अपने भगवान आत्मा में अवस्थित होने का नाम मोक्ष का मार्ग, अर्थात् स्वभावभाव की भावना है। तात्पर्य यह है कि त्रिकालीभाव की / त्रिकाल ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा की एकाग्रता ही त्रिकालीभाव की भावना है। भावना, अर्थात् एकाग्रता। अरे! ऐसा स्वरूप जिसके कान में भी नहीं पड़े और ऐसे स्वरूप को जो विचार में भी नहीं ले, वह अन्दर में प्रयोग करके निज परमात्मा में पहुँचेगा कैसे? ऐसे स्वरूप के अन्दर जाएगा किस प्रकार? – ऐसा कहते हैं।

कहते हैं कि निजकारणपरमात्मा के स्वरूप में अवस्थित; अर्थात्, आत्मा का जो स्वरूप है, आत्मा का जो भाव है, उसमें स्थित रहनेवाले ऐसे **परम संयमियों को...** देखो परम संयमी लिये हैं क्योंकि वर के बिना बारात किसकी? किसी की नहीं। इसी प्रकार जहाँ भगवान आत्मा जागृत नहीं हुआ, वहाँ व्रत के सभी विकल्प मृतक समान हैं, उन्हें व्रत नहीं कहा जाता। अहा! भाषा देखो न! कैसी ली है? कहते हैं कि **परम संयमियों को....** जिसमें विकल्प की तथा चार भावरूप पर्याय की भी गन्ध नहीं है – ऐसे परम भगवान में / आत्मा में जो अवस्थित है, वह परम संयमी है। यहाँ तो यद्यपि आत्मा को सर्व परिग्रह के परित्यागस्वरूप कहा है तो भी उसमें औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – यह चार प्रकार की पर्यायें नहीं हैं। अत: इन पर्यायों से रहित जिसका स्वरूप है – ऐसी अपनी वस्तु में जो अवस्थित / निश्चय से स्थिर है, वह चारित्रपर्यायवन्त परम संयमी है, वह अपने स्वरूप में अवस्थित हुआ, तब उसके साथ स्वरूप की श्रद्धा भी आयी, उसका ज्ञान भी आया और चारित्र भी आया; तीनों साथ ही आये, क्योंकि स्वरूप में अवस्थित कब हुआ? जब उसकी श्रद्धा होकर ज्ञान हुआ, तब उसमें अवस्थित हुआ, स्थिर हुआ।

अहा! **परम संयमियों को–परम जिनयोगीश्वरों को....** देखो दूसरा विशेषण आया। टीका में भी है कि **परमसंयमिनां परमजिनयोगीश्वराणां;** अर्थात्, परम + जिनं + योग + ईश्वर तात्पर्य यह है कि जिसने अपने परमात्ममय निज स्वरूप में जुड़ान किया है, अपने वीतरागभाव में योग जोड़ दिया है, वह योगी है और जो उसके भी ईश्वर हैं, वे परम जिनयोगीश्वर हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि ने भी अपने परमात्मा में योग जोड़ा है परन्तु मुनि तो परम

जिनयोगीश्वर हैं – ऐसा कहते हैं। ऐसे मुनि को; अर्थात्, **सदैव निश्चय-व्यवहारात्मक सुन्दर चारित्रभर वहन करनेवालों को....** लो, निश्चय और व्यवहार यह दोनों साथ ही लिये हैं। निश्चय; अर्थात्, वस्तु में अवस्थित दशारूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और व्यवहार; अर्थात्, विकल्प – ऐसे निश्चय-व्यवहारस्वरूप सुन्दर चारित्र है, उसके अतिशयपनेरूप / समूहपनेरूप चारित्रभर को **बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग ही....** देखो; अब, **सव्वेसिं गंथाणं चागो** का अर्थ आया कि दस प्रकार का बाह्य और चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग – ऐसे समस्त चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग मुनि के होता है।

अहा! आत्मवस्तु तो परिग्रहरहित है ही; अब परिणाम में भी परिग्रह का त्याग हुआ है –ऐसा कहते हैं। ऐसा सर्व परिग्रह के परित्यागरूप परिणाम हैं, वह **परम्परा से पञ्चम गति के हेतुभूत ऐसा पाँचवाँ व्रत है।** देखो, व्रत को पञ्चम गति का परम्परा कारण कहा है।

देखो, चारित्रभर की व्याख्या फुटनोट में की है कि चारित्रभर, अर्थात् चारित्र का भार, चारित्र समूह, चारित्र की अतिशयता। यहाँ भार, अर्थात् बोझा – ऐसा अर्थ नहीं है किन्तु भार, अर्थात् समूह और चारित्र की अतिशयता, अर्थात् रमणता की विशेषता। तात्पर्य यह है कि स्वरूप में रमणता की विशेषता ही चारित्रभर है। जैसे, गाड़ी में 'भर' भरते हैं न! उसी प्रकार चारित्र का भर, अर्थात् शान्ति का भार, शान्ति का समूह; अपने स्वरूप में इतना स्थिर हो कि शान्ति का समूह प्रगट हो और उसके वहन करनेवाले के साथ शुभविकल्प होता है, उसे वास्तव में व्रत कहते हैं। लो, परम्परा से पञ्चम गति के हेतुभूत पाँचवाँ व्रत / अपरिग्रहमहाव्रत इसे कहते हैं।

प्रश्न – व्रत, बन्ध का कारणभूत है – ऐसा यहाँ नहीं कहा गया है परन्तु मोक्ष का कारण है, यहाँ तो ऐसा कहा है।

उत्तर – परन्तु इस व्रत को मोक्ष का कारण कहा है, वह तो व्यवहार से कहा है न! और उसका स्पष्टीकरण भी फुटनोट में किया गया है। व्रत को मोक्ष का परम्परा कारण कहा गया है, उसका अर्थ यह है कि व्रत में उतना अशुभभाव टलता है और फिर शुभभाव भी टलेगा, तब मोक्ष होगा। धर्मी जीव, दृष्टि, अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित है न! इसलिए उसे शुभभाव में, आंशिक अशुभभाव टल गया है, तत्पश्चात् क्रम-क्रम से शुभभाव भी टलेगा। देखो! इस बात

का स्पष्टीकरण फुटनोट में निम्न प्रकार किया गया है –

शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत, शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु है – ऐसा मानकर यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा है।

हेतु = निमित्त; उपचार से = व्यवहार से।

प्रश्न – बहुत मेहनत से ढूँढते–ढूँढते व्रत, मोक्ष का परम्परा कारण है – ऐसा शब्द आया है और आप कहते हो कि व्रत, मोक्ष का कारण नहीं है।

उत्तर – परन्तु राग कहीं मोक्ष का कारण होता है ? नहीं होता। यह तो वर्तमान शुभराग में अशुभराग का अभाव है और फिर शुभराग का भी अभाव करेगा; इस कारण शुभराग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है। राग तो विभाव / अधर्म है। क्या अधर्म, धर्म का कारण होता है ? नहीं। लोगों को कठिन लगे – ऐसी बात है। भाई ! यह शुभराग की मिठास तो जड़ की / अज्ञान की मिठास है। शुभराग का प्रेम मिटना; अर्थात्, उसकी मिठास मिटना बहुत कठिन बात है।

यहाँ यह कहते हैं कि पूर्ण भगवान आत्मा, शुभाशुभभाव / अज्ञानभावरहित ज्ञानस्वभाव से भरपूर तत्त्व है, स्वयं आत्मवस्तु भी ऐसी है; अतः उसका आश्रय लेकर प्रगट होनेवाली परिणति ही मुक्ति का कारण है।

वास्तव में तो शुभोपयोगी मुनि को मुनियोग्य शुद्धपरिणति हो (शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन करती है, इसलिए) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग का हेतु होती है और वह शुद्धोपयोग मोक्ष का हेतु होता है।

देखो, क्या कहते हैं ? कि शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग का हेतु होती है; अर्थात्, छठवें गुणस्थान में जो शुद्धपरिणति है, वह सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का हेतु होती है। भाई ! वस्तुस्थिति तो ऐसी है। यद्यपि यह भी अभी अपेक्षित कथन है। वस्तुतः तो शुद्धोपयोग प्रगट होने का मूल कारण द्रव्य का विशेष / उग्र आश्रय है; अर्थात्, छठवें गुणस्थान में द्रव्य का जितना आश्रय है, उसकी अपेक्षा सातवें गुणस्थान में विशेष आश्रय है और इस कारण सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग प्रगट होता है परन्तु व्यवहार से वर्णन करना हो तो छठवें गुणस्थान में तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति है, वह सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का

कारण है – ऐसा कहा जाता है। भाई! यह बात बहुत अद्भुत है।

यहाँ कहते हैं कि वास्तव में शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग का हेतु है परन्तु उस शुद्धपरिणति का आरोप शुभभाव में करके शुभभाव को शुद्धोपयोग का हेतु कहा गया है। दूसरे प्रकार से कहें तो छठवें गुणस्थान में कषायरहित शुद्धपरिणति है, वह सातवें गुणस्थान का हेतु है परन्तु उस शुद्धपरिणति को हेतु नहीं बताकर और उस शुद्धपरिणति का आरोप शुभभाव में करके शुभराग, शुद्धोपयोग का हेतु है – ऐसा आरोपित कथन किया है। वस्तुतः तो उस शुद्धपरिणति को शुद्धोपयोग का हेतु कहना भी उपचार है क्योंकि उस पर्याय का व्यय होकर, शुद्धोपयोग प्रगट होता है। अद्भुत बात है भाई! अहा! छठवें गुणस्थान की शुद्धपरिणति का व्यय होकर, सातवें गुणस्थान का शुद्धोपयोग / विशेष शुद्धि प्रगट होती है; इस कारण शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग का कारण है – यह कहना भी उपचार है। वस्तुतः तो शुद्धोपयोग का कारण त्रिकाली द्रव्य है परन्तु अब जब शुद्धोपयोग का कारण कौन? शुद्धपरिणति या शुभपरिणति? – ऐसी उन दो परिणतियों के बीच की बात करनी हो, तब इस प्रकार कहते हैं कि शुद्धपरिणति ही शुद्धोपयोग का कारण है।

अहा! स्वयं भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध है, उसकी शुद्धपरिणति जो कि निर्मल वीतरागी, निर्विकल्पदशा है, वह बाद के शुद्धोपयोग का कारण है क्योंकि पूर्व पर्याय, वह उपादानकारण और बाद की पर्याय वह कार्य – ऐसा आता है न! शुद्धपरिणति का व्यय होकर शुद्धोपयोग झ्र उत्पन्न होता है; इसलिए शुद्धपरिणतिरूप पर्याय, उपादानकारण है और तत्पश्चात् जो शुद्धोपयोग आता है, वह उपादेय है, अर्थात् उसका कार्य है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि –

पूर्वपरिणामयुक्तं कारणभावेन वर्तते द्रव्यं।
उत्तरपरिणामयुक्तं तत् च एव कार्यं भवेत् नियमात्।

देखो, अकेले परिणाम भी कारण नहीं हैं और अकेला द्रव्य भी कारण नहीं है परन्तु **पूर्वपरिणामयुक्तं कारणभावेन वर्तते द्रव्यं** – ऐसा कहा है; अर्थात्, द्रव्य और पर्याय दोनों को साथ लेकर कारण कहा है।

यहाँ कहा है कि छठवें गुणस्थान की शुद्धपरिणति, सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का

हेतु होती है और शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु होता है।

इस प्रकार इस शुद्धपरिणति में रहे हुए मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप, उसके साथ रहनेवाले शुभोपयोग में करके व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा जाता है।

देखो, शुद्धपरिणति में मोक्ष का परम्परा हेतु रहा हुआ है – ऐसा कहते हैं क्योंकि मोक्ष का कारण सीधा शुद्धोपयोग है और उस शुद्धोपयोग का कारण शुद्धपरिणति है; इसलिए शुद्धपरिणति, मोक्ष का परम्परा कारण भी है। क्या कहा ? कि छठवें गुणस्थान की शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग का कारण है और शुद्धोपयोग, मोक्ष का कारण है; इसलिए शुद्धपरिणति, मोक्ष का परम्परा कारण हुई और उस शुद्धपरिणति का, जो कि मोक्ष का परम्परा कारण है, उसका आरोप शुभोपयोग में आया है; अर्थात्, शुभोपयोग में मोक्ष के परम्परा कारण का मात्र आरोप आया है। वस्तुतः मोक्ष का यथार्थ परम्परा कारण तो शुद्धपरिणति है।

जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो, वहाँ वर्तते हुए शुभोपयोग में मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ मोक्ष का यथार्थ परम्परा हेतु प्रगट ही नहीं हुआ है, विद्यमान ही नहीं है, वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका किया जाए ?

अज्ञानी को शुद्धपरिणति नहीं है; इसलिए जिसे मोक्ष का यथार्थरूप परम्पराकारण कहते हैं, वह कारण भी नहीं है; अतः आरोप किसका करना ? – ऐसा कहते हैं।

(अब, इस गाथा की टीका में आधारभूत प्रस्तुत समयसार की 208 वीं गाथा में कहा है कि यदि परद्रव्य-परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त होऊँ। मैं तो ज्ञाता ही हूँ, इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है।)

मुनि को अन्तरङ्ग में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता है और बाह्य में वस्त्र-पात्रादि का परिग्रह अथवा उसका राग नहीं होता – ऐसा अपरिग्रहव्रत का शुभोपयोग / राग उनकी अन्तर शुद्धपरिणति के साथ होता है। सर्व परिग्रहरहित, ऐसा भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यद्रव्य है, वीतराग स्वभावी वस्तु है; अब उसका आश्रय लेकर जो वीतरागी शुद्धपरिणति प्रगट हुई, वह मुनिपने की निश्चयदशा है और उस भूमिका में बाह्य परिग्रह के त्याग का विकल्प / शुभराग उत्पन्न हो, उसे व्यवहारव्रत कहा जाता है; तथापि वह व्रत भी मेरा स्वरूप नहीं है –

ऐसा मुनि जानते हैं। देखो, यही बात अब कहते हैं। जरा सूक्ष्म बात है।

यहाँ परिग्रह की व्याख्या है न! इसलिए इस गाथा का आधार देते हैं।

परिग्रह = परि + ग्रह; अर्थात्, समस्त प्रकार से जिसमें स्वपना रहा है, वह। इस कारण भगवान आत्मा का परिग्रह अनन्त आनन्दादि हैं। ज्ञान, आनन्द आदि स्वरूप, वह आत्मा का परिग्रह है और ऐसा शुद्ध चैतन्य आनन्दघन वीतराग मूर्ति प्रभु आत्मा ही धर्मी का स्व है, धर्मी का परिग्रह है।

व्रत की बात पहले गाथा में (60 वीं गाथा में) आ गयी है। अब, यहाँ समयसार की गाथा का आधार लेते हैं कि यदि परद्रव्य-परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवपने को प्राप्त होऊँ। देखो! कैसा न्याय देते हैं? शुभाशुभ विकल्परूप रागादि भी यदि मेरे हों तो राग मेरे स्वभाव से भिन्न चीज है; इसलिए अचेतन होने से मैं अजीवपने को प्राप्त होऊँ, परन्तु धर्मी की दृष्टि में सम्यक्त्व से लेकर पूर्णता तक अकेला शुद्ध आनन्दधाम चैतन्य आत्मा ही होता है, वही उसकी दृष्टि का विषय है, वही उसकी वस्तु है; इस कारण उसे ऐसी दृष्टि होने से राग का परिग्रह नहीं होता।

मुनि को परिग्रहरहितपना होता है और अभी यहाँ मुनि की प्रधानता से व्याख्या है कि मुनि ऐसा विचारते हैं कि रागादि का कण अथवा बाह्य रजकण भी मेरा हो तो क्योंकि वे अजीव हैं, इसलिए मैं अजीव हो जाऊँ। यदि विकल्प से लेकर परद्रव्य, परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवपने को प्राप्त होऊँ। यहाँ अभी निर्मलपर्याय परद्रव्य है - यह बात नहीं लेना है परन्तु महाव्रत का शुभराग / विकल्प अचेतन है; आत्मा का स्वरूप नहीं है - ऐसा कहना है। महाव्रत तो राग है न? विकल्प है न? इसलिए अचेतन है। वह अचेतन है; अर्थात्, उसमें चेतनपना / ज्ञान और आनन्द का अंश भी नहीं है, उसमें चेतन्य की किरण का अंश भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि परद्रव्य / अचेतनरूप राग मेरा हो तो मैं अजीवपने को प्राप्त होऊँ, परन्तु मैं प्रभु भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्द की मूर्ति हूँ, अकेला ज्ञान और आनन्द का पिण्ड हूँ; इसलिए मुझमें महाव्रत के विकल्प का, जो कि वस्तुतः अचेतन है, उसका अभाव है। अहा! महाव्रत का विकल्प भी अचेतन है क्योंकि वह राग है और राग, वह अचेतन है। राग स्वयं

अपने को नहीं जानता और राग दूसरों के द्वारा ज्ञात होता है; इसलिए राग अचेतन है। यदि ऐसे राग को मैं अपना मानूँ तो मैं अजीव हो जाऊँ – ऐसा कहते हैं।

अहा! अचेतन विकल्प मेरा नहीं है – यह भान तो सम्यग्दर्शन हुआ, तब से ही है परन्तु यहाँ तो यह कहना है कि चारित्रवन्त कहता है कि विकल्प मेरा नहीं है, क्योंकि यह चारित्र की व्याख्या है न! तथा समयसार के निर्जरा अधिकार की प्रस्तुत गाथा में कहा है न! तो कहते हैं कि मैं तो ज्ञाता हूँ, विकल्पमात्र मेरा परिग्रह नहीं है। दया, दान, व्रत का राग भी मेरी वस्तु में नहीं है। यदि राग मेरी वस्तु हो तो मैं अचेतन हो जाऊँ। अब जहाँ राग भी अपना नहीं है, वहाँ शरीरादि परद्रव्य तो कहीं दूर रह गये। यह शरीर तो मिट्टी / धूल है और अजीवरूप होकर रहे हुए पुद्गल हैं; इसलिए ये मेरे हैं – यदि ऐसा तू मानता हो तो तू जड़ है – ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार राग के भाव को भी अपना माने तो तू अजीव है, तूने अपने जीवपने को नहीं माना है।

यहाँ कहते हैं कि मुनि यह जानते हैं कि मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है। मेरी वस्तु तो जानने-देखनेवाली है, मुझमें रागादि कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार आत्मा को अन्तर में अनुभव करना, उसमें स्थिरता करना ही मुक्ति का मार्ग है; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। ● *(- प्रवचन रत्न चिन्तामणि, हिन्दी, भाग-3, पृष्ठ 41-52)*

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण : पाँच समिति

1. ईर्यासमिति

(नियमसार, गाथा 61 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स॥ 61॥

अर्थात् जो श्रमण, प्रासुक मार्ग पर दिन में धुरा प्रमाण आगे देखकर चलता है, उसे **ईर्यासमिति** होती है।

अब, समिति की व्याख्या करते हैं। इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार की समिति की व्याख्या की जाएगी क्योंकि अकेली व्यवहारसमिति होती ही नहीं है। जिसे अन्दर में आनन्द की धारा अर्थात् शुद्धपरिणति होती है, उसे व्यवहारसमिति होती है। समिति = सम + इति अर्थात् संगठन /एकत्व होना। जिसको अनन्त गुणों के साथ एकत्व हुआ है, जिसे निर्मल निश्चयधारा बहती है, उसे व्यवहारसमिति का विकल्प होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के भानसहित मुनि को ईर्या आदि समिति होती हैं। अत: निश्चयसमितिसहित व्यवहारसमिति कैसी होती है ? – उसकी बात करते हैं।

यहाँ इस गाथा में ईर्यासमिति का स्वरूप कहा है।

व्यवहार ईर्यासमिति किसे कहना – वह यहाँ कहते हैं। देखो, यहाँ इस भाषा का प्रयोग

किया है कि **परम संयमी** – इसका अर्थ टिप्पणी में इस प्रकार किया है – परम संयमी मुनि को शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ, ईर्या सम्बन्धी शुभोपयोग, व्यवहार ईर्यासमिति है। शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहारसमिति भी नहीं कहलाता।

मुनिराज को उनके योग्य तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागधारा / शुद्धधारा तो बहती ही है, तदुपरान्त उसके साथ देखकर चलने का हठरहित सहज शुभविकल्प / शुभराग / शुभोपयोग भी होता है, वह व्यवहारसमिति है परन्तु यदि वह शुभराग, शुद्धपरिणति के साथ हो तो उसे व्यवहारसमिति कहा जाता है किन्तु जहाँ शुद्धपरिणति ही प्रगट नहीं है अर्थात् जहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति, आनन्द आदि प्रगट नहीं हुए हैं, वहाँ तो व्यवहारसमिति भी नहीं है। जहाँ अन्दर आत्मा के आनन्द की धारा प्रगट नहीं हुई हो, वहाँ ईर्यासमिति आदि का शुभभाव हठसहित होता है, इस कारण उसे व्यवहारसमिति भी नहीं कहा जाता।

निश्चय के बिना व्यवहार कैसा ? इसलिए जहाँ अन्दर परिणति / पर्याय / अवस्था में आत्मा की आनन्दधारा बहती है, उस भूमिका में होनेवाले शुभोपयोग के विकल्प को व्यवहारसमिति कहते हैं परन्तु जहाँ अन्दर में आनन्द धारा नहीं है अर्थात् आत्मा की प्रतीति, ज्ञान, अनुभव और स्थिरता नहीं है, वहाँ अज्ञानी के हठयुक्त शुभोपयोग / शुभभाव को व्यवहारसमिति भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार भाषा, एषणा आदि सभी समितियों में समझ लेना चाहिए। अहा! पूर्ण आनन्दधाम भगवान आत्मा जिसके वेदन में आया है, जिसे शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, जिसे प्रचुर स्व-संवेदन प्रगट हुआ है, उसे व्यवहारसमिति होती है।

'समयसार' की पाँचवीं गाथा में आता है कि मुनि को प्रचुर स्व-संवेदन होता है। चौथे गुणस्थानवाले को प्रचुर स्व-संवेदन नहीं है; अल्प है, जबकि मुनि को तो प्रचुर स्व - संवेदन होता है। मुनि को आनन्द के वेदन के साथ ज्ञान का वेदन भी होता है और उन परम संयमी को उत्पन्न होनेवाले शुभविकल्प को व्यवहारसमिति कहा जाता है।

जो परम संयमी, गुरुयात्रा अर्थात् गुरु के पास जाना, देवयात्रा देव के पास जाना आदि प्रशस्त प्रयोजन का उद्देश्य रखकर एक धुरा अर्थात् चार हाथ प्रमाण मार्ग देखते-देखते स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों की परिरक्षा अर्थात् समस्त प्रकार से रक्षा

के हेतु दिन में ही चलता है, उस परम श्रमण को ईर्यासमिति होती है। इस प्रकार व्यवहारसमिति का स्वरूप कहा गया।

मुनि को भी गुरु के पास जाने का विकल्प आता है क्योंकि पूर्ण वीतरागता नहीं है, इस कारण उन्हें ऐसा भाव आता है। तदुपरान्त देवयात्रा अर्थात् जहाँ भगवान समवसरण में विराजमान हो, वहाँ जाने का भाव अथवा यात्रा आदि पर जाने का विकल्प भी उनको आता है।

प्रश्न – मुनि का एक गाँव से दूसरे में गाँव जाना क्या है?

उत्तर – वहाँ भी ईर्यासमिति है परन्तु यहाँ तो मुख्यरूप से देवयात्रा और गुरुयात्रा — इन दोनों को लिया है; अन्य सब गौण हैं। अहा! मुनिराज के मुख्य तो गुरुयात्रा और देवयात्रा होती है परन्तु एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की मुख्यता नहीं होती।

गुरु और देव के पास जाने की मुख्यता लेकर, फिर 'इत्यादि' कहकर अन्य बातें ले ली हैं। इस प्रकार पहले गुरुयात्रा और देवयात्रा – यह दो प्रकार रखकर, फिर 'इत्यादि' कहने से उसमें सभी प्रकार आ गये हैं। गुरुयात्रा और देवयात्रा कहने से, गुरु और देव के पास विनय से जाना और 'इत्यादि' कहने से आहार लेने जाना हो अथवा दूसरे किसी प्रकार से जाना हो – उसकी बात है। अहा! एक–एक शब्द में पूरा भाव भरा हुआ है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि गुरुयात्रा, देवयात्रा इत्यादि प्रशस्त प्रयोजन का उद्देश्य रखकर अर्थात् गमन में शुभराग का, प्रशस्त हेतु होना चाहिए परन्तु किसी मान अथवा अन्य हेतु से मुनि को गमन नहीं होता और 'स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों की परिरक्षा के लिए' — ऐसा कहा है, वह भी व्यवहार कथन है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि दूसरों को दुःख न हो, इसलिए आत्मज्ञानी–ध्यानी और शुद्धपरिणतिवाले मुनि शुभविकल्प के काल में दिन में ही गमन करते हैं परन्तु दूर जाना है; इसलिए एकदम सवेरे अँधेरे में शीघ्र नहीं चलते, वह मुनि की क्रिया नहीं है।

यद्यपि मूल गाथा में तो इस व्यवहारसमिति की ही व्याख्या है परन्तु उसमें से टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव ने निश्चयसमिति की बात भी निकाली है। उसका कारण यह है कि जिसे निश्चयसमिति होती है, उसे ही व्यवहारसमिति होती है।

अब, निश्चयसमिति का स्वरूप कहा जाता है - अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी मार्ग पर परम धर्मीस्वरूप अपने आत्मा के प्रति सम्यक् 'इति' अर्थात् परिणति होना, वह समिति है।

अभेद = भेद नहीं, बल्कि एकरूप; अनुपचार = निश्चय या यथार्थ; रत्नत्रय = सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् पूर्ण स्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें रमणता। निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक् स्थिरता — यह अभेद अनुपचार रत्नत्रयरूपी मार्ग है। ऐसे पर्यायरूप रत्नत्रय मार्ग से अर्थात् उस परिणति में विद्यमान परम धर्मी, निज आत्मा के प्रति सम्यक्गति / शुद्धपरिणति / शुद्धपरिणमन को निश्चयसमिति कहते हैं।

अहा! व्यवहार ईर्यासमितिवाले तो बाहर में देखकर चलते हैं, जबकि निश्चय ईर्यासमितिवाले आत्मा में देखकर, उसमें स्थिर होते हैं। आत्मा पूर्ण चिदानन्दस्वरूप है — ऐसे अपने स्वरूप को देखकर उसमें स्थिर होना, निश्चय ईर्यासमिति है। जो पूर्णानन्द स्वरूप भगवान आत्मा को देख-जानकर तथा प्रतीति में लेकर, उसमें समिति / सम्यक् प्रकार से गति-स्थिरता करता है, उसे ऐसी निश्चयसमिति होती है और यही वास्तविक धर्मरूप समिति है। इस भूमिका में उत्पन्न होनेवाला गमन सम्बन्धी विकल्प, व्यवहारसमिति है। इस प्रकार यहाँ कहा है कि अपने आत्मा के प्रति सम्यक्ईति / परिणति, वह यथार्थ समिति है।

अहा! शुद्धद्रव्य को ध्येय बनाकर, पर्याय में शुद्धपरिणतिरूप होने को निश्चयसमिति कहा जाता है, जो संवर-निर्जरा स्वरूप है। जबकि व्यवहारसमिति का शुभराग, पुण्य / आस्रवस्वरूप है। इस प्रकार निश्चयसमिति आत्मा के शुद्ध आनन्दस्वरूप के परिणमनरूप है अर्थात् शुद्ध आनन्दस्वरूप के प्रति ईति / गति / परिणति / परिणमन, वह निश्चय-समिति है और वह मोक्ष के निश्चय मार्गरूप है।

इस प्रकार यहाँ निश्चयसमिति को मोक्षमार्ग कहते हैं। देखो! मूल गाथा में व्यवहारसमिति की बात की थी परन्तु टीका में उसके साथ निश्चयसमिति की बात भी की है क्योंकि निश्चय होने पर ही व्यवहार होता है - यह बतलाना है। आशय यह है कि निश्चय-व्यवहार दोनों साथ

होते हैं परन्तु अकेला व्यवहार नहीं होता – यह बतलाना है तथा जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक निश्चय के साथ ऐसा विकल्प होता है – यह भी बतलाना है।

अथवा, निज परम तत्त्व में लीन सहज परम ज्ञानादिक परम धर्मों की संहति अर्थात् मिलन होना, वह समिति है।

ज्ञानादि अनन्त गुणमय वस्तु में एकाकार होकर, गुणों के साथ मिलन होने को समिति कहा जाता है। गुण की पर्याय का, गुण के साथ मिलन कर देना, वह समिति है। पर्याय का राग के साथ मिलन होने पर खण्ड-खण्डपना होता है। अब, उस पर्याय को सहज परम ज्ञानादिक अनन्त गुणों के साथ मिला देना, वह समिति है। अनन्त गुणों में अन्तर एकाग्र होना समिति कहा जाता है। अरे! अभी तो यह मूल निश्चयसमितिरूप 'वर' या दूल्हा नहीं है और अज्ञानी ने व्यवहारसमितिरूप 'बारात' खड़ी कर दी है, परन्तु 'वर' नहीं है तो बारात कैसी? 'वर' के बिना बारात कैसी है? 'वर' के बिना बारात कहना किसे? इसी प्रकार जिसे निश्चयसमिति न हो, उसे व्यवहारसमिति कैसी?

अहा! जिसे आत्मा के अन्तरस्वरूप का भान और स्थिरतारूप परिणमन हो, उसे गमनादि का विकल्प हो तो उस विकल्प को व्यवहारसमिति कहा जाता है परन्तु उस व्यवहारसमिति से मोक्ष नहीं होता। जैसे, विवाह के समय वर की शोभायात्रा के समय वर के साथ छोटे बालक को भी घोड़े पर बिठाते हैं परन्तु उसके साथ कन्या का विवाह नहीं होता; इसी प्रकार व्यवहारसमिति तो छोटे बालक के समान है, उसके साथ मोक्षरूपी कन्या का विवाह नहीं होता। वह व्यवहारसमितिरूप पुण्य/राग/विकल्प तो बन्ध का कारण है, जबकि स्वभाव के आश्रय से हुए निश्चयसमिति के अबन्ध परिणाम अर्थात् वीतरागी सम्यग्दर्शन, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी स्थिरता, मोक्ष का कारण है।

अहा! निश्चयसमिति अर्थात् शुद्ध पूर्णानन्द अभेद अनुपचार वस्तु की परिणति की यहाँ बात है। ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, आनन्दभावरूप अभेद अनुपचार त्रिकाली वस्तु है, उसके अवलम्बन से होनेवाले अन्तर के निर्मल, निर्विकल्प, अभेद, अनुपचार मार्ग में अपने आत्मा की गति / परिणति होना, वह समिति है। समिति का अर्थ सम्यक्गति / चलना है न? तो अन्दर आत्मा में गति करना, शुद्ध वीतरागी परिणति करना, वह निश्चयसमिति है। अथवा

निज परम तत्त्व ऐसे सामान्य-एकरूप-अभेद ध्रुव में लीन अनन्त गुण या धर्म हैं परन्तु अब, पर्याय का अनन्त गुणों के साथ मिलन होना, वह समिति है।

दूसरे प्रकार से कहें तो, अनन्त गुणों के साथ निर्मल पर्याय का एकत्व होना समिति कहा जाता है। लो, यह समिति की व्याख्या! यह निश्चयसमिति एक ही है, इसके भेद नहीं हैं क्योंकि निश्चय से पाँचों समिति का ऐसा ही स्वरूप है।

अब, कहते हैं - **निज परमतत्त्व में लीन...**

प्रश्न - 'निज परमतत्त्व' किसे कहना ?

उत्तर - त्रिकाली तत्त्व को निज परमतत्त्व कहना है। यह परमतत्त्व त्रिकाली, अविनाशी, ध्रुव है; जबकि संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि सभी नौ पर्यायें नाशवान हैं। शुद्धभाव अधिकार में यह बात आयी है कि पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप पर्याय नाशवान हैं। लो, केवलज्ञान की पर्याय भी नाशवान है - ऐसा कहते हैं क्योंकि वह एक समय रहती है; वह कहीं ध्रुव नहीं है। पहले समय का केवलज्ञान व्यय होकर, दूसरे समय दूसरा होता है। इस प्रकार केवलज्ञानादि नौ पर्यायें (तत्त्व) नाशवान हैं।

देखो, इसी ग्रन्थ की **38 वीं गाथा के 54 वें कलश में** कहा है कि **'सर्व तत्त्वों में जो एक सार है।'** तात्पर्य यह है कि यहाँ जिसे निज परमतत्त्व कहा है, वह एक ही समस्त तत्त्वों में सार है तथा **'जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है'** अर्थात् समस्त पर्यायें नाशवान हैं और ध्रुव आत्मा उनसे दूर है। अरे! भगवान आत्मा एक समय की केवलज्ञान पर्याय से भी दूर है। इसके पूर्व 38 वीं गाथा की टीका में भी कहा है - **'जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है।'** आशय यह है कि संवर, निर्जरा, मोक्षादि समस्त पर्यायें परद्रव्य हैं।

प्रश्न - क्या मोक्ष भी परद्रव्य.... ?

उत्तर - हाँ, वह भी परद्रव्य है; त्रिकाली स्वद्रव्य की अपेक्षा वह परद्रव्य है - ऐसी बात है। **यद्यपि पर की अपेक्षा से तो वह अपनी पर्याय है परन्तु त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से वह एक समय की पर्याय, परद्रव्य है।** इसी बात का स्पष्टीकरण 50 वीं गाथा में भी किया है न! **'पर्याय, परद्रव्य-परभाव होने से हेय है'** - ऐसा वहाँ कहा है।

प्रश्न – **मोक्ष भी हेय... ?**

उत्तर – हाँ, मोक्ष हेय है; उपादेय तो त्रिकाली निजतत्त्व है। अभी पञ्चम काल में मोक्ष तो है नहीं, संवर–निर्जरा होते हैं तो भी वे हेय कैसे हैं ? क्योंकि –

● संवर–निर्जरा आश्रय करने योग्य नहीं हैं और यदि उस पर्याय का आश्रय किया जाए तो विकल्प उत्पन्न होते हैं।

● उस पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती।

इसलिए पर्याय को परद्रव्य कहकर, त्रिकाली स्वद्रव्य का आश्रय करने के लिए कहा जाता है। इस त्रिकाली स्वद्रव्य के आश्रय से नवीन शुद्धपर्याय प्रगट होती है। सूक्ष्म बात है ! अहा ! यहाँ तो मुद्दे की रकम अर्थात् ध्रुव आत्मा की बात है। जो उस ध्रुव को ध्येय बनाता है, उसे ध्रुव उपादेय है; पर्याय नहीं। अरे ! भले ही संवर–निर्जरा की पर्याय हो तो भी वह उपादेय नहीं है। अरे रे ! अभी तो लोक में मुद्दे की रकम पड़ी रह गयी है और ऊपरी / ब्याज की बातें चलती हैं। अज्ञानी को पूँजी अर्थात् पूर्णानन्दस्वरूप अखण्ड ध्रुवद्रव्य / आत्मा, दृष्टि में नहीं है और ब्याज अर्थात् शुभभाव में ही वह रुक गया है।

यहाँ कहते हैं कि परम ज्ञानादिक परम धर्म है क्योंकि आत्मा ने उन्हें धारण कर रखा है। वस्तु में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि ऐसे–ऐसे अनन्त धर्म हैं। उन धर्मों की संहति होना / उनके साथ मिलन होना / उनमें एकत्व होना, वह निश्चयसमिति है। गुण की पर्याय का राग के साथ एकत्व होने से खण्ड–खण्डपना होता है। अब, उस पर्याय का अन्दर अनन्त गुणों में एकत्व होना अर्थात् स्व–सन्मुख होकर उस पर्याय को अनन्त गुणों से एकत्व करना, वह समिति है। गुण की पर्याय पुण्य / राग में एकत्व होने से स्व से भिन्न रहती थी, अब वह गुणों में एकत्व होने से स्व से अभिन्न हुई।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहाररूप समिति का भेद जानकर, उनमें परम निश्चयसमिति को भव्य जीव प्राप्त करो।

यहाँ कहा है कि समिति के निश्चय और व्यवहाररूप भेदों को जानकर... तात्पर्य यह है कि उसके निश्चय और व्यवहार के भेदों को भलीभाँति जानना चाहिए कि ऐसा उनका स्वरूप है। तत्पश्चात, उनमें से परम निश्चयसमिति को प्राप्त करो – ऐसा उपदेश है। भले ही

व्यवहारसमिति बीच में (भूमिकानुसार) आती है तथापि प्राप्त तो निश्चयसमिति को करो – ऐसा उपदेश है।

यह नियमसार अर्थात् पूर्णानन्दस्वरूप वस्तु त्रिकाली प्रभु भगवान आत्मा है, उसके अन्तर सन्मुख होकर, उसे जानकर और उसकी प्रतीति करके उसमें स्थिरता करना। यदि नियम से करने योग्य कोई कर्तव्य हो तो वह यही है तथा यही सुकृत है। इसी गाथा के 82 वें कलश में 'सुकृत' शब्द है। वहाँ कहा है कि इस सुकृतरूपी धान्य की राशि को / ढेर को अर्थात् आनन्द, शान्ति, ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणों की निर्मल परिणति को सन्तोष देनेवाली मेघमाला के समान यह ईर्यासमिति है।

देखकर चलने को यथार्थ ईर्यासमिति कहते हैं अर्थात् सामान्य अखण्ड अभेदरूप वस्तु, त्रिकाली ध्रुव चैतन्य चमत्कार है, उसे स्वीकार करके अर्थात् देखकर और श्रद्धा करके, उसमें परिणमन करने को भगवान ईर्यासमिति कहते हैं।

भगवान आत्मा एक सैकण्ड के असंख्यातवें भाग में भी पूर्ण ध्रुव है। अनन्त-अनन्त पर्यायों का एकरूप पिण्ड एक-एक गुण है और ऐसे अनन्त गुणों का एकरूप ध्रुव चैतन्य चमत्कार भगवान आत्मा है, उसे जानना, स्वीकार करना और उसमें स्थिर होना – इसका नाम यथार्थ **ईर्यासमिति** है। अरे! गजब बात है! लोगों को परम सत्य क्या है ? – यह बात चित्त में बैठना कठिन पड़ता है। अकेली व्यवहार की ही बातें वे जानते हैं, इसलिए यहाँ निश्चयसमिति की बात चलती है। अहा! व्यवहार ईर्यासमिति का राग / विकल्प बन्ध का कारण है लेकिन वस्तु तो बन्धस्वरूप नहीं है; वस्तु तो अबन्धस्वरूप है। देखो तो! कैसी शैली है ?

अनन्त-अनन्त गुणों के पिण्ड प्रभु आत्मा की परिणति में अनन्त गुणों की निर्मलदशा प्रगट हुई, मानों उस पर्याय में धान्य की राशि ही पकी है – ऐसा कहते हैं। यह ईर्यासमिति उस निर्मल दशारूपी धान्य के पाक का पोषण करनेवाली मेघमाला है। देखो तो सही! कैसी उपमा दी है!! जैसे, खेत में धान्य उगा हो और वर्षा की / मेघ की धारा पड़े, तो वह धान्य को पुष्टिदाता है; वैसे ही अन्दर में देखकर परिणमन करनेरूप ईर्यासमिति, अनन्त गुणों की परिणति को सन्तोष देनेवाली है। अहो! मुनिराज को कथन करने के लिए शब्द कम पड़ते हैं। अरे! अभी तो ऐसी बात कान में पड़ना भी कठिन है। ●

(- प्रवचन-रत्न-चिन्तामणि, भाग-3 (गुजराती) पृष्ठ 62-68, 72-73 व 81 से साभार)

2. भाषासमिति

(नियमसार, गाथा 62 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स॥ 62॥

गाथार्थ : पैशून्य (चुगली), हास्य, कर्कश भाषा, परनिन्दा और आत्मप्रशंसारूप वचन परित्यागी को जो स्वपरहितरूप वचन बोलता है, उसे भाषासमिति होती है।

यहाँ भाषासमिति का स्वरूप कहा है।

यह दूसरी भाषासमिति की व्याख्या है। व्यवहार भाषासमिति की; अर्थात्, जो बोलने का विकल्प उत्पन्न होता है, यह उसकी बात है। व्यवहार भाषासमिति, अर्थात् शुभभाव /विकल्प।

चुगलखोर मनुष्य के मुँह से निकले हुए और राजा के कान तक पहुँचे हुए, किसी एक पुरुष, किसी एक कुटुम्ब अथवा किसी एक ग्राम को महा विपत्ति के कारणभूत ऐसे वचन, वह पैशून्य हैं।

किसी एक पुरुष के, किसी एक परिवार के अथवा किसी एक गाँव के विरुद्ध, राजा अथवा किसी अन्य के पास जाकर चुगली करना, वह पैशून्य है और उसे छोड़कर बोलना, वह भाषासमिति है – यह कहना है। आत्मज्ञानी-ध्यानी धर्मात्मा मुनि को व्यवहार भाषासमिति में ऐसी भाषा नहीं होती कि यदि हमारा अनादर करोगे तो तुम्हारा सत्यानाश हो जाएगा – ऐसी वाणी नहीं होती।

कहीं कभी किन्हीं परजनों के विकृतरूप को देखकर अथवा सुनकर हास्य नामक नोकषाय से उत्पन्न होनेवाला, किञ्चित् शुभ के साथ मिश्रित होने पर भी अशुभकर्म का कारण, पुरुष के मुँह के विकार के साथ सम्बन्धवाला, वह हास्यकर्म है।

कभी / किसी समय; दूसरों का सहजरूप हो, उसमें सहज फेरफार देखकर; अर्थात्, किसी पुरुष ने घोड़े का, हाथी का अथवा स्त्री आदि का रूप धारण किया हो अथवा किसी स्त्री ने पुरुष इत्यादि का रूप धारण किया हो तो उसे देखकर अथवा सुनकर हास्य होता है। ऐसे हास्य को मुनिराज छोड़ देते हैं। 'अहो! तुम तो ऐसे हो' – ऐसा कहकर लोग दूसरों की मज़ाक करते हैं न! परन्तु मुनिराज ऐसी मज़ाक नहीं करते। उन्हें ऐसी भाषा ही नहीं होती। उन्हें तो विचार कर बोली जानेवाली स्व-पर के हितवाली भाषा होती है – ऐसा यहाँ कहते हैं। इस प्रकार मुनिराज, पैशून्य और मज़ाक नहीं करते; अर्थात्, किसी मनुष्य को, किसी परिवार को अथवा किसी गाँव को हानि पहुँचे – ऐसा नहीं बोलते और हास्य भी नहीं करते।

प्रश्न – मुनिराज कहाँ राजा के पास चुगली करने जाते हैं कि जिससे यहाँ इन्कार करते हैं?

उत्तर – यहाँ राजा के पास जाने की बात नहीं है; अर्थात्, मुनिराज राजा के पास चुगली करने जाते हैं और उनकी यहाँ ना करते हैं – यह बात नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि पैशून्य वचन ही नहीं बोलना – यह कहते हैं; वरना मुनिराज, राजा के पास अथवा अन्यत्र कहीं चुगली करने जाते ही नहीं, क्योंकि उसका निषेध ही है। यहाँ मुनि से कहते हैं कि दूसरों को, अर्थात् किसी पुरुष को, किसी परिवार को अथवा किसी गाँव को हानि हो – वैसा नहीं बोलना तथा हास्य / मज़ाक हो – ऐसा नहीं बोलना। यद्यपि मुनिराज, चुगली करने जाएँ अथवा हास्य करें – यह प्रश्न ही यहाँ नहीं है। यहाँ तो धर्मात्मा मुनिराज, पैशून्य वचन नहीं बोलते और हास्य नहीं करते – ऐसी बात है। साथ ही पैशून्य और हास्य की व्याख्या करते हैं कि पैशून्य और हास्य किसे कहना? यहाँ एक सामान्य कथन है और यह बात सबके, अर्थात् श्रावकादि के लिये भी है।

इसीलिए कहा है कि धर्मात्मा मुनिराज को भाषासमिति में पैशून्य और हास्य /

मज़ाकवाले वचन नहीं हो सकते – ऐसे वचन मुनिराज बोलते ही नहीं। जिसे निश्चयसमिति हो, उसे ही ऐसी व्यवहारसमिति होती है और यहाँ उस व्यवहारसमिति का वर्णन करते हैं।

कर्ण छिद्र के निकट पहुँचनेमात्र से जो दूसरों को अप्रीति उत्पन्न करते हैं, वे कर्कश वचन हैं।

धर्मी–धर्मात्मा मुनि, कर्कश वचन भी नहीं बोलते हैं। यहाँ भाषा बोलने की बात नहीं है क्योंकि आत्मा कहीं भाषा नहीं बोल सकता है, भाषा तो भाषा के कारण निकलती है परन्तु बोलने के भाव में कर्कश वचन बोलने का भाव / विकल्प मुनिराज को नहीं होता है – ऐसा यहाँ कहना है।

दूसरे के विद्यमान–अविद्यमान दूषणपूर्वक के वचन (अर्थात्, पर के सच्चे तथा झूठे दोष कहनेवाले वचन), वह परनिन्दा है।

दूसरों में होनेवाले तथा नहीं होनेवाले अवगुणों को कहनेवाले वचन, वह परनिन्दा है और मुनि को ऐसे वचन बोलने का भाव नहीं होता है।

अपने विद्यमान–अविद्यमान गुणों की स्तुति, वह आत्मप्रशंसा है।

अपने विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणों की स्तुति, वह आत्मप्रशंसा है और ऐसी वाणी मुनिराज नहीं बोलते हैं।

प्रश्न – ऐसी वाणी मुनिराज नहीं बोलते हैं परन्तु श्रावक तो बोलते हैं न?

उत्तर – श्रावक भी ऐसी वाणी नहीं बोलते हैं।

यह सब अप्रशस्त वचनों के परित्यागपूर्वक स्व तथा पर को शुभ और शुद्ध परिणति के कारणभूत वचन, वह भाषासमिति है।

यहाँ भाषा देखो! दोनों; अर्थात्, व्यवहार की / शुभपरिणति की और निश्चय की अर्थात्, शुद्धपरिणति की बात की है। मुनि को ऐसी भाषासमिति होती है कि जो स्वयं को भी शुभ और शुद्धपरिणति में कारणभूत होती है तथा दूसरों को भी शुभ और शुद्धपरिणति में कारणभूत होती है। भले ही शुभ और शुद्धपरिणति करता तो वह जीव स्वयं है, तथापि उसे शुद्धपरिणति होती है तथा शुभभाव होते हैं – ऐसी भाषा / वचन मुनि को होते हैं। बहुत सूक्ष्म बात की है!

अहा ! भाषासमिति का निश्चय स्वरूप तो यह है कि परमसत्यस्वरूप भगवान आत्मा में एकत्व होना। निश्चयभाषासमिति तो उसे कहते हैं कि अपनी आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुणों की संख्या है, उन सभी अनन्त गुणों की वर्तमान पर्याय, अपने परम ज्ञानादि अनन्त गुणों के साथ एकत्व हो – मिलन को प्राप्त हो। आत्मा का सत् स्वरूप है, उस सत् स्वरूप आत्मवस्तु में तीन काल के समयों से भी अनन्तगुने अधिक ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि अनन्त गुण हैं – ऐसे अनन्तानन्त गुणों में एकाग्र होना, निश्चय / सत्य भाषासमिति है।

दूसरे प्रकार से कहें तो अनन्त गुण सत्‌रूप है, उनके सत्‌पने में उनकी पर्याय की एकता होना; अर्थात्, एक समय की पर्याय का अनन्त गुणों के साथ एकत्व हो, वह परम सत्य भाषासमिति है। ऐसी निश्चय भाषासमितिवाले को, सत्य बोलने का जो शुभभाव होता है, उसे व्यवहार भाषासमिति कहते हैं। भाई ! तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है ! ऐसी बात है ! अरे, वस्तुस्थिति ही ऐसी हे। भाई ! वीतराग तत्त्व ऐसा है कि लोगों को उसका ख्याल आना कठिन पड़ता है – ऐसा यह तत्त्व है।

देखो न ! क्या कहते हैं ? कि जो विकल्प है, वह तो स्वयं अपने को नहीं जानता तथा पर को भी नहीं जानता; वह पर; अर्थात्, आत्मा के द्वारा जाना जाता है; इसलिए ऐसे विकल्प के द्वारा निजस्वरूप में एकाग्रता नहीं हो सकती, किन्तु आत्मा की एक समय की ज्ञान की पर्याय के द्वारा, चाहे तो वह पर्याय एक समय की सम्यक्‌मतिज्ञान की हो या श्रुतज्ञान की हो, उसके द्वारा निजस्वरूप में एकाग्रता होती है। अहा ! ऐसी एक समय की सम्यक्‌मति या श्रुत की पर्याय जैसी ही अन्य गुणों की अनन्त पर्यायें, वर्तमान एक समय में आत्मा में होती है; अर्थात्, एक समय की सम्यक्‌मति अथवा श्रुत की पर्याय से संख्या अपेक्षा अनन्तगुनी अपने अनन्त गुणों की वर्तमान पर्यायें होती है, तो भी एक समय की ज्ञान पर्याय, उससे संख्या अपेक्षा अनन्तगुनी अन्य अनन्त गुणों की पर्यायों को जानती है तथा अनन्त गुणों में एकाग्र होकर गुणों को भी जानती है। सूक्ष्म बात है भाई ! वीतराग मार्ग ही ऐसा सूक्ष्म है। अरे ! लोगों ने इसे स्थूल करके माना है परन्तु वह उस स्वरूप नहीं है।

अहा ! यह निश्चय / सत्य भाषासमिति की बात है न ! तो कहते हैं जिसका एक समय का सत्यपना है – ऐसी मति-श्रुतज्ञानपर्याय की, तीन काल के समयों से अनन्तगुने अनन्तानन्त

गुणों के साथ एकता होने पर वीतरागता होती है, उसे भाषा की निश्चय / सत्य समिति कहा जाता है।

अहो! द्रव्य को और उसके तीन काल के समयों से अनन्तगुने अनन्तानन्त गुणों को, एक समय की ज्ञानपर्याय, उन अनन्त गुणों में एकत्व होकर जाने तो उस एक समय की ज्ञानपर्याय का सत्पना कितना विशाल! सत्रूप भगवान आत्मा में तीन काल के समयों से अनन्तगुने अनन्तानन्त गुण सत्रूप हैं। ऐसे अनन्तानन्त गुणों को एक समय की पर्याय जानती है। अहा! यह गज़ब बात है! तो उस एक समय की पर्याय को, जो कि तीन काल के समय से अनन्तगुने – ऐसे अनन्त गुणों में एकत्व होता है, उसे सत्य भाषासमिति कहा जाता है। सूक्ष्म मार्ग है!

कहते हैं कि अपने अनन्तानन्त गुण सत्रूप हैं, उनका स्वीकार विकल्प द्वारा नहीं हो सकता है। अरे! शुभरागरूप विकल्प हो तो भी उसमें जानने की सामर्थ्य नहीं है; जानने की सामर्थ्य तो ज्ञान की पर्याय में है। यह ज्ञान की एक पर्याय इतने विशाल सत् का स्वीकार करके / जानकर, अपने अनन्त गुणों में एकत्व को प्राप्त करे तथा इसी प्रकार समस्त अनन्त गुणों की एक समय की प्रत्येक पर्याय भी उन अनन्त गुणों में एकत्व को प्राप्त करे, उसे सत्य भाषासमिति कहते हैं और उसके; अर्थात्, ऐसी भाषासमितिवाले मुनिराज के वचन, शुभ और शुद्धपरिणति के कारणभूत होते हैं – ऐसा कहते हैं। देखो, शुभ और शुद्धपरिणति के कारणभूत होते हैं – ऐसा व्यवहार मुनि को होता है; अर्थात्, मुनि को विकल्प भी ऐसा होता है – यह कहते हैं। यहाँ अशुभभाव की बात नहीं है क्योंकि निश्चय / शुद्ध और व्यवहार / शुभपरिणति बतलाना है न!

अहा! कहते हैं कि अनन्तानन्त गुण के सत्पने में एकत्व होकर सत् की परिणतिरूप / निश्चय शुद्धपरिणतिरूप परिणमित होना, निश्चय भाषासमिति है और विकल्प के काल में कर्कशादि वचन नहीं बोलने का शुभविकल्प होता है, वह व्यवहार भाषासमिति है किन्तु जिसे ऐसी निश्चयसमिति हो, उसे ही यह व्यवहारसमिति होती है, वरना इस निश्चयसमिति के भान बिना अकेले व्यवहार–विकल्प को तो व्यवहार ही नहीं कहते।

देखो, स्वयं मुनिराज ने पहले अर्थ किया था न? भाई! यह बात पहले आ गयी है न? कि 'सहज परमज्ञानादिक परमधर्मों की संहति, अर्थात् मिलन / संगठन, वह समिति है।'

(गाथा 61 की टीका) उसमें यह कहना चाहते हैं कि पाँचों समितियों का निश्चयस्वरूप तो इस प्रकार है कि जो राग में एकत्व था, उससे अपने गुणों के साथ का संगठन टूटता था; अब गुणों में एकत्व होकर गुणों के साथ संगठन किया, वह समिति है। वर्तमान एक समय की एक पर्याय ने अथवा अनन्त पर्यायों ने परम सत्स्वरूप अनन्त गुणों के साथ एकत्व / संगठन किया, उसका नाम निश्चयसमिति है। अरे! इस निश्चयसमिति का पता भी न हो और मात्र भाषा बोलकर, अज्ञानी जीव मान लेता है कि हम समिति का पालन करते हैं और वह हमारा संवर है परन्तु उसे धूल में भी संवर अथवा समिति नहीं है।

देखो, 'स्व तथा पर को शुभ और शुद्धपरिणति के कारणभूत' – ऐसी दो बात की है न? अर्थात्, अपने को (समितिवाले को) भी शुद्धपरिणति और शुभविकल्प होता है तथा दूसरे को भी शुद्धपरिणतिसहित शुभविकल्प होता है – ऐसा वचन, समितिवाले को होता है। यद्यपि वह वचन तो जड़ है; अतः वह कहीं समिति नहीं है परन्तु मुनिराज की परिणति के शुभभाव को तथा शुद्धभाव को समिति कहा जाता है। कारणभूत, अर्थात् निमित्तभूत।

अब, टीकाकार द्वारा उद्धृत आधारभूत श्लोक का आशय यह है –

जिन्होंने सब (वस्तुस्वरूप) जान लिया है....

जिसने अपनी ज्ञानपर्याय में यह सब जान लिया है, जिसके ज्ञान में इस प्रकार सब जानने में आ गया है। अहा! एक जीवद्रव्य में तीन काल के समय से भी अनन्तगुणे गुण हैं, यह गजब बात है न! इसका अर्थ यह हुआ कि संख्या अपेक्षा तीन काल भी छोटा हो गया; अर्थात्, गुण के अनन्तवें भाग का हो गया और गुण, विशाल हो गये – ऐसा यह परम सत्स्वरूप प्रभु आत्मा है।

देखो भाई! समयसार की चौथी गाथा में आता है कि **सुदपरिचिदाणुभूदा...** अर्थात्, राग-विकल्प करना और उसे वेदन करना-भोगना – ऐसी अज्ञान की बात तो / बन्ध कथा तो अनन्त बार अनन्त; अर्थात्, सभी / समस्त जीवों ने सुनी है, उनके परिचय में आयी है और उन्हें वेदन में भी आयी है। अब, 'सभी जीवों ने राग करना और राग को भोगना – ऐसी बन्धकथा तो अनन्त बार सुनी है' – ऐसा उस गाथा में लिखा है। उसका अर्थ यह हुआ कि कितने ही निगोद के जीव, जिन्हें अभी तक कभी त्रसपना प्राप्त नहीं हुआ, उन्होंने भी

बन्धकथा सुनी है – ऐसा वहाँ कहा है। दूसरे प्रकार से कहें तो निगोद के सभी जीवों में से कोई जीव तो अनन्त काल में अभी त्रस भी नहीं हुए, तथापि वहाँ चौथी गाथा में यह लिया है कि राग करना और भोगना – ऐसी अज्ञान की बात समस्त जीवों ने अनन्त बार सुनी है।

प्रश्न – परन्तु सभी एकेन्द्रिय जीवों ने ऐसी बात कहाँ सुनी है ?

उत्तर – उस एकेन्द्रिय जीव को राग का एकत्वरूप परिणमन है, वही बन्धकथा का सुनना है, उसका परिचय है और उसका अनुभव है। सूक्ष्म बात है भाई! भगवान का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

अहा! चौथी गाथा में यह आया है कि समस्त जीवों ने राग का भाव, विभाव, विकल्प; फिर भले ही वह शुभ हो या अशुभ, अनुभव किया है क्योंकि एकेन्द्रिय के भी निरन्तर शुभ और अशुभ विकल्प हुआ करते हैं। देखो, जो अभी तक त्रस भी नहीं हुए – ऐसे निगोद के अनन्त जीवों को भी क्षण में शुभभाव और क्षण में अशुभभाव, इस प्रकार निरन्तर शुभाशुभभाव होता है; इसलिए उस शुभाशुभभावरूप राग का करना – ऐसा एकेन्द्रिय जीव ने भी सुना है, यह चौथी गाथा में भगवान ने कहा है। उन जीवों को शुभाशुभभाव में राग का वेदन है। तात्पर्य यह है कि राग की कथा सुनने का फल जो राग का वेदन है, वह एकेन्द्रिय जीव को है; इसलिए उसने राग की कथा सुनी है परन्तु राग से भिन्न आत्मा की कथा नहीं सुनी है – ऐसा कहा जाता है। बापू! यह तो वीतराग का मार्ग है।

यह भाषासमिति की बात चलती है न! तो कहते हैं कि सच्ची भाषासमिति उसे कहते हैं। एक आत्मा में जो अनन्त गुण सत्रूप हैं...।

वे अनन्त गुण कितने हैं ?

तीन काल के समय से भी अनन्तगुणे गुण सत्रूप हैं। एक सैकेण्ड में असंख्य समय होते हैं – ऐसे तीन काल के समयों की संख्या से अनन्तगुणे गुण एक जीव में सत्रूप हैं। ऐसे अनन्त गुण के सत् को वर्तमान सत्रूप ज्ञान की एक समय की पर्याय स्वीकार करती है; अर्थात्, तीन काल के समय से अनन्तगुणे अनन्तानन्त गुण हैं, उन्हें एक समय की पर्याय जो कि तीन काल के समय से अनन्तवें भाग की है, वह एक समय में स्वीकार करती है। इस प्रकार तीन काल के समय से अनन्तवें भाग की एक समय की पर्याय, भगवान आत्मा के तीन

काल के समय से अनन्तगुणे सत्‌रूप गुणों को स्वीकार करके उसमें एकाग्र हो, उसे निश्चय भाषासमिति कहते हैं और ऐसी निश्चयसमिति जहाँ होती है, वहाँ उत्पन्न होनेवाले विकल्प को व्यवहारसमिति कहते हैं।

प्रश्न – व्यवहार ईर्यासमिति, अर्थात् देखकर चलना – ऐसा नहीं ?

उत्तर – नहीं; चलना तो व्यवहार ईर्यासमिति में भी नहीं है। व्यवहार ईर्यासमिति में तो दूसरे जीव को दुःख न हो ऐसा मात्र विकल्प होता है। जबकि चलने की क्रिया / गति तो जड़ की है; इसलिए वह व्यवहारसमिति भी नहीं है। समिति कहीं जड़ में नहीं होती बापू! यह तो परम सत्य बातें हैं।

जो सत्‌रूप वर्तमान ज्ञान का अंश है; अर्थात्, सम्यग्ज्ञानरूप सत् है, क्योंकि यहाँ सम्यक् सत् की बात है; अतः सम्यक् सत् ऐसी एक समय की मति-श्रुत की पर्याय, अपने एक समय की अपेक्षा संख्या अपेक्षा से अनन्तगुणे सत्‌रूप गुण हैं, उनमें एकत्व हो; अर्थात्, परम सत्स्वरूप प्रभु आत्मा में एकत्व हो ओर वीतरागता प्रगट हो, उसे यहाँ सच्ची भाषासमिति कहते हैं। उस जीव को भले ही भाषा नहीं हो तो भी भाषा का फल जो भाव है, वह भाव है; इस कारण व्यवहार भाषासमिति भी है। जैसे, समस्त एकेन्द्रिय जीवों ने राग की कथा नहीं सुनी है परन्तु राग का वेदन है; इसलिए राग की कथा सुनी है – ऐसा कहा है; इसी प्रकार यहाँ भी भाषासमिति में भाषा बोलने की बात नहीं है परन्तु भाव की बात है। अहा! एक समय में भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु है, उसमें तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुण हैं परन्तु तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुण किसे कहते हैं ? अर्थात्, वह कितनी बड़ी संख्या है ? तथापि उन गुणों को तीन काल के समय से अनन्तवें भाग की एक समय की पर्याय स्वीकार करके एकाग्र होती है।

दूसरे प्रकार से कहें तो – १. तीन काल के समय हैं, उनसे एक समय की पर्याय का काल अनन्तवें भाग है। और, २. तीन काल के समय हैं, उनसे संख्या अपेक्षा अनन्तगुने गुण आत्मा में हैं; तथापि उन अनन्त गुणों को स्वीकार करके एक समय की पर्याय, उनमें एकाग्र होती है, जिसे समिति कहा जाता है। देखो, यह तो कभी सुना भी नहीं होगा कि वीतराग क्या कहते हैं ? और इस मूल बात को चूककर सभी अज्ञानी ऊपर-ऊपर की बातें करते हैं।

यहाँ कहते हैं कि तीन लोक के नाथ भगवान की वाणी में निश्चय समिति इस प्रकार आयी है कि निगोद के अतिरिक्त कोई भव नहीं कर सके, ऐसे जो निगोद के अनन्त जीव हैं, उस एक-एक जीव में भी तीन काल के समय से अनन्तगुने अनन्त गुण हैं – ऐसे अनन्त गुणों में, वर्तमान सत्‌रूप पर्याय उनका स्वीकार करके अन्तर एकाग्र हो, उसे निश्चयसमिति / धर्ममय समिति / शुद्ध परिणतिरूप समिति कहा जाता है। सभी जीवों ने अनन्तानन्त भव किये हैं – ऐसा कथन तो मिथ्यात्व में अनन्तानन्त भव कराने की शक्ति है; इसलिए व्यवहार से कहा जाता है; वरना तो जितनी संसारी जीव की संख्या है, उसके अनन्तवें भाग के जीवों ने ही निगोद के अतिरिक्त अनन्तानन्त भव किये हैं, दूसरे जीव तो निगोद में ही ऐसे के ऐसे ही अनादि से / सदा से पड़े हैं।

यहाँ कहा है कि **जिन्होंने समस्त वस्तुस्वरूप जान लिया है...** मुनि ने तथा समकिती ने अपनी एक समय की ज्ञानपर्याय में तीन काल के समय से अनन्तगुणे अपने अनन्तानन्त गुणों को जान लिया है। सम्यग्दृष्टि ने भी जान लिया है; अर्थात्, यह तो अभी मति-श्रुतज्ञान की / चौथे गुणस्थान की बात है। अहा! आत्मा को जाने, वहाँ सम्यग्ज्ञान होने पर साथ ही अनन्त गुण भी जानने में आ गये, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान है, सत्यज्ञान है।

अहा! सम्यग्दर्शन, अर्थात् सत्‌दर्शन, प्रशस्तदर्शन, प्रशंसनीय दर्शन। प्रशंसनीय दर्शन, अर्थात् क्या? वह प्रशंसनीय दर्शन कोई ऐसे विकल्परूप नहीं हैं कि यह देव-गुरु-धर्म सच्चे और जो भगवान कहे वह सच्चा, क्योंकि यह विकल्प तो राग है। परन्तु तीन काल के समय का अन्त नहीं, उससे भी अनन्तगुणे ऐसे अनन्त गुणों की सन्मुखतावाली पर्याय, वह प्रशंसनीय दर्शन है और वह पर्याय विकल्पवाली होती ही नहीं। अहा! तीन काल के समय का अन्त नहीं है और उससे भी अनन्तगुणे गुण!! अहो! ऐसे अनन्त गुण की सन्मुखतावाली पर्याय, विकल्पवाली होती ही नहीं।

भाई! मैं दूसरा क्या कहता हूँ, यह समझ में आता है? अनन्त गुण की सन्मुखतावाली पर्याय, विकल्पवाली होती ही नहीं, परन्तु निर्विकल्प और अनन्त सामर्थ्यवाली होती है – ऐसे अनन्त-अनन्त गुणमय परम सत् परमात्मा... प्रत्येक आत्मा स्वयं ही भगवान-परमात्मा है तो ऐसे अनन्त-अनन्त गुणमय स्वरूप प्रभु आत्मा विराजमान हैं – ऐसा जो सत् का स्वरूप है,

उसके अन्तर में जो वर्तमान ज्ञानपर्याय, श्रद्धापर्याय एकाग्र होती है, वह पर्याय निर्विकल्प होकर ही एकाग्र होती है। रागवाली पर्याय अन्दर में एकाग्र नहीं हो सकती, क्योंकि राग में जानने की ताकत नहीं है।

देखो, यहाँ कलश में तो 'वह सब जानता है' - ऐसा कहा है। उसका अर्थ यह हुआ कि जानने की सामर्थ्य उसकी मति-श्रुतज्ञान की पर्याय में है। यह चौथे गुणस्थान की बात है। मुनिदशा में छठवें-सातवें गुणस्थान में स्थिरता अधिक है, जबकि चौथे गुणस्थान में स्थिरता कम है परन्तु जानने में अन्तर नहीं है। यह सूक्ष्म पड़े तो भी मार्ग ऐसा है।

यहाँ प्रभु कहते हैं कि एक समय में पर के प्रति लक्ष्य समेटकर / छोड़कर, जब पर्याय परम सत्स्वभाव के सन्मुख आती है, तब उस पर्याय की ताकत अनन्त हो जाती है। चौथे गुणस्थान में भी मतिज्ञान की, श्रुतज्ञान की और श्रद्धा की पर्याय अनन्तगुणी ताकतवाली है क्योंकि वह पर्याय तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुणों को स्वीकार करके उसमें एकाग्र हुई है। बापू! ऐसी बातें हैं भगवान। सम्यग्दर्शन कोई लोग माने ऐसी साधारण वस्तु नहीं है। सम्यग्दर्शन, अर्थात् सत्-दर्शन। सत् ऐसा जो भगवान आत्मा का पूर्ण स्वरूप है, उसका दर्शन। गुण सत्रूप है न! ध्रुवरूप है न! तो उन तीन काल के समय से अनन्तगुणे परम सत्तारूप अनन्तानन्त गुणों का दर्शन सम्यग्दर्शन है।

अहा! **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** और **सद्द्रव्यलक्षणम्** - ऐसा ***(तत्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 30, 29 में)*** कहा है, तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में से ध्रुव में जो ऐसे अनन्त गुण हैं, उन्हें उत्पाद -व्ययरूप पर्याय स्वीकार करते हैं क्योंकि स्वीकार तो पर्याय ही करती है न! जबकि ध्रुव तो जो है, वह है तथा वह उत्पाद-व्ययरूप पर्याय भी सत् है और ध्रौव्य भी सत् है - तीनों सत् हैं परन्तु उनमें से सत्रूप उत्पाद पर्याय कब यथार्थ सत् हुई कहलाये ? जब कि त्रिकाली अनन्त गुणों के पिण्ड प्रभु आत्मा के तीन काल के समय से भी अनन्तगुणे गुण हैं, उन सबको एक समय की पर्याय पचा गयी, तब; अर्थात्, ऐसे सम्पूर्ण तत्त्व को अन्दर प्रतीति और ज्ञान में ले लिया, तब पर्याय 'यथार्थ सत्' हुई कहलाती है और ऐसी निर्मल वीतरागी पर्याय का नाम समिति कहने में आता है कि जो पर्याय, त्रिकाली अनन्त गुणों में एकाग्र हुई है।

अब, ऐसी बात अज्ञानी ने सुनी भी नहीं हो और 'देखकर चलना समिति है' – ऐसा वह मानता है परन्तु वह रञ्चमात्र भी समिति नहीं है क्योंकि चलने की क्रिया तो जड़ की है, वह तो जड़ की उत्पाद पर्याय है, वह आत्मा का उत्पाद कहाँ है ? इसलिए देखकर चलता कौन है ? – यह सुन तो सही ! हाँ, शुभविकल्प आवे कि किसी को दुःख नहीं हो – ऐसा चलूँ, परन्तु वह विकल्प / शुभराग पुण्यबन्ध का कारण है, वह शुभविकल्परूप व्यवहार किसे होता है ? जिसे ऐसी निश्चय समिति प्रगट होती है उसे।

एक बार बड़ी संख्या की बात निकलते समय तीन बड़ी संख्याएँ कही थीं –

(1) एक शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवें हजार पाँच सौ चौरासी रोग है।

(– भगवती आराधना, गाथा 1060, 61)

(2) आकाश में एक सूर्य और एक चन्द्र के साथ छियासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारे हैं, और

(3) ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को यहाँ की एक श्वाँस जितने काल के फल में सातवें नरक का ग्यारह लाख छप्पन हजार नौ सौ पिचहत्तर पल्योपम का दुःख प्राप्त हुआ है।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आयु सात सौ वर्ष थी। उसमें उसने जो बाह्य कल्पना का सुख भोगा, उसके फल में उसे सातवें नरक की तैंतीस सागर की आयुष्य प्राप्त हुई, उसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ सात सौ वर्ष में जो श्वाँस हुए, उनमें से एक श्वाँस जितने काल के फल में सातवें नरक का ग्यारह लाख छप्पन हजार नौ सौ पिचहत्तर पल्योपम का दुःख प्राप्त हुआ। जब आत्मा में तीन काल के समय से भी अनन्तगुने गुण हैं तथा उन अनन्त गुणों की एक समय की पर्याय भी तीन काल के समय से अनन्तगुनी है।

देखो, यह क्या कहा ? कि एक जीवद्रव्य के एक गुण की वर्तमान में एक पर्याय होती है तो अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें हैं, वे कितनी पर्यायें हैं ? तीन काल के समय से भी उन पर्यायों की संख्या अनन्तगुनी हैं; अर्थात्, जितने गुण उतनी पर्याय हैं। देखो, आत्मा इतना महा-महात्मा प्रभु है; फिर भी अरे रे ! आत्मा को इसका पता नहीं है। इसने आत्मा को या तो एक अंश में या पुण्य की क्रिया में या देह में अथवा उसकी क्रिया में मान लिया है परन्तु यह तो मिथ्या भ्रम है।

अहा! वस्तुस्वभाव अमाप है! परन्तु जिसे स्वभाव कहते हैं, उसका माप क्या? स्वभाव, अर्थात् स्वरूप; अपना सत्व। सत्रूप प्रभु आत्मा का जो सत्व है, उसकी जो शक्ति है, उसके जो गुण हैं, उनका क्या कहना? वह तो अमाप, अपार है। उन गुणों की सामर्थ्यता तो अमाप है ही, उन गुणों की संख्या भी अमाप है। आकाश के जितने अमाप प्रदेश हैं, उनसे अनन्तगुने एक जीव में गुण हैं। अलोक... अलोक... अलोक – ऐसा आकाश चला ही जाता है। क्या उसका कहीं अन्त है? नहीं। तो उसके प्रदेशों की संख्या है, उससे भी एक जीव में अनन्तगुने गुण हैं। देखो, यह तो भगवान सर्वज्ञ ने जिसे आत्मा कहा है, वह आत्मा ऐसा अनन्त गुणमय है – यह कहते हैं। यद्यपि सर्वज्ञ के सिवाय दूसरे सभी अज्ञानी भी आत्मा.... आत्मा तो करते हैं परन्तु सर्वज्ञ द्वारा कथित – ऐसे आत्मा के अतिरिक्त दूसरे सब जैसा कहते हैं, वह आत्मा सत्य नहीं है।

आत्मा की बात वेदान्त में भी आती है कि आत्मा निरञ्जन-निराकार है और उसका निर्विकल्प अनुभव होता है परन्तु वह सब मात्र बात है क्योंकि उसे आत्मा कौन है? इसका पता कहाँ है? विक्रम संवत् 1964 में बड़ोदरा में देखे हुए सती अनुसूया नाटक में भी आता था कि बेटा! सुद्धोऽसि – शुद्ध हो; बुद्धोऽसि-बुद्ध हो – ज्ञान के पिण्ड हो; उदासीनोसि-उदासीन हो, तेरी वस्तु पर से भिन्न उदास है; निर्विकल्पोसि-निर्विकल्प हो, वस्तु अभेद निर्विकल्प है। देखो, पहले ऐसे संस्कार बालक को नाटक में भी दिये जाते थे, जबकि अभी तो बड़ी उम्रवालों को भी इतना पता नहीं है कि शुद्ध-बुद्ध किसे कहते हैं?

श्रीमद् में भी आता है कि —

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम।
दूजा कहिये कितना, कर विचार तो पाम॥

(- आतमसिद्धि, गाथा 117)

इस गाथा में बहुत सरस कहा है। शुद्ध, अर्थात् परमात्मस्वरूप आत्मा, अनन्त गुणों से शुद्ध है; बुद्ध, अर्थात् आत्मा अकेला ज्ञान का पिण्ड है; चैतन्यघन, अर्थात् आत्मा असंख्य प्रदेशी है। देखो, चेतन्यघन कहकर उसमें असंख्य प्रदेश की बात की है क्योंकि यह असंख्य प्रदेश की बात सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। स्वयं ज्योति, अर्थात् आत्मा

जलहल चैतन्यज्योति है कि जो स्वयं अपने से जानती है, उसे किसी पर भी अपेक्षा नहीं है और सुखधाम, अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का क्षेत्र / धाम है। प्रभु! तुझमें तो अतीन्द्रिय आनन्द पकता है – ऐसा तू है परन्तु राग और कर्म का उदय पके – ऐसा तू नहीं है। ऐसा वीतराग का मार्ग है बापू! अहा, जिसकी गम्भीरता का पार नहीं हो – ऐसी भगवान की वाणी खिरने पर उसे गणधर और इन्द्र भी स्वीकार करते हैं कि सत्य है प्रभु! **त्वमेव सच्चं;** अर्थात्, जिस प्रकार आप आत्मा के अनन्त गुणों को सत्स्वरूप कहते हो, इस प्रकार ही है प्रभु! इस प्रकार अन्तर स्वभाव के स्वीकारपूर्वक वे कहते हैं। इस तरह जिसे गणधर स्वीकार करे, जिसे एकावतारी इन्द्र भी सुनने आवे तथा स्वीकार करे, वह सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ की बात कैसी होगी बापू? यह धर्म कथा अलौकिक है भाई!

यहाँ कहा है कि सम्यग्दृष्टि की ओर मुनि की वर्तमान पर्याय में सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञात हो गया है; अर्थात्, जिसने एक आत्मा को जाना, उसने अन्य समस्त आत्माओं तथा दूसरे सभी द्रव्य ऐसे हैं – यह जान लिया। कारण कि एक परमाणु में भी, जितनी संख्या में आत्मा में गुण कहे हैं, उतनी संख्या में गुण हैं; मात्र अन्तर इतना है कि उसमें यह चैतन्य, आनन्द आदि गुण नहीं हैं; बल्कि जड़ के गुण हैं; अर्थात्, आत्मा में चैतन्य, आनन्द आदि गुण हैं, जबकि परमाणु में जड़ गुण है; तथापि वह जड़ गुण भी आत्मा के गुणों की संख्या जितनी ही हैं। जीव के जितने; अर्थात्, आकाश के प्रदेशों से अनन्तगुने गुण हैं, उतने ही गुण परमाणु में हैं, संख्या में अन्तर नहीं है। तात्पर्य यह है कि एक परमाणु में भी आकाश के प्रदेशों की संख्या से अनन्तगुने गुण हैं क्योंकि गुणों को रहने के लिए विशाल क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। देखो, परमाणु का क्षेत्र तो मात्र एक प्रदेशी है और आकाश का क्षेत्र इससे अनन्तगुना विशाल है, तथापि उस आकाश के प्रदेशों की संख्या से एक परमाणु में अनन्तगुने गुण हैं – ऐसा वस्तुस्वरूप जिसने अन्तर में / सम्यग्ज्ञान में जान लिया है, उसे मुनि और समकिती / धर्मी कहते हैं।

जो सर्व सावद्य से दूर हैं... जो पाप के परिणाम से अन्दर में दूर हो गया है।

जिन्होंने स्वहित में चित्त को स्थापित किया है.... चित्त; अर्थात्, यहाँ मन की बात नहीं है परन्तु चित्त को; अर्थात्, ज्ञान की पर्याय को जिन्होंने परमात्मा के / आत्मा के अनन्त–अनन्त स्वभाव / गुणों में स्थापित किया है। जिसे अन्दर में ऐसे अनन्त गुणों के सत्पने का

भासन हो गया है, जिसकी पर्याय में गुणों का सत्पना भासित हुआ है, उसे समकिती कहते हैं और आगे बढ़कर स्थिरता करनेवाले को साधु कहते हैं।

जिनके सर्व प्रचार शान्त हुआ है.... यहाँ कहते हैं कि मैंने पाँच लाख रुपये दिये हैं, तुम्हारे नाम की यह पाठशाला बनायी है, तुम्हारे नाम से पाठशाला चला रहे हैं तथा तुम्हारी उपस्थिति में यह बनायी है; इसलिए एक घण्टे तो तुम्हें यहाँ ध्यान देना होगा, इतना काम तुम्हें करना होगा – इस प्रकार ऐसा काम मुनि के माथे पर नहीं होता। यही बात प्रवचनसार गाथा 221 में भी है। वही – वट; अर्थात्, इतने लड़के पढ़ते हैं, उनका ध्यान रखना पड़ेगा – ऐसा हिसाब-किताब मुनि को नहीं होता। अरे! मात्र ध्यान रखने की जिम्मेदारी ही मुनि को नहीं होती। काम सिर पर लेना कहने से तुम्हें यहाँ तो एक घण्टे उपदेश देना पड़ेगा – इत्यादि ऐसा कोई भी काम मुनि के सिर पर नहीं होता। वे अकषायभाव में स्थिर हैं न! इसलिए उन्हें ऐसा विकल्प उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है।

जिनकी भाषा स्व-पर को सफल (हितरूप) है... मुनि, अपने को भी शुद्ध और शुभपरिणति हो ऐसा कहते हैं तथा पर को भी स्व का आश्रय लेकर शुद्धपना कैसे प्रगट हो? और उस भूमिका में पर के आश्रय से कैसा शुभविकल्प होता है? – यह बतलानेवाला उपदेश देते हैं। स्व का आश्रय करावे – ऐसा मुनि की भाषा में आता है; इसलिए वह स्व-पर को हितरूप है – ऐसा कहते हैं। वीतरागी सन्तों का उपदेश ऐसा होता है कि जिससे वीतरागता; अर्थात्, स्व का आश्रय प्रगट होता है – ऐसी वाणी उनकी भाषा में आती है; अर्थात्, दूसरों को उपदेश में भी ऐसा कहते हैं। अहा! मुनिराज के भाव में शुद्धपरिणति है; इसलिए दूसरों को भी स्व के आश्रय से शुद्धपरिणति हो – ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पर के आश्रय से राग होता है और स्व के आश्रय से निर्मलता होती है – ऐसा बतलानेवाला मुनिराज का उपदेश है।

जो सर्व सङ्कल्परहित हैं.... जहाँ सङ्कल्प-विकल्प नहीं हैं; अर्थात्, जहाँ राग की उत्पत्ति नहीं है – ऐसे अकेले आनन्दकन्द वीतरागीबिम्ब प्रभु आत्मा में / अन्तर में मुनि एकत्व हुए हैं, इस कारण वहाँ वीतरागता ही उत्पन्न हुई है; अतः अब सङ्कल्प उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है। अरे! व्यवहारसमिति का विकल्प भी उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है –

ऐसा कहते हैं। कदाचित् विकल्प, विकल्प के कारण प्रगट होता है परन्तु निश्चयपरिणति में उसे प्रगट होने का अवकाश नहीं है। अहा! मुनिधर्म और सम्यक् धर्म; अर्थात्, जहाँ वीतरागता प्रसिद्धपने को प्राप्त हुई है। निज स्वरूप तो वीतराग है ही परन्तु यह तो पर्याय में वीतरागपने की प्रसिद्धि हुई / वीतरागता प्रसिद्धि को प्राप्त हुई, वह मुनिधर्म और सम्यक् धर्म है – ऐसा कहते हैं। इसलिए अब उन्हें सङ्कल्प उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है। तात्पर्य यह है कि वीतरागभाव में व्यवहार समिति का विकल्प उत्पन्न हो – ऐसा नहीं होता। कदाचित् पर के लक्ष्य से विकल्प हो तो भी वह मुनि अथवा धर्मी के स्वरूप में नहीं है। भाई! अद्भुत बात है।

वे विमुक्त पुरुष इस लोक में विमुक्ति का भाजन क्यों नहीं होंगे ?.... जिन्हें अन्तर स्वरूप में लीनता / निर्विकल्पता / वीतरागता जम गयी है; अर्थात्, जिन्हें ऐसी मुनिदशा हो गयी है, अरे! वे पूर्णानन्दरूप मुक्तिदशा का भाजन क्यों नहीं होंगे ? अरे! उन्हें मुक्ति क्यों नहीं होगी ? उन्हें मुक्ति होती ही है। अल्प काल में ही वे सिद्धपद को प्राप्त करनेवाले हैं। जैसे, दूज उगी तो वह पूर्णिमा होनेवाली ही है। दूज, पूर्णिमा हुए बिना रहेगी ही नहीं; इसी प्रकार जिसने पूर्णानन्द भगवान आत्मा को सम्यक् सत् की; अर्थात्, सम्यग्दर्शन की पर्याय में स्वीकार करके अनुभव किया है तथा उसी में स्थिर हुआ है; अर्थात्, जहाँ सङ्कल्प का अवकाश नहीं है – ऐसी मुनिदशा हुई है उसे, अरे! मुक्ति क्यों नहीं होगी ? अर्थात्, उसकी मुक्ति होगी ही। अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करके वह मुक्ति प्राप्त करेगा – ऐसा कहते हैं। मुक्ति के कारणरूप बीज प्रगट हुए हैं; इसलिए उस बीज के फलरूप में उन्हें केवलज्ञान और मुक्ति होगी... होगी... होगी... और होगी ही।

देखो! साधकदशा में जो व्यवहारसमिति का विकल्प आता है, उसकी यहाँ बात ही नहीं की है। यहाँ तो निश्चयसमिति की ही बात की है क्योंकि व्यवहार / विकल्प आता है, वह जाननेयोग्य है किन्तु आदर करने योग्य नहीं है। अरे! ऐसी बात जगत् को समझ में आना बहुत कठिन है।

...(अर्थात्, ऐसे मुनिजन अवश्य मोक्ष के पात्र हैं।)

जिसे निश्चयसमिति हो, वही मुनि है और उनकी पर्याय में मोक्ष आयेगा – ऐसे वे पात्र हैं। वे मुनिदशारूपी पात्र / थालीसहित बैठे हैं तो उसमें मुक्तिरूपी लड्डू आयेंगे ही। तात्पर्य

यह है कि जिन्होंने ऐसी दशा प्रगट की है, उन्हें पूर्णमुक्तिरूपी लड्डू आएँगे ही। यहाँ तो ऐसी बात है भगवान्! यह तो धर्म की बात है।

अहा! दृष्टि की अपेक्षा से तो साधक, मुक्त ही है परन्तु अभी पूर्ण; अर्थात्, सर्व अपेक्षा से मुक्ति नहीं हुई है; इसलिए 'उसकी मुक्ति होगी' – ऐसा कहा है। उसे अभी अल्प राग है, वह साधकदशा में है; तथापि साधक है, उसकी मुक्ति होगी ही – ऐसा कहते हैं। अहा! मुनि भी साधक है और उन्हें दृष्टि, ज्ञान स्थिरता – ये तीनों हैं, तथापि अभी स्थिरता अल्प है; इसलिए तीन कषाय चौकड़ी के अभाव जितनी मुक्ति है परन्तु सर्वथा मुक्ति नहीं है, तथापि प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथाओं में यह कहा है कि वे तो मोक्षस्वरूप ही हो गये हैं। अहा! आयुष्य होने पर भी तेरहवें गुणस्थान में जिन्हें केवलज्ञान हुआ है, उन केवली को 'जीवन्मुक्त' कहते हैं। उसी प्रकार जिन्हें अन्दर में मुनि के योग्य रमणता है, वह तो मुक्ति के भाजन हैं ही और उस भाजन में अब मुक्ति आयेगी... आयेगी... आयेगी... और आयेगी ही – ऐसा यहाँ कहते हैं।

अब, देखो न! 'भाजन क्यों नहीं होंगे' – ऐसा कहा है। अहो! एक-एक कलश क्या अद्‌भुत है।

परब्रह्म के अनुष्ठान में निरत अर्थात् परमात्मा के आचरण में लीन – ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को-मुनिजनों को, अन्तर्जल्प से; अर्थात्, विकल्परूप अन्तरङ्ग उत्थान से भी बस होओ; बहिर्जल्प की (भाषा बोलने की) तो बात ही क्या?

कहते हैं कि मुनि धर्मात्मा तो परमब्रह्मस्वरूप अपने परमात्मा के आचरण में लीन है। परमब्रह्मस्वरूप, परमानन्दस्वरूप ध्रुव ऐसे निज भगवान परमात्मा के आचरण में मुनिराज निरत अर्थात् लीन हैं। देखो, यहाँ व्यवहारसमिति के विकल्प की बात नहीं की है। अरे! लोगों को परम सत्य की बात ही सुनने को नहीं मिलती; इसलिए फिर लोग बाहर के धमाधम में मिथ्यात्व का पोषण करने में चले जाते हैं।

अहा! वस्तुतः तो सम्यक्‌सत् का पोषण होना चाहिए और वह तो जहाँ पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा का स्वीकार होकर उसकी प्रतीति और अनुभव हुआ हो, वहाँ होता है; अर्थात्, जब शुद्धपरिणति प्रगट होती है, तब शुद्धता का पोषण होता है परन्तु अज्ञानी को भान भी नहीं है कि

शुद्धता क्या है और वह किस प्रकार प्रगट होती है ? अज्ञानी तो यह व्यवहार... व्यवहार करो, उससे कल्याण हो जाएगा – ऐसा मानता है परन्तु भाई ! अनादि से यह व्यवहार कर–करके उसमें तू पड़ा है। अरे ! निगोद में भी शुभभाव होते हैं। कोई जीव अनादि से निगोद में हो तो भी उसे निरन्तर शुभ... अशुभ... शुभ... अशुभ.... ऐसे भाव हुआ करते हैं। शास्त्र में कथन है कि एकेन्द्रिय जीव भी एक क्षण में साता बाँधकर दूसरे समय असाता बाँधता है। जब साता बाँधता है तब शुभपरिणाम होते हैं और असाता बाँधे तब अशुभपरिणाम होते हैं; इस प्रकार एकेन्द्रिय अभव्य जीव को भी ऐसे दोनों शुभाशुभभाव होते हैं। इस कारण यह शुभभाव नयी चीज कहाँ है ?

देखो ! अज्ञानी को भी विकारधारा–कर्मधारा तो अनादि से चलती ही है; इसलिए यह शुभभाव कोई नयी चीज नहीं है परन्तु इससे रहित आत्मा के अन्तरभान में शुद्धता प्रगट होना ही अपूर्व और नवीन है तथा तभी से धर्म की; अर्थात्, वीतरागता की शुरुआत होती है।

यहाँ कहते हैं कि अनन्त गुणों के पिण्ड पूर्णानन्द प्रभु आत्मा के अनुष्ठान में / आचरण में मुनिराज लीन हैं। देखो, आत्मा का अनुष्ठान, किन्तु विकल्प का अनुष्ठान नहीं। ऐसे चतुर पुरुषों को... देखो, चतुर पुरुष उन्हें कहते हैं, जो अपने अनन्त गुण के पिण्ड में; अर्थात्, अन्तरस्वरूप में रमते हैं। राग में रमनेवाले पुरुष चतुर नहीं हैं परन्तु आत्माराम में अर्थात् निजपद में रमते हैं, वे चतुर पुरुष हैं और उन्हें; अर्थात्, मुनिजनों को, अन्तर्जल्प से भी वश होओ; अर्थात्, अन्तर में शुभविकल्प का / वृत्ति का उत्थान होता है, उससे भी वश होओ। इसका, अर्थात् उस विकल्प का क्या काम है ? **अलम्,** अर्थात् अन्तर के विकल्प से सन्तों को वश होओ और तब तो फिर बहिर्जल्प की बात ही क्या है ? जहाँ अन्तर का विकल्प भी उत्पन्न नहीं होता, वहाँ भाषा बोलने की तो बात ही क्या करना ? – ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि भाषा आदि का विकल्प तो होता ही नहीं।

अहा ! जो आनन्दघन आत्मा के अनुष्ठान में लीन है, उसे अन्तर और बाह्य विकल्प से क्या प्रयोजन है ? विकल्प से क्या लाभ है ? अर्थात्, उसे विकल्प होता ही नहीं। इसे मुनिपना कहते हैं... इसे मोक्षमार्ग कहते हैं और उसे अल्प काल में अवश्य मोक्ष में जानेवाला कहते हैं। ●

(– प्रवचन रत्न चिन्तामणि, हिन्दी, भाग–3, पृष्ठ 102–117)

3. एषणासमिति

(नियमसार, गाथा 63 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी॥ 63॥

गाथार्थ : पर द्वारा दिया गया, कृत–कारित–अनुमोदनरहित, प्रासुक और प्रशस्त भोजन करनेरूप जो सम्यक् आहारग्रहण, वह एषणासमिति है।

यहाँ एषणासमिति का स्वरूप कहा है, वह इस प्रकार —

मुनिपने में आहार ग्रहण के विकल्प की वृत्ति है, वह व्यवहार एषणासमिति है और वह समिति कैसी होती है ? उसका यहाँ वर्णन है। निश्चय एषणासमिति तो अपनी आत्मा को शोधकर निर्मलपरिणतिरूप परिणमन करना है। तीन काल के समय से भी अनन्तगुने, अनन्त गुणों का जो एकरूप स्वरूप, उसे अन्दर में शोधकर प्रतीति में और अनुभव में लेना, उसे निश्चय एषणासमिति कहते हैं। अपने परम आनन्द आदि अनन्त गुणों के पिण्ड प्रभु आत्मा को शोधकर, उसमें एकाग्र होना, वह निर्विकल्प निश्चय एषणासमिति है। वह निश्चय एषणासमिति ही वास्तविक एषणासमिति है। यह निश्चय एषणासमिति की बात यहाँ प्रवचनसार की गाथा का आधार देकर करेंगे। उससे पूर्व निश्चय एषणासमितिवाले को व्यवहार एषणासमिति कैसी होती है ? उसका यह वर्णन है —

मन, वचन और काय में से प्रत्येक को कृत, कारित और अनुमोदनासहित मानकर उनके नौ भेद होते हैं; उनसे संयुक्त अन्न, नव कोटिरूप से विशुद्ध नहीं है - ऐसा (शास्त्र में) कहा है;

मन, वचन और काया तथा कृत, कारित और अनुमोदन - इस नव कोटि से संयुक्त अन्न, मुनिराज को नहीं हो सकता, क्योंकि उनसे सहित; अर्थात्, मन, वचन, काया से तथा कृत, कारित और अनुमोदित अन्न, नव कोटि से शुद्ध नहीं है।

किसी ने साधु के लिए बनाये हुए आहार-पानी को, भले ही वह साधु ने बनाया नहीं है, बनवाया नहीं है तथा यह ठीक है - ऐसा अनुमोदन भी नहीं किया है; तथापि उस आहार-पानी को साधु लेता है तो उसका अर्थ ही यह है कि साधु को उसकी अनुमोदना है; इसलिए उसकी नव कोटि में से अनुमोदना कोटि टूट जाती है। साधु बाह्य से अनुमोदना नहीं करते, इसलिए उनके अपने लिए बनाये हुए आहार-पानी चल सकते हैं - ऐसा नहीं है क्योंकि वे उस आहार-पानी का प्रयोग करते हैं, वह अनुमोदना ही है। किसी ने मुनि के लिए आहार आदि बनवाया हो, उसे मुनि ने किया नहीं है, कराया नहीं है परन्तु अपने लिए आहार अथवा पानी बना होने पर भी उसे मात्र ग्रहण करता है तो वह भी अनुमोदना है; इस कारण नव कोटि में से तीन मन-वचन-काया से अनुमोदना कोटि टूट जाती है। इसलिए अपने लिए बनाये हुए आहार-पानी, साधु ग्रहण कर लें - यह मार्ग नहीं है।

देखो, यहाँ भगवान क्या कहते हैं? कहते हैं कि स्वयं मुनि ने आहार बनाया हो, बनवाया हो अथवा अपने लिए बनाया हुआ आहार लेता हो तो वह आहार नव कोटि से शुद्ध नहीं है और उस आहार को लेनेवाला निर्दोष आहार ग्रहण नहीं करता। दूसरे प्रकार से कहें तो यदि अपने लिए बनाया हुआ आहार, मुनि प्रयोग करे तो अनुमोदना कोटि टूट जाती है और एक कोटि टूटने पर सभी कोटि टूट जाती हैं। इसलिए अपने लिए बनाया हुआ आहार, नव कोटि के त्यागवाला आहार है ही नहीं। भाई! यह तो वीतराग मार्ग है; यह किसी का पक्ष नहीं है!!

हम से एक विद्वान् क्षुल्लक ने प्रश्न किया - 'विकारी परिणमन को पुद्गलपरिणाम क्यों कहा?' हमने उनसे कहा - 'विकारी परिणाम में जिसका अवलम्बन है, उसके वे

परिणाम हैं – ऐसा मानकर उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है किन्तु आत्मा के नहीं।' फिर उन्होंने यह प्रश्न किया – 'यदि आपकी ओर से उद्देशिक आहार का स्पष्टीकरण हो जाए तो बहुत शान्ति हो?' उनके कहने का आशय यह था कि 'गृहस्थ लोग साधुओं के लिए आहारादि बनावें और उन्हें साधु ग्रहण करे तो उसमें आपत्ति नहीं है न? क्योंकि वह तो गृहस्थों द्वारा बनाया हुआ है न!' हमने कहा –कहो – 'उद्देशीक आहार का क्या स्पष्टीकरण करें?' साधु और क्षुल्लक के लिए गृहस्थ आहार बनाते हैं, चौका लगाते हैं और उसे साधु-क्षुल्लक लेते हैं; इसलिए हम किसी को भाव क्षुल्लक तो मानते ही नहीं, परन्तु अभी कोई द्रव्यलिङ्गी क्षुल्लक है – ऐसा भी नहीं मानते। बापू! मार्ग ऐसा है। अरे, भगवान उपस्थित नहीं हैं; इसलिए उद्देशिक आहार की व्याख्या अन्य प्रकार से नहीं हो सकती है। भगवान का विरह है; इसलिए दूसरा मार्ग है – ऐसा नहीं है।

अहा! कोई भी साधु अथवा क्षुल्लक अपने लिए बनाया हुआ आहार लेता है तो वह जैनदर्शन के व्यवहार से एकदम विरुद्ध है, वह द्रव्यलिङ्गी साधु भी नहीं है और द्रव्यलिङ्गी क्षुल्लक भी नहीं है। बापू! मार्ग यह है। यह व्यक्तिगत बात नहीं है परन्तु यह तो वीतरागमार्ग है। यह मार्ग कोई दूसरे प्रकार से माननेवाले बहुत अधिक हों, इसलिए अन्य प्रकार हो जाए – ऐसा नहीं है तथा पालन नहीं किया जा सके, इसलिए मार्ग दूसरा करना – ऐसा भी नहीं हो सकता। बापू! मार्ग तो ऐसा है भगवान! अरे भाई! व्यवहार क्षुल्लकपना पालन किया जा सके, अभी तो ऐसी स्थिति भी नहीं है। अहा! अभी जिसका व्यवहार सच्चा है, उसका निश्चय झूठा भी हो सकता है और सच्चा भी हो सकता है परन्तु भाई! जिसका व्यवहार ही झूठा है, उसका निश्चय तो झूठा है ही – ऐसी वस्तु की स्थिति है।

यहाँ कहते हैं कि मुनि अपने लिए बनाया हुआ आहार लें तो उनकी नव कोटि विशुद्ध नहीं है, उनका आहार शुद्ध ही नहीं है – ऐसी बात है। मार्ग तो ऐसा है बापू! अरे ऊँचा नाम धराकर नीची दशा के कार्य करना तो जगत् में महापाप है, उसकी अपेक्षा तो हमारी दशा ऊँची नहीं है बापू! हम तो अविरत सम्यग्दृष्टि हैं – ऐसा मानना अथवा कहना, जिससे प्रतिज्ञा भङ्ग का पाप नहीं लगता है परन्तु बड़ा नाम धराकर, यदि प्रतिज्ञा तोड़ दे तो महापाप है। जैसे कि उपवास का नाम धारण करके एक कण भी खाये तो महापाप है, वह महापापी है और 'मुझे

उपवास नहीं है, मैं एक बार खाता हूँ' – इस प्रकार एकासन करके एक बार खाये तो प्रतिज्ञा भङ्ग के बिना अकेला शुभभाव है।

अतिप्रशस्त, अर्थात् मनोहर (अन्न); हरितकायमय सूक्ष्म प्राणियों के संचार को अगोचर, वह प्रासुक (अन्न) – ऐसा (शास्त्र में) कहा है। प्रतिग्रह, उच्च, स्थान, पादप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, योगशुद्धि (मन-वचन-काया की शुद्धि) और भिक्षाशुद्धि – इस नवविध पुण्य से (नवधा भक्ति से) आदर करके, श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ....

1. नव कोटि से शुद्ध-निर्दोष होना चाहिए,
2. रोग और प्रमाद आदि में निमित्त नहीं हो – ऐसा होना चाहिए, और
3. एकेन्द्रिय जीव का भी अन्दर में सञ्चार न हो – ऐसा होना चाहिए।

– ऐसे आहार को शास्त्र में प्रासुक आहार कहा है और मुनि को ऐसा आहार होता है, यह व्यवहार एषणासमिति की बात है।

निश्चय एषणासमिति में तो प्रभु आत्मा अनाहारी है; अर्थात्, अन्दर में अनाहारीमय परिणमन है, वह निश्चय एषणासमिति है और यह बात बाद में आयेगी। प्रवचनसार की 227 वीं गाथा का आधार देकर उसमें कहेंगे कि निश्चय एषणासमिति किसे कहते हैं? यहाँ तो व्यवहार एषणासमिति की बात चलती है कि जिसे निश्चय एषणासमिति होती है, उसे ऐसी व्यवहार एषणासमिति होती है परन्तु जिसे अभी व्यवहार एषणासमिति का भी ठिकाना नहीं है, उसे निश्चय एषणासमिति नहीं होती।

देखो! ऐसी व्यवहारसमिति की बातें। अहा! जिसे अन्दर में वास्तविक समिति; अर्थात्, तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागदशा प्रगट हुई है, उसे व्यवहार एषणासमिति का ऐसा विकल्प होता है परन्तु इससे विरुद्ध विकल्प; अर्थात्, अपने लिए बनाये हुए आहार आदि के ग्रहण का विकल्प नहीं होता और यदि अपने लिए बनाये हुए आहारादि के ग्रहण का विकल्प हो तो उसे व्यवहार एषणासमिति रहती ही नहीं तथा इस कारण सच्ची निश्चयसमिति भी नहीं रहती – ऐसी बात है। बापू! इस बात को श्रद्धा और ज्ञान में तो लेना पड़ेगा न कि ऐसा मार्ग

है ! परन्तु मार्ग प्राप्त नहीं हुआ हो, इसलिए दूसरी रीति से मानना – ऐसा नहीं हो सकता।

परन्तु मुनि क्या करें ? क्योंकि अभी तो ऐसा काल है और यदि उद्देशिक आहार न लें तो शरीर किस प्रकार टिकेगा ? इसलिए गृहस्थ को आहार बना देना चाहिए और मुनि को वह अपने लिए बनाया हुआ आहार ले लेना चाहिए – ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु भाई ! ऐसा मार्ग किसने कहा है ? यदि पालन नहीं किया जा सके तो उसे किसने कहा था कि तू मुनिपना ले ? तथा समझे बिना मुनिपना ले लिया है तो यह तो अज्ञान है। अपनी दशा; अर्थात्, परिणाम की योग्यता और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का निमित्तपना कैसा है ? – उसका ज्ञान नहीं है और मुनिपना ले लिया है तो यह तो मिथ्यात्वभाव है।

यहाँ यह कहा है कि – **(1)** तपोधन, निर्दोष वस्तु हो तो लें परन्तु आहार आदि बनावें नहीं, बनवावें नहीं और बनानेवाले की अनुमोदना भी नहीं करें। तात्पर्य यह है कि वे अपने लिये बनाया हुआ कुछ लें ही नहीं और वह भी **(2)** प्रमाद और रोगादि का कारण न हो – ऐसा आहार हो तथा वह भी **(3)** ऐसी भक्तिवाला और दातार के गुणोंवाला दातार आहार दे तो मुनि लें; इसके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि अज्ञानी अभक्ति से आहार दे और मुनि लें – ऐसा नहीं होता। भले ही आहार देनेवाला मिथ्यादृष्टि हो, तथापि व्यवहार से तो उसकी श्रद्धा आदि यथार्थ हों – ऐसा यहाँ कहते हैं। ●

(– प्रवचन रत्न चिन्तामणि, हिन्दी, भाग-3, पृष्ठ 102-126)

4. आदान-निक्षेपणसमिति

(नियमसार, गाथा 64 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा॥ 64॥

गाथार्थ : पुस्तक, कमण्डल आदि लेने-रखने सम्बन्धी प्रयत्नपरिणाम, वह आदान-निक्षेपणसमिति है - ऐसा कहा है।

यहाँ आदान निक्षेपणसमिति का स्वरूप कहा है।

श्वेताम्बर में आयानभण्डमत निक्षेपणसमिति - ऐसा आता है; जबकि यहाँ आदान -निक्षेपणसमिति है। आदान, अर्थात् लेना; निक्षेपण, अर्थात् रखना; इसका कारण यह है कि साधु को / मुनि को वस्त्र-पात्रादिक तो होते ही नहीं, तब फिर वे वस्त्र-पात्रादिक को लें अथवा रखें कैसे ? इसलिए यह आदान निक्षेपणसमिति शब्द यथार्थ है। अरे ! श्वेताम्बर में तो सम्पूर्ण समिति के नाम में भी अन्तर है। अहा! वस्त्र-पात्र रखे और अपने को मुनि माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ मुनि को वस्त्र-पात्रादि के अतिरिक्त मोरपिच्छी आदि उपकरण होते हैं, उनकी बात है। देखो, यहाँ गाथा में है न कि **पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु** - शास्त्रादि लेते -रखते। पाठ में पोत्थइ शब्द है, उसका अर्थ हरिगीत में शास्त्र किया है और उसे लेते-रखते - ऐसा कहा है परन्तु वस्त्र-पात्र को लेते-रखते - ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वे मुनि को होते ही नहीं। अहा ! दिगम्बर और श्वेताम्बर की मुनिदशा में बहुत अन्तर है, पूर्व-पश्चिम जितना

अन्तर है। अब, ऐसा है, तब उन दोनों को समान किस प्रकार मानना, समन्वय किस प्रकार करना ? हाँ, दिगम्बर भी हैं और श्वेताम्बर भी; इस प्रकार दोनों हैं, इतना समन्वय है परन्तु वे दोनों समान हैं – ऐसा समन्वय नहीं है। वस्तुतः किसी व्यक्ति के प्रति निरोध-वैर नहीं होता, तथापि वस्तु की स्थिति जैसी है, उससे विरुद्ध यदि कोई मानता हो तो उसकी दृष्टि मिथ्या है – ऐसा जानना चाहिए।

देखो, श्री कुन्दकुन्दाचार्य की सीधी भाषा में क्या है ? शास्त्रादि लेने-रखने सम्बन्धी मुनि के प्रयत्न-परिणाम को; अर्थात्, शुभरागरूप विकल्प को आदाननिक्षेपणसमिति आगम में कहा गया है। देखो, कहते हैं कि भगवान के आगम में; अर्थात्, भगवान की वाणी में से निर्मित आगम में तो यह आया है कि मुनि, मात्र शास्त्रादि लेते-रखते हैं परन्तु वस्त्र-पात्रादि लेना अथवा रखना, यह मुनि को तीन काल में नहीं हो सकता। यदि वस्त्र का एक धागा भी रखे और अपने को मुनि माने अथवा मनवावे तो **जाइ णिग्गोदम्;** अर्थात्, निगोद में जाएगा। ऐसा अष्टपाहुड़ (सूत्रपाहुड़, गाथा 18) में कहा है। देखो, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समान हैं, दोनों का समन्वय होता है – ऐसा नहीं हो सकता, यह कहते हैं क्योंकि सत्यमार्ग का स्वरूप ही ऐसा है, वहाँ दूसरा क्या हो सकता है ?

जहाँ तीन कषाय चौकड़ीरहित मुनिपने की वीतरागीदशा अन्दर में प्रगट हुई है, वहाँ उसे वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का विकल्प ही नहीं होता और ऐसा संयोग भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मुनि को वस्त्र-पात्रादिक के संयोग का भी अभाव होता है और वस्त्र-पात्रादि के ग्रहण के विकल्प का भी अभाव होता है, यह वस्तु की मर्यादा है परन्तु क्या हो सकता है ? लोग अन्यथा प्रकार से मानते हैं। कोई अज्ञानी अपने माने हुए पक्ष में चढ़ जाए और दूसरे प्रकार से माने तो वह स्वतन्त्र है, वरना मार्ग तो यह है। अब, पहले शब्दार्थ, अर्थात् अन्वयार्थ लेते हैं —

पुस्तक, कमण्डल आदि लेने-रखने सम्बन्धी प्रयत्नपरिणाम, वह आदान -निक्षेपणसमिति है - ऐसा कहा है। 'आदि' कहने से मुनि के योग्य वस्तु ऐसी पिच्छी लेना, किन्तु वस्त्रादि नहीं और **णिद्दिट्ठा-निर्दिष्टा;** अर्थात्, भगवान के आगम में यह कहा है, इसके अतिरिक्त अन्य अज्ञानियों के बनाये हुए आगमों में यह कहा हो कि वस्त्र-पात्र लेना-रखना, वह आदान-निक्षेपणसमिति है तो वह भगवान का आगम नहीं है, अपितु कल्पित बनाये गये हैं।

प्रश्न – प्रयत्न–परिणाम, अर्थात् ?

उत्तर – शुभपरिणाम / शुभराग / शुभभाव; यहाँ बाह्य क्रिया की बात नहीं है।

यह, अपहृतसंयमियों को संयम ज्ञानादिक के उपकरण लेते–रखते समय उत्पन्न होनेवाली समिति का प्रकार कहा है।

अपहृतसंयमी, अर्थात् व्यवहारसंयमी। इस संयमी को निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञान तो है परन्तु छठवें गुणस्थान की दशा है; इसलिए उस शुभोपयोगी को अपहृतसंयमी कहा है। तात्पर्य यह है कि जिसमें लेने–रखने का विकल्प उत्पन्न होता है – ऐसे छठवें गुणस्थान की भूमिकावाले को अपहृतसंयमी कहा है। देखो, नीचे फुटनोट है –

[1. अपहृतसंयमी = अपहृतसंयमवाले मुनि। (अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम, हीन–न्यूनतावाला संयम), सरागचारित्र और शुभोपयोग – ये सब एकार्थ हैं।]

अपहृतसंयमी, अर्थात् अपवादीमुनि। अपवादीमुनि का अर्थ यह है कि जिन्हें छठवें गुणस्थान का शुभरागवाला भाव है; अर्थात्, जो छठवें गुणस्थान में हैं, जिन्हें विकल्प उत्पन्न हुआ है, वे **अपवादीमुनि** हैं। यद्यपि उन्हें निश्चयसम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्वरूप का अनुभव है तथा तीन कषाय–चौकड़ी का अभाव भी है, परन्तु संयम के दो प्रकार करने पर उन्हें छठवें गुणस्थान के योग्य शुभराग उत्पन्न हुआ है; इसलिए तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होने पर भी, अभी शुभराग होने से वे अपहृतसंयमी या अपवादीमुनि कहे जाते हैं। वे अभी व्यवहाररत्नत्रयधारक मुनि हैं।

अहा! मुनि को सम्यग्दर्शन; अर्थात्, पूर्ण आनन्दकन्द प्रभु आत्मा का अनुभव होकर सम्यक् प्रतीति हुई है और आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान भी हुआ है, तदुपरान्त छठवें गुणस्थान के योग्य स्वरूप की स्थिरता भी हुई है परन्तु उन्हें संज्वलन का विकल्प उत्पन्न है कि 'यह ग्रहण करूँ और यह छोड़ूँ', इस वृत्तिवाले मुनि को अपवादीमुनि या व्यवहाररत्नत्रयधारक मुनि कहा है। यद्यपि उनको निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तो है परन्तु शुद्धोपयोग नहीं है; इसीलिए रागवाले उन मुनि को व्यवहारीमुनि कहा है। जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की दशा नहीं है, उसे तो व्यवहारीमुनि भी नहीं कहते हैं।

अहा! मुनिदशा की यह एक बात तो देखो! कितनी निर्मल स्पष्ट है!! इसमें कहीं शङ्का / सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है। जिन्होंने पूर्ण ज्ञानप्रकाश की मूर्ति ध्रुव चैतन्य भगवान आत्मा को दृष्टि में जोड़कर अनुभव किया है और जिन्हें निर्विकल्प आनन्द का स्वाद आया है; अर्थात्, जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, सम्यक् स्वसंवेदन; अर्थात्, स्व का प्रत्यक्षज्ञान हुआ है और स्वरूप में तीन कषाय चौकड़ी के अभाववाली स्थिरता भी है, उन्हें शुभविकल्प उत्पन्न होता है तो वे अपवादी साधु, व्यवहाररत्नत्रयधारक साधु कहलाते हैं।

प्रश्न – नग्न दिगम्बर द्रव्यलिङ्गी साधु, व्यवहारीमुनि हैं या नहीं ?

उत्तर – नहीं; अरे वस्तुस्थिति ही ऐसी है, उसमें दूसरा क्या हो सकता है ?

यहाँ कहते हैं कि मुनि के योग्य शुद्धोपयोग; अर्थात्, सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोगसहित मुनि को निश्चय साधु कहते हैं और जिन्हें अन्तर में निश्चयरत्नत्रय तो है, परन्तु मुनि के योग्य (सप्तम गुणस्थान के योग्य) शुद्धोपयोग का अभाव है, उन्हें अपवादीमुनि या व्यवहाररत्नत्रयधारक मुनि कहते हैं, क्योंकि शुभविकल्प अपवाद और दोष है।

अपवादीमुनि को 'एकदेश-परित्यागी' भी कहते हैं, क्योंकि उन्हें अभी शुद्धोपयोग नहीं है। यद्यपि उनके राग की अशुद्धता; अर्थात्, अशुभराग का अभाव है परन्तु शुभराग का अभाव नहीं है और शुभराग आया है; इसलिए उनको एकदेश-परित्यागी मुनि कहते हैं, उन्हें अपहृत संयमी; अर्थात्, हीन-न्यूनतावाले संयमी कहा जाता है, उन्हें सरागीचारित्रवाला भी कहते हैं परन्तु ऐसे मुनि को कि जिन्हें छठवें गुणस्थान में ग्रहण-त्याग का शुभविकल्प उत्पन्न हुआ है। यद्यपि उन्हें अन्दर में तीन कषाय के अभाववाला चारित्र तो है परन्तु वे शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं हैं; इसलिए उन्हें सरागचारित्रवाला कहते हैं। वे सरागचारित्रवाले हैं इसलिए उनको अकेला शुभराग ही है – ऐसा नहीं है।

प्रवचनसार की प्रथम पाँच गाथाओं में ऐसा कहा है कि आचार्य, उपाध्याय और मुनि, परम शुद्धोपयोगी ही होते हैं; अर्थात्, उन्होंने परमशुद्धोपयोग को ग्रहण किया है परन्तु व्यवहार को ग्रहण नहीं किया, तथापि बीच में व्यवहार आ जाता है, वह **अपवादमार्ग** है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में भी ऐसा लिया है कि मुनि, अर्थात् जिन्होंने शुद्धोपयोग ग्रहण

किया है। इसके अतिरिक्त मुनि नाम धरा लेने से कोई मुनि नहीं हो जाता तथा कोई नग्न हुआ हो और अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प हो तो भी मुनि नहीं है। वह व्यवहार से भी मुनि नहीं है, कारण कि व्यवहारमुनि तो उसे कहते हैं, जिसे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद आया हो।

उस उग्र स्वाद के लिए समयसार की पाँचवी गाथा में कहा है कि जिसे प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है। अहा! श्रीसमयसार की पाँचवी गाथा में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि हमको प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है, वह हमारा निजवैभव है और उससे हम समयसार कहेंगे।

चतुर्थ गुणस्थान में आनन्द का संवेदन तो है परन्तु प्रचुर नहीं। पाँचवें गुणस्थान में चौथे गुणस्थानवाले से विशेष आनन्द का संवेदन है और छठवें गुणस्थान में तो पाँचवें गुणस्थान से भी विशेष आनन्द का संवेदन है। वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की शक्ति में से पर्याय में अत्यधिक व्यक्तता/प्रगटता हुई है, परन्तु वे मुनिराज अभी शुभोपयोग में हैं; इसलिए उन्हें सरागचारित्रवाला कहा गया है।

वे सरागचारित्रवाले हैं; इसलिए उन्हें अकेला शुभराग ही है – ऐसा नहीं है। उन्हें अन्तर में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तो है परन्तु अभी वे शुद्धोपयोग में नहीं हैं; इसलिए जो राग के विकल्पसहित हैं, उन्हें सरागचारित्रवाला कहा है। वे सरागचारित्रवाले '**शुभोपयोगी**' हैं। तात्पर्य यह है कि सरागचारित्रवाला कहो या शुभोपयोगी कहो – एक ही बात है क्योंकि ग्रहण–त्याग शुभराग है न! ऐसे शुभोपयोगी मुनि, **सास्त्रवी** हैं, **अपवादी** हैं।

कहते हैं कि ऐसे अपहृत संयमियों को संयम, ज्ञान आदि के उपकरण लेने–रखते समय उत्पन्न होनेवाली व्यवहारसमिति का यह प्रकार है। देखो, जिन्हें अन्दर में संयम–दर्शन और ज्ञान के साथ संयम है; अर्थात्, जिन्हें सम्यग्दर्शनपूर्वक अन्दर में स्थिरता–लीनता है, यह उनकी बात है। अहा! कितनी स्पष्ट बात है ? इसमें कहीं जरा भी आगे–पीछे करे तो उसकी मान्यता खोटी होती है।

प्रश्न – जो ऐसा व्यवहार शुभोपयोग का पालन करते हैं, वे शुभोपयोगी मुनि हैं न ?

उत्तर – भाई! यहाँ उस द्रव्यलिङ्गी मुनि की बात नहीं है। यह तो जिन्हें अन्दर में निश्चय दर्शन, ज्ञान और संयम है, उन्हें ऐसी समिति का विकल्प उत्पन्न होता है, उन्हें 'शुभोपयोगी मुनि' कहते हैं और विकल्प को व्यवहार समिति कहते हैं – ऐसा कहना है।

अब, छठवें गुणस्थानवाले की बात करने से पहले निश्चयसमिति की; अर्थात्, सातवें गुणस्थानवाले की बात करते हैं – देखो, नीचे फुटनोट है –

उपेक्षासंयमी = उपेक्षासंयमवाले मुनि। (उत्सर्ग, निश्चयनय, सर्व परित्याग, उपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग – ये सब एकार्थ हैं।)

1. पूर्व कथित अपहृतसंयमी मुनि, अपवादीमुनि हैं; जबकि यह उपेक्षासंयमी मुनि, उत्सर्ग मुनि हैं।

2. पूर्व कथित अपहृतसंयमी छठवें गुणस्थान की भूमिका के विकल्पवाले व्यवहाररत्नत्रयवाले मुनि हैं, जबकि यह उपेक्षासंयमी निश्चयनयवाले मुनि हैं। अहा! जिनका उपयोग अन्दर स्थिर हो गया है, जो शुद्धोपयोग में रमते हैं, उन्हें निश्चयनयात्मक साधु कहते हैं। देखो, यह छठवें और सातवें गुणस्थान के बीच की क्रीड़ा की बातें हैं।

3. अपहृतसंयमी को छठवें गुणस्थान के शुभराग में अशुभराग का त्याग है परन्तु शुभराग का त्याग नहीं है; अर्थात्, उन्हें अभी राग का आंशिक त्याग है; इसलिए उन्हें एकदेश-परित्याग मुनि कहा है; जबकि उपेक्षा संयमी को सर्व राग का त्याग है; इसलिए उन्हें सर्व-परित्याग मुनि कहा है। वे तो शुभराग का भी त्याग करके शुद्धोपयोग में रमते हैं; इसलिए उन्हें सर्व-परित्याग मुनि कहा है।

4. अपहृतसंयमी को अपहृत संयमवाला कहा जाता है; जबकि उपेक्षा संयमी को उपेक्षा संयमवाला कहा जाता है, उन्हें कोई अपेक्षा नहीं है, सर्व से उपेक्षा हो गयी है। अरे! शुभराग की भी अपेक्षा नहीं रही है; इसलिए उन्हें उपेक्षा संयम कहा है, अहा! वहाँ रागादि सर्व की उपेक्षा है परन्तु कोई अपेक्षा नहीं रही है; इसलिए उपेक्षा संयम है, जबकि छठवें गुणस्थानवाले में राग की थोड़ी अपेक्षा रही है, अर्थात् शुभराग रहा है; इसलिए वह उत्सर्गमार्ग नहीं है।

भाई! यह तो गजब बात है! सन्तों की कथनी गजब है। अहा! यह तो अनादि सनातन

वीतराग पन्थ का प्रवाह है। इसमें कुछ भी फेरफार अथवा कम-ज्यादा करेगा तो मार्ग नहीं रहेगा - ऐसा अद्‌भुत मार्ग है।

5. अपहृतसंयमी को सरागचारित्रवाला और उपेक्षासंयमी को वीतरागचारित्रवाला कहा जाता है।

6. अपहृतसंयमी को शुभोपयोगी और उपेक्षासंयमी को शुद्धोपयोगी कहा जाता है।

श्वेताम्बर मत तो मुनि के चौदह उपकरण बतलाता है परन्तु वह सब तो कल्पना है। स्थविरकल्पी साधु हो या जिनकल्पी साधु हो, उन्हें वस्त्र-पात्र का त्याग होता है क्योंकि मुनि ही उन्हें कहते हैं, जिसे वस्त्र का धागा अथवा पात्र नहीं है, अपितु नग्नदशा है तथा अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प और उसके साथ-साथ सर्वसंयम व शुद्धज्ञान अन्दर में वर्तता है।

अब, कहते हैं कि यदि उन्हें शास्त्रादि लेने-रखने का विकल्प उत्पन्न होता है तो वे व्यवहारी साधु, आश्रववाले साधु, शुभोपयोगी साधु, अपहृत संयमी साधु अथवा एकदेशत्यागी साधु कहलाते हैं और जो मुनि अन्दर शुद्धोपयोग में वर्तते हैं, उन्हें निश्चयनयवाले साधु, उत्सर्गी साधु, वीतरागी साधु अथवा सर्वदेशत्यागी साधु कहते हैं। देखो, साधुपना ऐसा है।

अहा! जो ग्रन्थ में से निकल गये हैं; अर्थात्, जिन्हें परिग्रह छूट गया है, उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं और अन्तर में परिग्रह की ममता हुए बिना बाह्य में परिग्रह नहीं रह सकता। तात्पर्य यह है कि अन्तरङ्ग में परिग्रह की मूर्च्छा का भाव न हो और बाह्य में परिग्रह रहे - ऐसा नहीं होता। इसलिए जब तक परिग्रह का मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदन नहीं छूटता, तब तक मुनिपना नहीं आता। इस विषय में मोक्षमार्गप्रकाशक ***(5 वाँ अधिकार, श्वेताम्बर मत निराकरण प्रकरण)*** में बहुत सरस कहा है। वहाँ प्रश्न किया है कि मुनि को परिग्रह है, किन्तु उसकी ममता नहीं है। उसके उत्तर में पण्डित टोडरमलजी ने कहा है कि परिग्रह की ममता तो सम्यग्दर्शन में भी नहीं है कि राग मेरा है और वस्त्र मेरे हैं। जबकि यहाँ मुनिपने में तो स्थिरता प्रगट हुई है, उस अन्तरस्थिरता में उतनी वीतरागता होती है कि मुनि को विकल्प उत्पन्न होता है, वह मर्यादित होता है। आहार लेना, ज्ञान और संयम के उपकरण लेना-रखना इत्यादि का बस मात्र इतना विकल्प मुनि को होता है। मुनि को इतनी मर्यादा का ही आस्रव

होता है। यदि इससे अधिक आस्रव किसी को हो और उसे मुनि माने तो उस जीव को मुनि के आस्रव का भी भान नहीं है, मुनि के संवर का भी भान नहीं है और मुनि को अजीव का संयोग कितना घट गया है, इसका भी भान नहीं है। वह नव तत्त्व की श्रद्धा से विरुद्ध है। यहाँ तो ऐसी बात है भाई!

किसी को वस्त्र-पात्र का संयोग होने पर भी यदि उससे मुनिपना माना जाए तो उसे :-

1. मुनि को अजीव का कितना संयोग रहा है? इसका पता नहीं है।
2. मुनि को आस्रवरूप विकल्प कितनी मर्यादा का होता है? इसका पता नहीं है।
3. मुनि को संवर की कितनी उग्रदशा होती है? इसका पता नहीं है।
4. मुनि को निर्जरा किस प्रकार की होती है? इसका पता नहीं है, और
5. मुनि ने द्रव्य का (जीव का) कितना आश्रय लिया है? इसका भी पता नहीं है।

ऐसी बात है। क्या यह बात कोई श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बिना प्रयोजन के कह दी है कि मुनि ने वस्त्र का धागा रखे तो निगोद में जाएगा? वह बात यों ही नहीं कह दी है। उस वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाले की तो नव तत्त्व में महाभूल है और वह तो मिथ्यात्वभाव है; इसलिए वह निगोद में जाएगा - ऐसा कहा है। मिथ्यात्व का फल निगोद ही है। समयसार परिशिष्ट में अनेकान्त के चौदह भङ्ग में एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि को पशु कहा है। वहाँ कहा है कि एकान्त माननेवाला मिथ्यादृष्टि तो पशुगति में अवतरित होगा - ऐसा मार्ग है बापू! यह कोई किसी व्यक्ति के लिए बात नहीं है परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा है, वस्तु इस प्रकार रही है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

उपेक्षासंयमियों को पुस्तक, कमण्डल आदि नहीं होते; वे परमजिनमुनि एकान्त में (सर्वथा) निस्पृह होते हैं; इसीलिए वे बाह्य उपकरणरहित होते हैं।

अपहृत संयमवाले को शुभभाव होता है; इसलिए शुभभाव का निमित्त पुस्तक, कमण्डल इत्यादि भी होते हैं, जबकि उपेक्षासंयमवाले परम जिन मुनियों को एकान्ततः सर्वथा शुभराग का त्याग होता है; इसलिए बाह्य उपकरणों का भी उन्हें त्याग होता है।

मुनि को छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान दिन में हजारों बार आता है। एक अन्तर्मुहूर्त में भी

छठवाँ –सातवाँ गुणस्थान अनेक बार आता है। कारण यह है कि छठवें गुणस्थान की स्थिति / मर्यादा भी पौन सेकेण्ड के अन्दर है और सातवें गुणस्थान की स्थिति भी उससे आधी है। मुनि इन दो गुणस्थानों में आया–जाया करते हैं, किन्तु जब छठवें गुणस्थान में होते हैं; अर्थात्, विकल्प उत्पन्न होता है, तब उन्हें व्यवहारी साधु कहते हैं और विकल्प का अभाव होकर जब सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग में स्थित होते हैं, तब उन्हें निश्चय साधु / सर्व त्यागी साधु अथवा उपेक्षासंयमवाले साधु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उन्हें सब उपेक्षा हो गयी है, वे तो अन्दर में स्थिर हैं। यह बात श्री प्रवचनसार के तीसरे अधिकार *(गाथा 222)* में भी अपवादमार्ग और उत्सर्गमार्ग के रूप में आती है तथा प्रवचनसार में यह भी कहा है कि मुनि को शरीर है, वह जो कि सदा साथ है, उपकरण है; मुनि गुरु की वाणी सुनते हैं, वह भी उपकरण है और मुनि विनय करते हैं, वह भी उपकरण है; तथापि मुनिराज को उसकी स्पृहा नहीं है *(गाथा 225 –226)* क्योंकि वह वाणी सुनना, विनय करना इत्यादि विकल्प है न ? ऐसा मार्ग है। अहा ! निर्मलता की धारा में ऐसा विनय अथवा वाणी सुनने का विकल्प उत्पन्न होता है, वह मलिनता है और वे सास्रवी साधु हैं। जबकि सातवें गुणस्थानवाले निरास्रवी साधु हैं – ऐसी प्रवचनसार में मूल गाथा 245 है। गजब बात है ! देखो, सत्य ऐसा है। अहा ! सत्य तो सत्य ही है; सत्य को कुछ भी उलटा–सीधा करने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि परमजिन मुनि; अर्थात्, वीतराग जिनस्वरूप आत्मा में अन्दर स्थिर हो गये मुनि, शुद्धोपयोग में रमनेवाले मुनि, सर्वथा निस्पृह होते हैं और इस कारण वे बाह्य उपकरणरहित होते हैं; अर्थात्, उन्हें वाणी सुनना, विनय करना इत्यादि ऐसे उपकरण नहीं होते तथा ज्ञान और संयम के निमित्तरूप जो जड़ उपकरण हैं, वे भी नहीं होते; उन्हें कोई उपकरण नहीं होते। हाँ, अब फिर उन्हें अभ्यन्तर उपकरण होते हैं – ऐसा कहेंगे। जबकि अपहृत संयमी को छठवें गुणस्थान में सच्चा ज्ञान और संयम होने पर भी शुभविकल्प उत्पन्न होता है, शुभरागरूप अल्प स्पृहा रही है; ज्ञान और संयम के उपकरण लेने रखने की वृत्ति होती है; इसलिए वे सर्वथा निस्पृह नहीं हैं – ऐसी बात है। अरे ! यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। यह दिगम्बर धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है, किन्तु वस्तु की मर्यादा की स्थिति का वर्णन है; अतः यहाँ वस्तु की मर्यादा के वर्णन में मुनि की भूमिका में मलिनता का अंश कितना होता है और

मलिनता मिटकर निर्मलता कितनी होती है ? उसका वर्णन है।

अभ्यन्तर उपकरणभूत, निज परमतत्त्व को प्रकाशित करने में चतुर – ऐसा जो निरुपाधिस्वरूप सहजज्ञान, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ उन्हें उपादेय नहीं है।

सहजज्ञान, अर्थात् त्रिकाली स्वभाविक ज्ञान। देखो, अब कहते हैं कि अभ्यन्तर उपकरणभूत सहजज्ञान है और वह मुनि का उपकरण है। पूर्णानन्दस्वरूप अखण्ड अभेद निज परमतत्त्व को प्रकाशित करने में चतुर – ऐसा जो यह निरूपाधिस्वरूप स्वाभाविक ज्ञान है, जो पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह एक ही मुनि को उपादेय है; इसके अतिरिक्त वर्तमान पर्याय भी उपादेय नहीं है। अरे ! वस्तु की ऐसी स्थिति है। पहले यह निर्णय तो कर! परन्तु जिसे देव –शास्त्र–गुरु कैसे होते हैं ? शास्त्र के कथन कैसे होते हैं ? उसके निर्णय का भी ठिकाना न हो, उसे देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धा ही कहाँ है ? अहा ! दिगम्बर सन्तों की वाणी / कथनी तो देखो ! वह वस्तु के स्वरूप का ही वर्णन करती है।

यहाँ कहते हैं कि पूर्ण ज्ञानघन, चिद्घन ऐसा जो पूर्ण शक्तिरूप सत्त्व है, वही धर्मी जीव का / मुनि का उपकरण है। मुनि की समीपता में सहजभाव पड़ा है और वह मुनि का उपकरण है। अहा ! पूर्ण ज्ञानस्वरूप, पूर्ण आनन्दस्वरूप, पूर्ण ध्रुवस्वरूप आत्मा के समीप में मुनिराज के परिणाम वर्तते हैं, किन्तु कोई बाहर नहीं रहते हैं; उन्हें शुद्धोपयोग में अकेले स्व का आश्रय होता है, जबकि शुभराग में पराश्रय होता है क्योंकि विकल्प, बहिर्लक्ष्य से उत्पन्न होता है।

यहाँ मात्र 'सहजज्ञान कहा है' किन्तु उसके साथ त्रिकाली सहज आनन्द, त्रिकाली सहज स्थिरता / शान्ति / चारित्र इत्यादि भी ले लेना और इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी मुनि को उपादेय नहीं है – ऐसा कहते हैं। अहा ! उपकरण तो उपादेय नहीं, उपकरण सम्बन्धी राग तो उपादेय नहीं; परन्तु निर्मलपर्याय प्रगट हुई है, वह भी मुनि को उपादेय नहीं है। वे तो ध्रुवस्वरूप को ही उपादेय करके अन्दर स्वरूप में स्थित हैं। देखो, यह सातवें गुणस्थान की दशा ! ऐसी दशा मुनि को एक दिन में हजारों बार आती है, एक अन्तर्मुहूर्त में अनेक बार सातवाँ गुणस्थान मुनि को आता है – ऐसा धवल में पाठ है। अहो ! मुनि तो परमेश्वर पद में शामिल है न ! मुनि की दशा तो देखो !!

अपहृतसंयमधरों को परमागम के अर्थ का पुनः-पुनः प्रत्यभिज्ञान होने में कारणभूत - ऐसी पुस्तक, वह ज्ञान का उपकरण है....

जो शुभविकल्प में आये हैं - ऐसे अपहृतसंयमवाले को भी है तो शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और संयम; अर्थात्, उन्हें भी संयम / स्थिरदशा तो है परन्तु उन्हें सातवें गुणस्थान की शुद्धोपयोग दशा नहीं है; इसलिए वे शुभविकल्प में हैं और तब उन्हें ज्ञान के अभ्यास की निमित्तरूप पुस्तक होती है, वह उपकरण है। देखो, शास्त्र भी शुभविकल्प का निमित्त है तथा शास्त्र-पठन और वाँचना भी शुभविकल्प है - ऐसा कहते हैं। शास्त्र-पठन में लक्ष्य जाता है, वह विकल्प है, उससे कहीं शान्ति अथवा स्थिरता नहीं आती है; शान्ति अथवा स्थिरता तो अन्दर ध्रुव का आश्रय करने से आती है।

इस प्रकार कहा है कि शुद्धोपयोगवाले को निश्चय उपकरण आत्मा है; अर्थात्, शुद्धोपयोग का आश्रय आत्मा है, जबकि शुभविकल्पवाले को ज्ञान का उपकरण - ऐसा शास्त्र निमित्तरूप होता है। देखो! साधु, ज्ञान के उपकरण के रूप में शास्त्र पढ़ते तो हैं परन्तु वे व्यवहारी साधु हैं - ऐसा मार्ग है। अरे! ऐसी दशावन्त साधु कहाँ हैं ?

स्त्रियों को साधुपना होता ही नहीं, क्योंकि स्त्री को छठवाँ गुणस्थान ही नहीं होता है बापू! यह तो वस्तु की स्थिति है। भगवान्! यह बात कोई मात्र तेरे लिए ही नहीं है तथा तेरा अनादर करने के लिए भी नहीं है। अरे! वस्तु की स्थिति ही ऐसी है प्रभु! और वस्तु के स्वभाव में ऐसी स्थिति है, वहाँ अन्य प्रकार से कैसे माना जा सकता है ? मोक्षमार्गप्रकाशक के छठवें अधिकार में पण्डित टोडरमलजी ने लिखा है कि 'जैसे, हंस नहीं दिखते, इस कारण कहीं कौए को हंस नहीं माना जा सकता।' बापू! मार्ग ऐसा है। भाई! इसकी श्रद्धा में ऐसा यथार्थ स्वरूप आना चाहिए; अर्थात्, यह निर्ग्रन्थपने को ही मुनिपना मानना चाहिए, किन्तु इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से मुनिपना नहीं मानना चाहिए।

अहा! यह तो वीतरागमार्ग है! क्या यह किसी के पक्ष का मार्ग है ? नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ के ज्ञान में यह आया है कि मुनिदशा की भूमिका में ऐसी ही भूमिका होती है; अर्थात्, पाँच महाव्रतादि का विकल्प भी होता है; इसलिए यदि उसका यथार्थ ज्ञान नहीं करेगा तो ज्ञान विपरीत हो जाएगा। अहो! साधुपना किसे कहते हैं ? बापू!

अभी तो व्यवहारक्रिया का भी कहाँ ठिकाना है ? क्योंकि साधु के लिये बनाये हुए चौके का आहार-पानी साधु लेते हैं; इसलिए वह तो एकदम उद्दिष्ट आहार-पानी है। अरे! जैन पत्रिकाओं में लेख आते हैं कि महाराज को आहार देने का लाभ लेने के लिए चौका करने पधारिये। अरे रे! क्या ऐसे लेख जैनदर्शन की पत्र-पत्रिकाओं में हो सकते हैं ? एक ओर जैन के पत्र कहना और दूसरी ओर उसमें ऐसी गड़बड़ी की बातें डालना; अर्थात्, सिद्धान्त विरुद्ध लिखना! परन्तु लोगों को भान कहाँ है ?

हमारे पूर्व (स्थानकवासी) सम्प्रदाय के गुरु हीराचन्दजी महाराज प्रातः पाँच-पाँच गाँवों का विहार करके आये हों तो पहले गाँव में नहीं जाते, किन्तु गाँव के बाहर कोई नहर हो तो वहाँ एकान्त में बैठकर एक दो घण्टे स्वाध्याय करते, फिर साढे नौ-दस बजने पर गाँव में जाते, वह इसलिए कि गाँव में कोई श्रावक रोटी, चावल अथवा पानी की बूँद भी साधु के लिए नहीं बनावे; तत्पश्चात् वे चार-पाँच घरों से आहार लेते और पानी नहीं मिले तो उसकी जगह छाछ ले लेते। यदि उन्हें पता पड़ जाए कि यह पानी, साधु के लिए बनाया है तो बिल्कुल नहीं लेते - ऐसी बहुत कठोर क्रिया थी। गाँव में हीराचन्दजी महाराज जाते, तब लोगों में हलचल हो जाती थी। वे गाँव में जाते, तब पहले व्याख्यान में यह उपदेश देते कि साधु के लिए आहार -पानी बनाकर साधु को दे, वह तो गर्भ में ही गल जाएगा। यद्यपि उन्हें वस्तु की / तत्त्व की और उसकी दृष्टि की खबर नहीं थी। जबकि यहाँ तो दिगम्बर साधु की क्रिया का भी ठिकाना नहीं है। हमारी भी सम्प्रदाय में बहुत कठोर क्रिया थी क्योंकि उस समय ऐसा माना था कि साधु ऐसे ही होते हैं; इसलिए जैसा माना था, वैसा किया था, परन्तु वह साधुपना ही नहीं था; परन्तु उस समय इस बात का पता कहाँ था ?

यहाँ देखो तो सही, मुनिराज ने कैसी टीका की है! वे कहते हैं कि मुनि को अभ्यन्तर उपकरणभूत निज भगवान आत्मा है और अपहृत संयमियों को पुनः-पुनः शास्त्र अध्ययन में स्वाध्याय करने में कारणभूत ऐसी पुस्तक, अर्थात् शास्त्र, ज्ञान का उपकरण हैं।

शौच का उपकरण, कायविशुद्धि के हेतुभूत कमण्डल है; संयम का उपकरण - हेतु पींछी है। छठवें गुणस्थान में सच्चे सन्त को इसी प्रकार के उपकरण का विकल्प होता है।

इन उपकरणों को लेते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली प्रयत्नपरिणामरूप विशुद्धि ही आदाननिक्षेपणसमिति है - ऐसा (शास्त्र में) कहा है।

विशुद्धि, अर्थात् शुभभाव। यह व्यवहार समिति की बात है, अर्थात् यह जीव के परिणाम की बात है, किन्तु बाह्य की, अर्थात् जड़क्रिया की बात नहीं है। यह उपकरण परवस्तु है, जड़ है और यह जड़ की क्रिया जीव कर ही कहाँ सकता है। पर की सत्तावाली वस्तु को लेना अथवा रखना यह कार्य जीव नहीं कर सकता; इसलिए इस जड़ की क्रिया को करने का प्रश्न ही कहाँ है ? यह तो मात्र मुनि को विकल्प होता है कि यत्न से उपकरण रखना-लेना; इस विकल्प को व्यवहार समिति कहते हैं। बाहर की क्रिया; अर्थात्, परवस्तु लेना या रखना तो जड़ की क्रिया है, उस जड़ की क्रिया को आत्मा शुभभाव द्वारा भी नहीं कर सकता, क्योंकि उस जड़ उपकरण का लेना-रखना जड़ के कारण है। आत्मा को विकल्प आया; इसलिए आत्मा उस जड़ उपकरण को ले अथवा रख सकता है - ऐसा है ही नहीं।

अहा! यहाँ व्यवहारसमिति में अजीव की बात नहीं है परन्तु व्यवहारसमिति का शुभराग है, उसे ऐसा अजीव उपकरण निमित्तरूप होता है! बस; इतनी सी बात है। अहा! मार्ग तो जो है, वही होगा न बापू! वह दूसरा कैसे होगा ? यह भगवान द्वारा कथित मार्ग है कि जिसे गणधर अनुभव करते हैं और इन्द्र भी स्वीकार करते हैं। क्या यह कोई दो-पाँच सौ मनुष्य मानते हों - ऐसा मार्ग है ? नहीं। यहाँ कहते हैं कि जब मुनिराज, शुद्धात्मा की अनमोलदशा में से, शुद्धोपयोग में से च्युत हो जाते हैं, तब शुभभाव आता है और तब उन्हें ज्ञान का कारण - ऐसा उपकरण निमित्तरूप होता है। यद्यपि है तो यह व्यवहारसमिति का विकल्प भी बन्ध का कारण, तथापि वह आता है; वह शुभराग उत्पन्न हो, उसे आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। गजब बात करते हैं न!

श्वेताम्बर और दिगम्बर के बीच बहुत अन्तर है बापू! हजारों बोल का मूल में अन्तर है। वे अन्तरवाले बोल मैंने लिखे हैं क्योंकि मैंने तो दिगम्बर और श्वेताम्बर - दोनों के शास्त्र देखे हैं न ? श्वेताम्बर के भी करोड़ों श्लोक देखे हैं। वे साधु के लिए वस्त्र-पात्र ग्राह्य मानते हैं और कहते हैं कि हमारे साधु को वस्त्र-पात्र होते ही हैं, किन्तु वे उनके प्रति मूर्च्छा नहीं रखते हैं परन्तु भाई! वस्त्र-पात्र रहे हैं, वह मूर्च्छा को ही बताते हैं; इसलिए वस्त्र-पात्र रखना, किन्तु

मूर्च्छा नहीं रखना, यह परस्पर विरुद्ध बात है। अहा! श्वेताम्बर में बहुत अन्तर, अर्थात् विपरीतता है। भाई! बापू! वह तो मजदूर जैसा मार्ग है। यह किसी व्यक्ति के लिए बात नहीं है परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप है, यह कहना है। भाई! क्या हो सकता है? दुनियाँ को अच्छा लगे या न लगे, सत्य तो यह है।

कदाचित् दुनियाँ को यह बात अच्छी न लगे, परन्तु क्या इससे सत्य बदल जाएगा? दिगम्बर मत में '**आयानभंडमत निक्षेपणसमिति**' नाम नहीं है, किन्तु आदाननिक्षेपणसमिति नाम है, क्योंकि भंडमत; अर्थात्, वासन / बर्तन मुनि को कहाँ हैं? इस कारण आयानभंडमत निक्षेपणसमिति, यह श्वेताम्बर की शैली की भाषा है, किन्तु सनातन मार्ग में ऐसी भाषा अथवा समिति है ही नहीं। सनातन मार्ग में; अर्थात्, दिगम्बर मत में तो आदाननिक्षेपणसमिति, बस यह एक ही भाषा है तथा इस समिति में पुस्तक आदि निमित्तरूप होते हैं, जबकि श्वेताम्बर में साधु को वस्त्र-पात्र होते ही हैं - ऐसा कहते हैं। अरे! वस्त्र-पात्रवाले मुनि ही नहीं हैं। स्वयं वस्त्र-पात्र रखे और अपने को मुनि माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। ●

(- प्रवचन रत्न चिन्तामणि, हिन्दी, भाग-3, पृष्ठ 140-152)

मुनिराज और केवली भगवान में समानता

धर्मी श्रावक, मुनिराज की अद्भुत दशा को पहचानते हैं, उन्होंने स्वयं भी मुनियों जैसी वीतरागी शान्ति का स्वाद चखा है। मुनियों की तो क्या बात कहें? उन्हें मात्र संज्वलन कषाय शेष रह गई है, इसके अलावा तो वीतरागता ही है। **वे केवलज्ञान के बिलकुल समीप पहुँच गये हैं, संसार के कोलाहल से दूर चैतन्य की शान्ति में ठहरकर बर्फ जैसे हो गये हैं। वाह मुनिराज! आपमें और केवली भगवान में क्या अन्तर है?** *(- वीतराग-विज्ञान, भाग-6, पृष्ठ-31)*

5. प्रतिष्ठापनसमिति

(नियमसार, गाथा 65 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहित परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स॥ 65॥

गाथार्थ : जिसे पर के उपरोधरहित (दूसरे से रोका न जाये, ऐसा), गूढ़ और प्रासुक भूमिप्रदेश में मलादि का त्याग हो, उसे प्रतिष्ठापनसमिति होती है।

यह, मुनियों को कायमलादित्याग के स्थान की शुद्धि का कथन है।

यह कायमलादित्याग के; अर्थात्, दिशा-जङ्गल जाने आदि के स्थान की शुद्धि का कथन है।

शुद्धनिश्चय से जीव को देह का अभाव होने से अन्नग्रहणरूप परिणति नहीं है।

देखो, मूल, अर्थात् पहली बात यह करते हैं कि शुद्धनिश्चय से आत्मा के देह नहीं है; इसलिए अन्न ग्रहण करने का विकल्प भी आत्मा को नहीं है। आत्मा में वैसा विकल्प है ही नहीं। वस्तु की शुद्धदृष्टि और शुद्धपरिणति में अन्न ग्रहण का विकल्प ही नहीं है। जीव को अन्न ग्रहण परिणति नहीं है, यह कहने से अन्न ग्रहण करने का विकल्प ही वस्तु में; अर्थात्, जीवद्रव्य में नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मल-मूत्रादि के त्याग के काल में पाँचवीं समितिरूप शुभभाव व्यवहार से जीव को होता है, किन्तु निश्चय दृष्टि में तो जीव को यह राग नहीं है क्योंकि शुद्धनिश्चय से जीव के

देह ही नहीं है तो फिर मल-मूत्र का त्याग करना भी नहीं है। जिसे जड़ देहरहित ज्ञान विग्रह है; अर्थात्, जिसे ज्ञान और आनन्दरूप शरीर है – ऐसे शुद्ध स्वरूप आत्मा को, जब यह जड़ शरीर ही नहीं है तो फिर इस शरीर के मल-मूत्र का त्याग करना है – ऐसे विकल्परूप परिणति ही वस्तुतः उसे नहीं है। देखो, यह बात चलती है पाँचवीं समिति की; अर्थात्, काया के मल -मूत्र के त्याग की; इसलिए यह बात जिसे ऐसे विकल्प का काल हो, उसके लिये है; तथापि यहाँ सर्व प्रथम वस्तुस्थिति की बात करते हैं कि वस्तुस्थिति में; अर्थात्, जीव के स्वभाव में मल-मूत्र के त्याग का विकल्प ही नहीं है।

अन्तर में चिदानन्द भगवान आत्मा, परम अतीन्द्रिय आनन्द की कतली है और उसके रस को चूसनेवाले मुनिराज हैं। अहा! मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द के चूसनेवाले हैं। जैसे, लोग गन्ने का रस चूसते हैं; उसी प्रकार वस्तुतः मुनिराज / सन्त तो अतीन्द्रिय आनन्दरसकन्द प्रभु भगवान आत्मा में एकाग्र होकर उसके आनन्दरस को चूसते हैं। उन्हें निश्चय अन्तरस्वभाव की दृष्टि और परिणति है। उसमें अन्न ग्रहण के विकल्प का अभाव है; अर्थात्, मुनि को व्यवहार का अभाव है – ऐसा कहते हैं। देखो, यह बात सबसे पहले सिद्ध करते हैं – ऐसी चीज है। बहुत अद्‌भुत बात है।

अरे! जिसने अन्दर में राग का मल / मैल छोड़ दिया है, उसे मल-मूत्र का त्याग क्या? अर्थात्, उसे मल-मूत्र के त्याग का विकल्प क्यों होगा? जिसने अन्दर में ग्रहण योग्य पूर्णानन्दस्वरूप चैतन्य का ग्रहण करके शुद्धपरिणति प्रगट की है, उसे देह ही नहीं है तो फिर देह के मल-मूत्र के त्याग का विकल्प उसकी शुद्धपरिणति में हो – ऐसा कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि उसे इस प्रकार के विकल्प का अभाव है। इस प्रकार कहकर यहाँ दो बातें सिद्ध करते हैं कि निश्चय सम्यग्दृष्टिवन्त मुनि को मल -मूत्रादिक के त्याग का विकल्प आता है, उसका अपनी शुद्धपरिणति में अभाव है। ऐसा विकल्प, वह व्यवहार है और उसका वस्तु की अन्तरपरिणति में ग्रहण नहीं है। निर्मलानन्द प्रभु आत्मा शुद्ध आनन्दघन है और अकेले ज्ञान का पुञ्ज है। उसे चूसने में जो एकाग्र है, उस मुनि की अन्तरपरिणति में ऐसे व्यवहार के विकल्पों का अभाव है। बापू! तेरा मार्ग तो ऐसा है। अन्दर का उत्सर्गरूप प्रवाहमार्ग; अर्थात्, शुद्ध चैतन्य में आरूढ़ होकर निर्मलपरिणति प्रवाहित होना,

वह तेरा मार्ग है और उसमें इस व्यवहार के शुभविकल्प का अभाव है – ऐसा कहते हैं।

एक बार सम्प्रदाय के एक आचार्य को यहाँ के कितने ही शास्त्र दिये थे। उन्होंने पढ़े और फिर कहा कि हम तो व्यवहार में पढ़े हैं, इसमें हमें तो कुछ समझ नहीं पड़ती। परन्तु व्यवहार भी किसे कहना ? कि जिसे अन्दर में शुद्ध चैतन्य का निर्मल वीतरागी परिणमन हुआ है, उसे जो विकल्प आता है, उसे व्यवहार कहा जाता है, तथापि साधक जीव के निश्चय परिणमन में वह व्यवहार है ही नहीं।

प्रश्न – सम्यक्व्यवहार, अर्थात् ?

उत्तर – निश्चयसहित के व्यवहार को सम्यक्व्यवहार कहते हैं; इसके अतिरिक्त अकेला व्यवहार; अर्थात्, शुभभाव हो, वह व्यवहार है ही नहीं। यहाँ कहते हैं कि निश्चयपरिणति में विकल्परूप व्यवहार का अभाव है क्योंकि वह राग है। अरे! जहाँ धर्मी जीव / सम्यग्दृष्टि भी अन्दर में राग से मुक्त है तो मुनि की दशा तो बहुत ही वीतरागी परिणतिरूप से परिणमित हुई है; इसलिए उन्हें सञ्ज्वलन के राग का जो मन्द उदय है, उसका भी निश्चयपरिणति में त्याग है। बापू! वीतराग बात तो ऐसी है।

अहा! आत्मा वीतरागपिण्डमय प्रभु है। पण्डित बनारसीदासजी के नाटक – समयसार में आता है कि **'जिनपद नाही शरीर कौ, जिनपद चेतनमाही...'** *(जीवद्वार, पद 27)* शरीर आदि जिनपद नहीं हैं, रागादि भी जिनपद नहीं हैं; जिनपद तो चैतन्य में है। ज्ञान-आनन्द और वीतरागी स्वभावमय यह जिनपद चेतन्यमय है – ऐसे जिनपद का अनुभव जिसे वर्तता है, वह समकिती है। तदुपरान्त जिन्हें उग्र आनन्द में प्रचुर स्वसंवेदनमयदशा प्रगट हुई है, वे मुनि हैं; उन्हें अन्न ग्रहण की परिणति का अभाव है; अर्थात्, वे राग से भिन्न रहते हैं।

व्यवहार से (जीव को) देह है; इसलिए उसी को देह होने से आहारग्रहण है...

जीव को; अर्थात्, मुनि को निमित्तरूप से संयोगी वस्तु ऐसी देह है। निमित्तरूप से देह है, इसलिए आहारग्रहण का विकल्प होता है। 'आहारग्रहण है' का अर्थ यह है कि मुनि को आहारग्रहण करने का विकल्प होता है, इतना कहना है। आहारग्रहण तो आहार के; अर्थात्, पुद्गल के कारण हो जाता है परन्तु उस समय आहारग्रहण का विकल्प होता है – यह कहना है।

आहारग्रहण के कारण मलमूत्रादिक सम्भवित हैं ही .... आहार किया है; इसलिए फिर मल-मूत्रादि होते ही हैं, मल-मूत्रादि, अर्थात् विष्ठा, पेशाब, थूक इत्यादि।

इसीलिए संयमियों को मलमूत्रादिक के उत्सर्ग का (त्याग का) स्थान जन्तुरहित तथा पर के उपरोधरहित होता है।

जहाँ वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव भी न हों और 'इतने क्षेत्र में किसी को नहीं आना है', इस प्रकार किसी की आज्ञा से विरुद्ध न हो; अर्थात्, किसी का विरोध न हो, वहाँ मुनि, मल -मूत्रादि का त्याग करते हैं। अभी तो देखो न! चारों ओर हरियाली है, वह एकेन्द्रिय जीव है, उसके एक-एक टुकड़े में असंख्य जीव हैं। जो पहिले ताजे अंकुर फूटते हैं, उनमें तो अनन्त जीव होते हैं, किन्तु फिर उसमें प्रत्येक जीव हो जाता है; अत: ऐसे जीव-जन्तुवाली जमीन पर मुनिराज, मल-मूत्र का त्याग नहीं करते हैं।

पाँचवीं समिति के विकल्प में ही इस जाति की मर्यादा होती है कि जन्तुवाली जमीन पर मल-मूत्र के लिए नहीं बैठना। जहाँ अंकुर नहीं उगे हो, हरियाली भी न हो - ऐसी चींटी आदि जीव-जन्तुरहित जमीन को देखकर मुनिराज, मल-मूत्र का त्याग करते हैं क्योंकि मुनि तो छह काय की हिंसा के त्यागी हैं न! यह व्यवहारसमिति के विकल्प की बात है।

अहा! यह वनस्पति एकेन्द्रिय जीव है, इसके एक-एक टुकड़े में असंख्यात जीव हैं। राई के टुकड़े जितनी हरित वनस्पति लो तो उसमें असंख्य शरीर हैं और उस एक-एक शरीर में एक-एक जीव है; जबकि नये उगनेवाले अंकुर में तो एक शरीर में अनन्त जीव हैं और ऐसे असंख्य शरीर का एक अंकुर होता है। वीतराग के मार्ग में इस प्रकार इतने ज्ञेय हैं और उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी उतना ही विशाल है - ऐसा कहते हैं। कुछ समझ में आता है! उन एकेन्द्रिय जीवों की दया पालना या नहीं? उसका यहाँ प्रश्न नहीं है, क्योंकि आत्मा पर की दया पालन नहीं कर सकता, किन्तु यह तो इतने अधिक जो जीव और जड़रूप ज्ञेय हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी इतना ही विशाल है, यह कहना है।

यहाँ कहते हैं कि मुनि को मल-मूत्रादिक के त्याग का विकल्प होता है परन्तु जहाँ जीव की स्थिति हो - ऐसी जीव-जन्तुवाली जमीन में मल-मूत्रादि का त्याग नहीं करते हैं। बापू! यह तो वीतरागमार्ग है भाई! सर्वज्ञ परमेश्वर ने एक समय में तीन काल और तीन लोक

देखा है तो उस पर्याय की सामर्थ्य कितनी है? और ऐसे सर्वज्ञदेव ने बिना इच्छा के ओम् ध्वनि / दिव्यध्वनि द्वारा यह कहा है कि मुनियों का मार्ग ऐसा होता है।

देखो, अन्वयार्थ में पहला शब्द है न कि **परोपरोधेनरहिते;** अर्थात्, इन्कार किया हो कि आपको इस जगह नहीं आना है, मल-मूत्र नहीं करना है तो वहाँ मुनिराज नहीं जाते, मल -मूत्र का त्याग नहीं करते। जङ्गल में किसी ने तार की बाड़ से जमीन को बाँध दिया हो कि इतनी जमीन हमारी है, वहाँ से साधु निकलते हों, तब मल-मूत्र के त्याग का प्रसङ्ग हो तो मुनिराज उस जमीन पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करते। अहा! सच्चे मुनि तो जङ्गल में बसते हैं, उन्हें आत्मध्यान के आनन्द में इतनी अधिक मस्ती चढ़ गयी होती है कि जहाँ मनुष्य का आवागमन हो, वहाँ उनका स्थान नहीं होता - ऐसे एकान्त स्थान में भी मल-मूत्र का त्याग करना हो तो जहाँ जन्तुरहित और पर के उपरोधरहित जमीन हो, वहाँ मल-मूत्र का त्याग करते हैं - ऐसी छह काय के जीवों की रक्षा का विकल्प मुनिराज को होता है। अहो! गजब बात है।

उस स्थान पर शरीरधर्म करके..... देखो! मल-मूत्र को त्यागने के लिए जाना - यह शरीर का धर्म; अर्थात्, स्वभाव है, किन्तु जीव का धर्म नहीं है - ऐसा यहाँ कहते हैं। वह शरीरधर्म करके.... **फिर जो परसंयमी उस स्थान से उत्तर दिशा में कुछ डग जाकर, उत्तरमुख खड़े रहकर, कायकर्मों का (शरीर की क्रियाओं का) का..... उत्सर्ग करके.....**

प्रश्न - मुनिराज उत्तर दिशा में किसलिए जाते हैं?

उत्तर - पूर्व और उत्तर, यह विशेष दिशा है न! अत: यहाँ उत्तर दिशा विशेष गिनी है।

प्रश्न - ऐसी क्रिया आवश्यक है?

उत्तर - आवश्यक नहीं है परन्तु ऐसी क्रिया होती है, फिर भी मुनि उस क्रिया को भी लक्ष्य में से छोड़ देते हैं। शरीर की इस प्रकार की क्रिया हो, तब वे जानते हैं कि ये क्रिया होती है तथा उस समय व्यवहारसमिति का विकल्प होता है, उसे भी वे जानते हैं कि यह विकल्प है, फिर उसे भी लक्ष्य में से छोड़ देते हैं - ऐसी बात है। यह तो सर्वज्ञ का कहा हुआ पन्थ

है, यह कोई साधारण व्यक्ति का कहा हुआ पन्थ नहीं है; इसलिए बापू! वीतरागमार्ग समझना दुर्लभ है। 'कायकर्मों का उत्सर्ग करके' अर्थात्, आत्मध्यान के समय शरीर की क्रिया का लक्ष्य भी छूट जाता है - ऐसा कहते हैं।

संसार के कारणभूत हों - ऐसे परिणामों का..... उत्सर्ग करके.....

भाषा देखो, अहो! ऐसा करना, ऐसा छोड़ना यह राग है, जो व्यवहारसमिति है; वस्तुतः वह भी संसार का कारणभूत परिणाम है - ऐसा यहाँ कहते हैं क्योंकि वह शुभविकल्प है न! जीव -जन्तुवाली जगह पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना - ऐसा विकल्प है, वह भी राग है, संसार है, संसार का कारण है। 'संसार के कारणभूत हों - ऐसे परिणामों का..... ' कहने से मुनि को व्यवहारसमिति का विकल्प उत्पन्न होता है, वह संसार का कारण है क्योंकि उन्हें दूसरा कोई संसार का कारण नहीं है; अर्थात्, उन्हें अशुभ विकल्प नहीं होता; उन्हें शुभभावरूप उदयभाव होता है, वही संसार है, संसार का कारण है।

अहा! भगवान आत्मा का स्वरूप तो संसार के कारण से रहित है। ऐसा शुद्ध आनन्दघन प्रभु आत्मा, जिसकी निर्मलानन्ददशा में / परिणति में वर्तता है, उस मुनि को ऐसी समिति का विकल्प आता है, वह संसार का कारण है और उस विकल्प को मुनि छोड़ देते हैं। देखो, यहाँ तो व्यवहार-एषणासमिति का विकल्प; अर्थात्, निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करने की वृत्ति और व्यवहार प्रतिष्ठापनसमिति का विकल्प; अर्थात्, निर्दोषरूप से मल-मूत्र का त्याग करने की वृत्ति भी संसार का कारण है - ऐसा कहते हैं। अरे! अज्ञानी को अभी व्यवहारसमिति किसे कहते हैं और निर्दोष आहार-पानी कैसे लिये जाते हैं? इसकी समझ का भी ठिकाना नहीं है और अपने को मुनि मानता है।

यहाँ कहते हैं कि वीतरागस्वभाव में आरूढ़ हुए आत्मा को यह व्यवहारसमिति का राग संसार का कारण है। धन्य रे मार्ग!

प्रश्न - व्यवहारसमिति का राग करना तो पड़ता है न?

उत्तर - भाई! मुनि को व्यवहारसमिति का राग आता है, करना नहीं पड़ता; वे उस राग के भी कर्ता नहीं हैं। यहाँ व्यवहारसमिति के राग की बात है, किन्तु बाह्य जड़क्रिया की बात

नहीं है क्योंकि बाह्य जड़क्रिया जीव कब करता है ? इसलिए कहा है कि व्यवहारसमिति का राग आता है, उसके कर्ता भी मुनि नहीं हैं; वे तो राग आता है, वह संसार का कारण है – ऐसा जानकर अन्दर स्वभाव में स्थिर होते हैं। अब, जहाँ मुनि को व्यवहारसमिति का विकल्प भी संसार का कारण है, वहाँ अज्ञानी के आर्तध्यान–रौद्रध्यान, कमाना, खाना, भोगना इत्यादिरूप पाप तो महा–संसार का कारण है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा के ज्ञानी–ध्यानी, आत्मा में रमनेवाले मुनियों को, सन्तों को भी शरीर निमित्त सम्बन्ध में है; इसलिए मल–मूत्र के त्याग का प्रसङ्ग होता है; अर्थात्, ऐसा विकल्प आता है, तथापि मुनिराज वह सब शरीरधर्म करके संसार का कारण – ऐसा व्यवहारसमिति का विकल्प छोड़ देते हैं।

तथा संसार के निमित्तभूत मन का उत्सर्ग करके..... मन का सम्बन्ध करता है, वहाँ राग उत्पन्न होता है, जो कि संसार का कारण है; इसलिए मुनि, मन का भी उत्सर्ग करते हैं। मन का सम्बन्ध करना, वह संसार है और भगवान आत्मा का सम्बन्ध करना, वह मोक्ष का मार्ग है। अहा! सन्त तो अन्तरस्वभाव में शान्तरस से, वीतरागरस से जम गये हैं। श्लोक 87 में भी आया था कि मुनि को धीरज, सहनशीलता, क्षमा और मैत्रीभाव होता है। मुनिराज को धीरज; अर्थात्, अत्यन्त शान्तरस प्रगट हुआ है, बहुत ही सहनशीलता है, बहुत ही शान्ति; अर्थात्, क्षमा प्रगट हुई है और समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव है – ऐसे मुनि को मल–मूत्र का त्याग करनेरूप देहक्रिया के समय विकल्प होता है परन्तु फिर मन के सम्बन्ध से हुए उस विकल्प को वे तोड़ देते हैं।

देखो, भाषा क्या है ? कि 'संसार के निमित्तभूत मन का उत्सर्ग करके' अर्थात्, यहाँ हृदय में जड़ मन है, उसके सम्बन्ध में आने पर राग होता है और वह राग संसार का कारण है; इसलिए उसका मुनिराज उत्सर्ग करते हैं। अहा! वाणी जड़, शरीर जड़ और खिले हुए पंखुड़ीवाले कमल के आकाररूप हृदय में द्रव्यमन है, वह भी जड़ है। वाणी, शरीर और मन – ये तीनों जड़ हैं और अजीव होकर रहे हैं। जबकि उनसे भिन्न स्वयं भगवान आत्मा है। अतः कहते हैं कि मन का सम्बन्ध होने पर भी राग होता है, फिर भले ही वह शुभराग हो और वह राग, संसार का ही कारण है।

देखो, यहाँ व्यवहारसमिति की बात में भी यही बात कहते हैं कि मल-मूत्र का त्याग देखकर करना इत्यादि व्यवहारसमिति के विकल्प के समय मन का सम्बन्ध होता है, राग का सम्बन्ध होता है; जबकि भगवान आत्मा तो मन के सम्बन्धरहित वस्तु है। अब, ऐसी वस्तु जिसे दृष्टि में / सम्यग्दर्शन में आयी है, तदुपरान्त जिसे राग के अभावस्वरूप शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, उस मुनि को व्यवहारसमिति का विकल्प आता अवश्य है, क्योंकि अभी शरीर है; इस कारण मल-मूत्र के त्याग का विकल्प होता है परन्तु फिर उस विकल्प को वे मुनिराज छोड़ देते हैं। अहा! यह मार्ग कायरों द्वारा झेलना अथवा सुनना भी कठिन पड़े, ऐसा है। कहा है न कि —

वचनामृत वीतराग के, परम शान्तरस मूल
औषध जो भवरोग के, कायर को प्रतिकूल

भगवान की वाणी शान्त... शान्त... शान्त... होती है। वह वीतरागता को बतानेवाली, ग्रहण करानेवाली और राग को छुड़ानेवाली है। हाँ, वीतरागवाणी, राग का ज्ञान करनेवाली है कि इस भूमिका में ऐसा राग होता है। इससे तू भी 'ऐसा राग यहाँ होता है' इस प्रकार जाननेवाला है, तथापि वह राग छोड़ने योग्य है, आदर करने योग्य नहीं। अरे, व्यवहारसमिति भी आदर करने योग्य नहीं है - ऐसा वीतराग की वाणी कहती है।

भाई! तेरा स्वभाव वीतराग मूर्ति है न! प्रभु! तू राग से रहित निष्क्रिय, अकषायस्वभाव का पिण्ड है - ऐसे अकषायस्वभाव का आश्रय लेकर, जिसने प्रथम समकित के योग्य और फिर मुनि के योग्य अकषायस्वभाव की निर्मलदशा प्रगट की है, उसे संसार के निमित्तभूत मन का सम्बन्ध उत्सर्ग करने / छोड़ देने योग्य है। देखो, यहाँ जड़ मन को संसार का निमित्त और उसके सम्बन्ध से जो परिणाम होते हैं, वह संसार का मूल है - ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है कि जड़कर्म है, वह तो संसार का निमित्त है और उसका सम्बन्ध करने से जो परिणाम होते हैं, वह संसार का मूल कारण है - ऐसा कहते हैं। देखो, ऊपर कहा है न कि संसार के कारणभूत हों - ऐसे परिणाम का तथा संसार के निमित्तरूप मन का... इस प्रकार कहा है न भाई! इसका आशय यह है कि व्यवहारसमिति का शुभविकल्प / विकार, संसार का कारण है और उस विकल्प में मन का सम्बन्ध; अर्थात्, मन निमित्त होने से मन, संसार का निमित्त

है। दूसरे प्रकार से कहें तो संसार का निमित्त, जड़मन और संसार का उपादान; अर्थात्, मूल कारण अपना विकारीपरिणाम, इन दोनों को; अर्थात्, संसार के निमित्तभूत मन और संसार के कारणभूत विकारीपरिणाम को मुनिराज लक्ष्य में से छोड़ देते हैं।

अहा! जिसकी दृष्टि में अपूर्णता व विपरीतता भी नहीं है; अरे! यह व्यवहारसमिति का विकल्प उठे, वह भी जिसकी दृष्टि में नहीं है, किन्तु जिसकी दृष्टि में निर्मलानन्द प्रभु चैतन्य भगवान आत्मा / परिपूर्ण परमात्मा मैं हूँ – ऐसा दिखता है, उन मुनि की बात करते हुए यहाँ कहते हैं कि ऐसी मुनिपने की स्थिति में भी शरीर का सम्बन्ध होने से मल–मूत्र उत्पन्न होने का तथा उनके त्याग का प्रसङ्ग बनता है और तब मल–मूत्र के त्याग सम्बन्धी जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह संसार का कारण है; उस विकल्प में / परिणाम में मन का सम्बन्ध होता है, मन निमित्त होता है।

अब कहते हैं कि मुनिराज —

1. व्यवहारसमिति के शुभपरिणाम के समय मल–मूत्रादिक निकलनेरूप काया की जड़रूप क्रिया है, उसे छोड़ देते हैं; अर्थात्, मुनिराज शरीर की क्रिया का लक्ष्य छोड़ देते हैं।

2. संसार के मूल कारण – ऐसे व्यवहारसमिति के परिणाम को छोड़ देते हैं, और

3. व्यवहारसमिति के शुभपरिणाम का निमित्त – ऐसा जड़मन है, उसका भी सम्बन्ध छोड़ देते हैं।

देखो, यह मुनिराज की बात चलती है।

प्रश्न – मुनिराज, मन का सम्बन्ध छोड़ दें, तब तो वे वीतराग हो जाएँ?

उत्तर – सुन! जितना मन का सम्बन्ध छूटा है, उतने वीतराग ही हैं – ऐसा मुनिपना है। अरे! सम्यग्दर्शन भी कैसा है बापू! कि उसमें समकिती को पूर्णानन्द का नाथ दृष्टि में आया है और उसे व्यवहार का; अर्थात्, दया–दान–व्रतादि की शुभक्रिया के परिणाम का भी त्याग वर्तता है, क्योंकि उस राग का स्वभाव में अभाव है। जब समकिती की दशा ऐसी है, तब यहाँ तो मुनि की बात चलती है कि जो अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं, वे संसार के कारणरूप परिणाम का त्याग करते हैं और कायोत्सर्ग करते हैं; अर्थात्, काया का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप

में स्थिर होते हैं। देखो, इसे यहाँ कायोत्सर्ग कहते हैं तथा वे मन का भी उत्सर्ग करते हैं; अर्थात्, मन के सम्बन्ध का त्याग करते हैं, मन का सम्बन्ध छोड़ते हैं; ध्यान में लीन होकर मन को भी छोड़ देते हैं, यह नास्ति से बात की है।

अब, फिर वे क्या करते हैं, यह कहते हैं।

निज आत्मा को अव्यग्र (एकाग्र) होकर ध्याता है...

मल-मूत्रादि का त्याग करके, फिर मुनिराज अपने आनन्दस्वरूप आत्मा को ध्यान में लेकर अव्यग्ररूप से / एकाग्ररूप से उसका ध्यान करते हैं; अर्थात्, आत्मा को ध्येय बनाकर उसमें स्थिर होते हैं। देखो, व्यवहारसमिति के विकल्प के बाद मुनि का यह कर्तव्य है कि काय-क्रिया का लक्ष्य, विकल्प और मन का सङ्ग छोड़कर अन्दर ध्यान में जाना - ऐसा यहाँ कहते हैं। अरे! श्वेताम्बरों ने तो सम्पूर्ण बात ही बदल डाली है। वीतराग का जो परम्परा मार्ग था, वह सब बदल डाला है। अरे, सब शास्त्र ही नये कल्पित बनाये हैं न!

यहाँ कहते हैं कि मुनि को व्यवहार से शरीर है; इसलिए अन्न ग्रहण है और इसलिए मल -मूत्रादि भी है। उन मल-मूत्रादि के त्याग के समय जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह विकल्प भी स्वरूप में नहीं है; इसलिए ऐसा विकल्प भी बन्ध का-संसार का कारण है। तात्पर्य यह है कि मन का सङ्ग करके जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, वह बन्ध का कारण है; इस कारण मुनिराज उन्हें छोड़कर निज आत्मा को ध्याते हैं। देखो, 'मुनि निज आत्मा को ध्याते हैं' - ऐसा यहाँ कहा है परन्तु भगवान को अथवा अरहन्त को ध्याते हैं - ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वे भगवान और अरहन्त तो पर हैं और पर का ध्यान करने से राग होता है।

अहा! मिथ्यादृष्टि को कहाँ कुछ है? निश्चय भी कहाँ है और व्यवहार भी कहाँ है? जबकि यहाँ तो जिसे स्वरूप की दृष्टि / भान और अनुभव प्रगट हुआ है तथा स्वसंवेदन की /प्रत्यक्ष आनन्द की उग्रता जिसकी दशा में वर्तती है - ऐसे मुनि की बात है और वे ही सच्चे मुनि हैं; अतः कहते हैं कि मुनि, निज आत्मा को अव्यग्र होकर ध्याते हैं। देखो, अव्यग्र होकर कहने से यह बात भी आ जाती है कि व्यवहारसमिति का विकल्प है, वह व्यग्रता है और उसे छोड़कर चिदानन्द भगवान आत्मा में अव्यग्र / एकाग्र होकर आत्मा को ध्याते हैं। देखो, यह निर्विकल्प ध्यान!

अहा! व्यवहारसमिति की बात करते हैं तो भी उसमें यह निश्चय की बात की है, क्योंकि निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? और निश्चयसहित व्यवहार होने पर भी, व्यवहार का निश्चय में अभाव है – ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। शुद्धपरिणति में शुभराग का अभाव है, तथापि मुनि को शुभराग होता है और तब भी वे उसे छोड़कर निज स्वरूप के ध्यान में लीन होते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

यह मार्ग है बापू! अरे, भाई! यह रीति है – ऐसा पहले जान तो सही! परन्तु अभी जिसे इस मार्ग को अथवा रीति को जानने का ठिकाना भी नहीं है, जिसकी श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है, वह मार्ग को अथवा रीति को किस प्रकार प्राप्त करेगा? यह तो अभी व्यवहारश्रद्धा है, परलक्ष्यी ज्ञान है, परन्तु जिसके परलक्ष्यी ज्ञान में भी यथार्थता नहीं है, उसे स्वलक्ष्यी ज्ञान की यथार्थता आती ही नहीं। अहा! परलक्ष्यी ज्ञान में भी अभी जिसे यथार्थता नहीं आयी है; अर्थात्, व्यवहार से लाभ होता है – ऐसा जो जानता है, उसका तो वह परलक्ष्यी ज्ञान भी मिथ्या है परन्तु जो परलक्ष्यी ज्ञान में यथार्थपना आया है; अर्थात्, राग से, व्यवहार से लाभ नहीं है और समकिती, व्यवहार से मुक्त है – इत्यादि ऐसा ज्ञान समकित होने के पूर्व हुआ है, वह भी अभी परलक्ष्यी ज्ञान है, किन्तु सम्यग्ज्ञान नहीं; सम्यग्ज्ञान तो उस परलक्ष्यी ज्ञान का भी लक्ष्य छोड़कर स्व-चेतन्य का लक्ष्य करने पर प्रगट होनेवाली ज्ञान की दशा को कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि मुनिराज 'मेरा पूर्ण प्रभु मैं हूँ, मैं ही भगवान हूँ' – ऐसा; मात्र ऐसा विकल्प नहीं, किन्तु आत्मा को ध्यान में लेकर अपने पूर्ण महिमावन्त भगवानस्वरूप स्वभाव में एकाग्र होते हैं, उसे ध्याते हैं, धाते हैं, अर्थात् आनन्द का स्वाद लेते हैं। जैसे, बालक माता को धाता है, तब दूध पीता है न! इसी प्रकार मुनिराज, अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ भगवान आत्मा में एकाग्र होकर उसे धाते हैं, तब आनन्द पीते हैं; निर्विकल्प आनन्द का स्वाद लेते हैं। अद्भुत काम है भाई। अरे! यह सुनकर कायर का कलेजा तो काँप उठता है कि ऐसा हो सकता है? ऐसा हो सकता होगा? हाँ भाई, ऐसा ध्यान करके अनन्त जीव, मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं।

अथवा पुनः-पुनः कलेवर की (शरीर की) भी अशुचिता सर्व ओर से भाता है....

मुनिराज या तो आत्मा का ध्यान करते हैं या ऐसा विचार-विकल्प करते हैं कि अहो! इस शरीर में तो माँस, हड्डियाँ, विष्ठा, मूत्र, चमड़ी भरे हुए हैं। इस प्रकार शरीर का और शरीर के प्रत्येक अवयव का अशुचिपना है - ऐसी भावना करते हैं। वे शुभविकल्प से इस शरीर का-कलेवर का अशुचिपना भाते हैं कि यह शरीर तो माँस, हड्डियाँ, खून, पीप इत्यादि का पिण्ड है; जबकि भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द आदि गुणों का पिण्ड है। इस प्रकार यह आत्मा शुचि है और शरीर अशुचि है। समयसारजी की 72 वीं गाथा में आता है कि -

1. पुण्य-पाप के परिणाम अशुचि हैं। देखो, दया, दान, व्रत, भक्ति के पुण्यपरिणाम / शुभविकल्प भी अशुचि है - ऐसा वहाँ आता है। तदुपरान्त वहाँ यह भी कहा है कि —

2. पुण्य-पाप के परिणाम विपरीत; अर्थात्, जड़ हैं। दया, दान अथवा मुनिव्रत का विकल्प उत्पन्न हो, वह भी अचेतन-जड़ है, क्योंकि राग में जानने की शक्ति नहीं है, तथा

3. पुण्य-पाप के परिणाम दु:खकारण हैं। देखो, शुभराग भी दु:खकारण है - ऐसा वहाँ कहा है। जबकि भगवान आत्मा - (1) अशुचि के समक्ष शुचि है, (2) जड़ के-राग के सामने चैतन्यस्वरूप है, और (3) दु:खकारण के सामने आनन्दस्वरूप है - ऐसा भेदज्ञान करके मुनिराज आत्मा को ध्याते हैं परन्तु यदि वे आत्मा में स्थिर नहीं रह सकते हों तो कलेवर का-शरीर का अशुचिपना भाते हैं - ऐसा यहाँ कहते हैं।

अहा! यह शरीर-कलेवर तो अशुचि है, उसमें अकेले मल, मूत्र, वीर्य, अंतड़ियाँ, चर्बी इत्यादि भरे हैं और ऊपर से मिट्टी की तरह चमड़ी लपेटी गयी है, अन्दर चमड़े में माँस, मल-मूत्रादि भरे हैं; इस प्रकार शरीर की अशुचि का मुनिराज विचार करते हैं। बारह भावना में एक अशुचिभावना भी आती है न! यहाँ कहते हैं कि शुचिस्वरूप आत्मा की एकाग्रता करने से पहले ऐसी भावना कर कि मैं तो शुचि, उज्ज्वल, निर्मल हूँ; जबकि यह शरीर, अशुचि है, वह मेरा नहीं है; तथापि वह सम्बन्ध में / संयोग में है, फिर भी अशुचि है।

अरे! अज्ञानी को तो जरा सुहाना मक्खन जैसा शरीर हो तो मानो मैं क्या कर दूँ - ऐसा लगता है परन्तु बापू! प्रभु! यह तो माँस और हड्डियों पर चमड़ी की मिट्टी है। जैसे, ऊपर से गन्ने का छिलका निकाल दो, उसी प्रकार इस शरीर पर गन्ने के छिलके जैसी चमड़ी निकाल दो तो यह शरीर थूकने जैसा भी नहीं दिखता। तू शरीर को अच्छा, सुन्दर, सुहावना कहता है

परन्तु यह सब समझने जैसा है। जब राग की छाल उखाड़कर देखेगा तो भगवान आत्मा अकेला आनन्दकन्दमय दिखाई देगा। बापू! मार्ग तो ऐसा है। वीतरागमार्ग; अर्थात्, आत्मा का मार्ग कोई अलौकिक है। दुनिया ने उसे बाहर से माना है, कल्पित किया है, किन्तु वह ऐसा मार्ग नहीं है। अरे! जिससे सम्पूर्ण संसार उड़ जाए और मुक्तदशा की अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो, वह मार्ग कोई साधारण चीज नहीं होती बापू! लौकिक (अज्ञानी) के साथ उसका मेल कभी नहीं होता।

यहाँ देखो, क्या कहते हैं? कि मुनिराज कलेवर का सर्व ओर से / चारों ओर से अशुचिपना भाते हैं। अब, अस्ति-नास्ति करते हैं।

.....उसे वास्तव में प्रतिष्ठापनसमिति होती है। दूसरे स्वच्छन्दवृत्तिवाले यतिनामधारियों को कोई समिति नहीं होती।

- ऐसे सन्त को प्रतिष्ठापनसमिति; अर्थात्, मल-मूत्रादि परित्यागरूप समिति होती है परन्तु वीतरागमार्ग को छोड़कर अपनी कल्पना के मार्ग में पड़े हों - ऐसे स्वच्छन्दवृत्तिवाले यति / साधुनामधारियों को एक भी समिति नहीं होती। देखो, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं यह बात कहते हैं क्योंकि गाथा में **पइट्ठासमिदी हवे तस्स** — ऐसा है न! उसमें से टीकाकार मुनिराज ने अस्ति-नास्ति निकाली है कि उपरोक्त कथनानुसार मुनिराज को समिति होती है परन्तु दूसरे स्वच्छन्दियों को कोई समिति नहीं होती। देखो, मुनिपना ऐसा होता है परन्तु कोई गृहस्थाश्रम में हो और वस्त्र पहने हो, उसे मुनिपना हो जाए - ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ कहते हैं कि कोई वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। कठोर काम है भाई!

प्रश्न - अपवादमार्ग तो होता है न?

उत्तर - अपवाद, विकल्प का होता है; अर्थात्, अपवादमार्ग अट्ठाईस मूलगुण के विकल्परूप होता है, किन्तु वस्त्र-पात्रसहित नहीं होता तथा उत्सर्ग के बिना अपवादमार्ग होता ही नहीं; इसलिए यह कथन है कि मुनि को अन्दर में निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसंयम तो प्रगट हुए हैं परन्तु चारित्र की पूर्णता होनी चाहिए, वह नहीं है; इसलिए विकल्प उत्पन्न होता है और उसे अपवादी संयम कहा जाता है।

प्रश्न – मुनि को चाहे जैसा निमित्त होता है न ?

उत्तर – नहीं; मुनि को चाहे जैसा निमित्त नहीं होता। मुनि को यहाँ कहा है, उतना ही निमित्त होता है, इसके अतिरिक्त दूसरा निमित्त नहीं होता। आदान-निक्षेपणसमिति में पुस्तक, पीछी और कमण्डल लेने अथवा रखने का विकल्प / शुभराग मुनि को होता है; इसलिए बाहर में निमित्तरूप से वे ही होते हैं; अन्य वस्तुएँ नहीं होती। भाई ! मार्ग तो ऐसा है, यही सत्य है। वस्तु का स्वरूप तो यही है। भाई, इसमें वाद-विवाद करने योग्य नहीं है। किसके साथ वाद-विवाद करना ?

अहा ! स्वच्छन्दवृत्तिवाले; अर्थात्, भगवान आत्मा रागरहित वस्तु है, वह जिसकी दृष्टि में नहीं आया, उसे जिसने अनुभव में नहीं लिया और जो राग से ही निश्चय होना मानकर बैठ गया है, वह और उसकी जो सब व्यवहार की क्रियाएँ हैं, वह स्वच्छन्दी क्रियाएँ हैं।

ऐसा क्यों कहा; अर्थात्, अज्ञानी की क्रियाओं को व्यवहार न कहकर स्वच्छन्द क्रिया क्यों कहा ? क्योंकि व्यवहार तो जिसे आत्म-अनुभव और आनन्दस्वरूप का भान हुआ है – ऐसे धर्मी जीव को जो शुभराग वर्तता है, उसे कहा जाता है; इसके अतिरिक्त जिसे आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और आत्मानुभव नहीं है, उसकी वृत्तियाँ तो पूर्णरूप से स्वच्छन्द है। ऐसे यति नामधारी को तो स्वच्छन्दी वृत्ति ही है। लो भाई ! यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

अहा ! जिन्हें राग की क्रिया से रहित निर्विकल्प चैतन्य भगवान आत्मा का अनुभव और स्वीकार नहीं हुआ है, जिन्हें अन्तर्मुख होकर पूर्णानन्दस्वभाव की प्रतीति नहीं हुई है, जिनके ध्यान में आत्मद्रव्य नहीं आया है, जिन्हें भगवान आत्मा भाषित नहीं हुआ है, जिन्हें परमानन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा का दृष्टि / सम्यग्दर्शन में और सम्यग्ज्ञान में साक्षात्कार नहीं हुआ है और जो अकेले क्रियाकाण्ड में; अर्थात्, शुभराग में वर्तते हैं, वे स्वच्छन्दवृत्तिवाले, व्यवहाराभासवाले हैं; उन्हें ऐसी समिति का शुभविकल्प होने पर भी वह सब स्वच्छन्दवृत्ति है परन्तु व्यवहारसमिति नहीं है।

प्रश्न – यतिनामधारी, अर्थात् ?

उत्तर – नामनिक्षेप से यति। जो अट्ठाईस मूलगुण पालन करता है और जिसे लोग यति

कहते हैं, वह; किन्तु वास्तविक यति नहीं। एक बहुरूपिया था। उसने साधु का वेष धारण किया, उसने साधु को वेष ऐसा धारण किया कि राजा प्रसन्न हो गया और धन देने लगा। बहुरूपिया ने वह धन नहीं लिया और कहा कि पैसा नहीं लूँगा, क्योंकि मैं अभी साधु हूँ; इसलिए हमारे धन नहीं चल सकता। देखो, अब साधु के वेषवाला बहुरूपिया भी यह कहता है कि हम को परिग्रह नहीं चल सकता, तो फिर सच्चे साधु की तो बात ही क्या कहना ?

रावण की बात भी शास्त्र में आती है न! रावण कहता है कि सीताजी प्रसन्न नहीं होती तो क्या करना चाहिए ? तब किसी ने रावण से कहा कि तुम राम का वेष धारण कर लो, क्योंकि सीताजी सम्यग्दृष्टि और महाब्रह्मचारिणी सती है, ऊपर से इन्द्र उतर का आवे तो भी उन्हें रामचन्द्रजी के अतीरिक्त दूसरे का विकल्प नहीं आ सकता। एक पति के विकल्प के अतिरिक्त दूसरे का विकल्प नहीं हो सकता। तब रावण कहने लगा कि भाई! तुम मुझे शिक्षा देते हो कि राम का वेष धारण करके जाओ, सीताजी प्रसन्न हो जाएँगी, परन्तु जब मैं राम का वेष धारण करता हूँ, राम का रूप धारण करता हूँ और सीताजी के समीप जाता हूँ तो मुझे वे मातारूप में दिखती हैं। अहा! तो फिर यदि साक्षात् राम होऊँ तो उसकी क्या बात करना ? इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि निजपद रमैं सो राम कहिये; अर्थात्, जो निजपद में रमता है, उसे राम कहते हैं।

देखों न! यहाँ क्या कहते हैं ? जो निज आत्मा को ध्याता है, उसे वास्तव में समिति होती है, किन्तु स्वच्छन्दवृत्तिवाले अज्ञानियों को समिति नहीं होती। इस प्रकार कहकर अकेली व्यवहार समितिवाले यतिनामधारियों का निषेध किया है। द्रव्यलिङ्गी भले ही अत्यन्त नग्न हों और उन्हें पञ्च महाव्रत का विकल्प भी भले ही हों; तथापि वे सब स्वच्छन्दवृत्तिवाले हैं क्योंकि उन्हें अन्दर में से भगवान आत्मा जागृत नहीं हुआ है। व्यवहार को जाननेवाला जगे बिना, व्यवहार की समस्त वृत्तियों को स्वच्छन्दवृत्ति कहा है। ●

(- प्रवचन रत्न चिन्तामणि, हिन्दी, भाग- 3)

पञ्चेन्द्रियजय

रस रूप गन्ध तथा फरस अरु, शब्द शुभ असुहावने।
तिनमें न राग-विरोध, पंचेन्द्रीय जयन पद पावने॥

(छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द-4 उत्तरार्द्ध)

मुनिराज पाँचों इन्द्रियों के शुभ या अशुभ विषय, अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण और शब्दों में राग-द्वेष नहीं करते; इसलिए वे पाँचों इन्द्रियों को जीतनेवाले हैं। जहाँ अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का अतिशय वेदन वर्तता हो, वहाँ इन्द्रिय-विषयों की अधीनता कैसे हो सकती है ? कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे; कोई बाण मारे या पूजा करे; नीरस आहार मिले या सरस आहार मिले - इत्यादि अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में आकुलता नहीं होती। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होने पर ही ऐसी दशा हो सकती है। जिसे चैतन्य के आनन्द का वेदन नहीं होता, वही इन्द्रिय-विषयों में सुख मानता है। धर्मी ने सिद्ध समान चैतन्यसुख का स्वाद चखा है, उस सुख में लीनता के बल से वे पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतते हैं।

छह खण्ड की उत्तम भोगसामग्री को भोगनेवाला सम्यग्दृष्टि, उस सामग्री में किञ्चित् भी सुख नहीं मानता। वह अपने आत्मा को सुखस्वरूप अनुभव करता है, परन्तु अभी उसके परिणामों में विशेष स्थिरता नहीं हुई; इसलिए विषयों की तरफ उसका लक्ष्य जाता है। उसे राग-द्वेष भी होते हैं, परन्तु वह उन्हें दु:खरूप समझता है, जबकि मुनिराज को तो परिणामों की

स्वरूप में विशेष स्थिरता के कारण ऐसी वीतरागता प्रगट हो जाती है कि बाह्य-विषयों के प्रति उन्हें राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते, इसलिए वे पञ्चेन्द्रिय-जयी हैं।

चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने पर मन में कोई विचार उत्पन्न नहीं होते, बोलने और चलने-फिरने की कोई वृत्ति नहीं होती; यही मन-वचन और काया की गुप्ति है और अतीन्द्रिय आनन्द के बल से इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होना इन्द्रियजय है। ●

वीतरागी सन्तों के विरोधी कुगुरुओं के सेवन से मिथ्यात्व की पुष्टि

अरे, देह से भिन्न मेरा अखण्ड चेतनतत्त्व क्या है और उसका अनुभव कैसा है? इसका सच्चा स्वरूप बतानेवाले वीतरागी सर्वज्ञदेव, रत्नत्रयवन्त गुरु और रागरहित धर्म व शास्त्रों को जो पहचानता है, वह जीव इनसे विरुद्ध अन्य किसी को नहीं मानता, नहीं नमता और प्रशंसा भी नहीं करता।

एक ओर अपने को कुन्दकुन्दाचार्य जैसे वीतरागी सन्त का भक्त कहलावे और दूसरी ओर इनसे विरुद्ध कहनेवालों का भी आदर और सत्कार करे तो उसे सत्य का विवेक कहाँ रहा? बापू! वीतराग मार्ग और वीतरागी सन्तों के विरोधी ऐसे कुगुरु के सेवन में तो मिथ्यात्व की पुष्टि तथा तीव्र कषाय के कारण आत्मा का बहुत बुरा होता है; इसलिए उसका निषेध करते हैं। इसमें किसी व्यक्ति के प्रति द्वेषबुद्धि नहीं है, किन्तु जीवों के प्रति हितबुद्धि है।

यह बात तो अपनी श्रद्धा सम्यक् रहे और उसमें कोई दोष न लगे, इसके लिए है। सत्यमार्ग से विरुद्धता का विकल्प धर्मी कभी नहीं आने देता। मिथ्यात्व सम्बन्धी दोषों से बचने के लिए और सम्यक्त्व की शुद्धि रखने के लिए निःशङ्कित आदि आठ मन्त्र आदरणीय हैं। *(- आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-28, अङ्क-335, पृष्ठ-26-27)*

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण

षट् आवश्यक

समता सम्हारें, थुति उचारें, वंदना जिनदेव को।
नित करें श्रुतरति करें प्रतिक्रम, तजें तन अहमेव को॥

(- छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द 5, पूर्वार्द्ध)

मुनिराज प्रतिदिन छह क्रियाएँ अवश्य करते हैं; इसलिए इन्हें आवश्यक क्रिया कहा जाता है। वे प्रमादरहित होकर, सावधानीपूर्वक सामायिक आदि छह क्रियाएँ यथायोग्य समय पर करते हैं। यहाँ उन क्रियाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(1) सामायिक : मुनिराज, प्रतिदिन प्रातः, दोपहर और सायंकाल चैतन्य के चिन्तन में एकाग्र होकर वीतरागी समभावरूप सामायिक करते हैं। तीन कषाय के अभावरूप समभाव तो मुनियों को सदा होता है; फिर भी विशेष एकाग्रता के लिए राग-द्वेषरहित समभाव के अभ्यास के लिए सामायिक करते हैं। सामायिक में परिणामों की विशुद्धता बढ़ते समय ऐसी दशा हो जाती है, मानो अभी केवलज्ञान हो गया हो या अल्प काल में होनेवाला हो; इस प्रकार प्रतिदिन सामायिक का प्रयोग मुनियों का मूलगुण है।

(2) स्तुति : तीर्थङ्करों और सिद्ध भगवन्तों की स्तुति करना, मुनियों की दैनिक आवश्यक क्रिया है। मुनिराज भी जिनकी प्रतिदिन स्तुति-वन्दना करते हैं, उन भगवन्तों की महिमा की क्या बात कहें ? सिद्धों के स्वरूप का चिन्तन करते-करते मुनिराज, स्वभाव के लक्ष्य से निर्विकल्प हो जाते हैं।

(3) वन्दना : मुनिराज, प्रतिदिन जिनदेव तथा आचार्य आदि की वन्दना करते हैं – यही वन्दना आवश्यक है।

(4) स्वाध्याय : मुनिराज प्रतिदिन स्वाध्याय करते हैं। रात्रि में भी चैतन्य के चिन्तनरूप उनका स्वाध्याय चालू रहता है। मुनिराज रात्रि में बोलते नहीं हैं; फिर भी आत्मा का स्वाध्याय चलता रहता है – यह उनकी दैनिक आवश्यक क्रिया है।

(5) प्रतिक्रमण : सुबह–शाम जो छोटे–बड़े दोष / अतिचार लगे हों, मध्यस्थ होकर उनकी आलोचना करके अपने परिणामों को शोध कर, दोषों का प्रतिक्रमण कर प्रतिदिन मुनिराज अपने चित्त को शुद्ध करते हैं।

(6) कायोत्सर्ग : काया का उत्सर्ग, अर्थात् शरीर की भी उपेक्षा करके, मुनिराज वीरतापूर्वक ध्यान का प्रयोग करते हैं – यही कायोत्सर्ग है। मुनिराज प्रतिदिन कायोत्सर्ग करते हैं।

विशुद्धपरिणामसहित सामायिक आदि छह क्रियाएँ प्रतिदिन अवश्य करना मुनिराजों के अट्ठाइस मूलगुणों में सम्मिलित है। मुनिराज इन क्रियाओं में सावधान रहते हैं, प्रमाद नहीं करते।

इस प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय विजय और छह आवश्यक – कुल इक्कीस मूलगुणों का वर्णन हुआ। ●

अदन्तधोवन आदि मूलगुण

अब, अदन्तधोवन आदि शेष सात मूलगुणों का शेष सात मूलगुणों का वर्णन करते हैं —

जिसके न न्हौन, न दंतधोवन लेश अम्बर आवरन।
भू माँहि पिछली रयनि में कछु शयन एकासन करन॥
इकबार दिन में लें आहार, खड़े अलप निज-पान में।
कचलोंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यान में॥
अरि मित्र महल मसान कञ्चन, काँच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारन असि प्रहारन, में सदा समता धरन॥

(- छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द-5, उत्तरार्द्ध एवं 6)

देखो! यह मुक्ति के साधक मुनिराज के आचरण का वर्णन चल रहा है। देह के प्रति उदासीन मुनिराज, देह की शोभा के लिये कुछ नहीं करते क्योंकि उनका आत्मा स्वयं रत्नत्रय से शोभित हो रहा है। उन्हें देह के प्रति ऐसी उदासीनता होती है कि वे स्नान आदि क्रियाएँ भी नहीं करते। मुनिराज के शेष सात मूलगुण निम्नानुसार हैं –

(1) स्नान नहीं करना, (2) दन्त मञ्जन नहीं करना (3) शरीर को वस्त्र से नहीं ढँकना (4) यदि कदाचित् निद्रा लेना हो तो रात्रि के पिछले पहर में जमीन पर एक करवट से लेकर अल्प निद्रा लेना। उन्हें अधिक निद्रा नहीं होती, दिन में सोने का तो प्रश्न ही नहीं है

(5) दिन में एक बार ही आहार लेना (6) खड़े–खड़े अपने हाथ में अल्प आहार लेना। हाथ में आहार लेने के कारण उन्हें 'हस्त भोजी' या 'कर पात्री' कहते हैं (7) केश–लुँच करना।

इस प्रकार पहले कहे गये इक्कीस और ये सात, कुल अट्ठाइस मूलगुण जैन साधुओं के होते हैं। इन मूलगुणों के भङ्ग होने पर, अर्थात् वस्त्रादि अङ्गीकार करने पर या दिन में सोने पर या अनेक बार भोजन करने पर मुनिपना नहीं रहता।

अहो! जैन साधुओं की दशा अत्यन्त उत्कृष्ट होती है। वे परिषहों से नहीं डरते और आत्मध्यान में लीन रहते हैं। ध्यान द्वारा चैतन्यतत्त्व के आनन्द में समाए हुए मुनियों को उपसर्ग का क्या भय? मुनिवरों की चैतन्य–गुफा में तो भय का प्रवेश ही नहीं है। इन अट्ठाइस मूलगुणों का वर्णन पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में भी किया है।

जैन मुनि निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हैं। उनके अन्तर में मोह की गाँठ नहीं होती और शरीर पर वस्त्रादि नहीं होते। निर्विकार मुनिराज को वस्त्र और स्नान कैसा? जिसने सम्यक्त्व और चारित्र जल से मोहमल को धोकर आत्मा को पवित्र कर लिया है, उसे अब शरीर के स्नान की क्या आवश्यकता? ऐसे मुनिराज महाधर्मधारी और महापुण्यवन्त होते हैं। यदि असाता के उदय से किसी मुनिराज के शरीर में कोई रोग हो जाए तो उससे मुनिपने में कोई दोष नहीं लगता। केवली की भाँति मुनियों के शरीर में भी रोगादि नहीं होते – ऐसा नहीं है। मुनियों को रोगादि होने पर भी उन्हें शरीर में मूर्च्छा नहीं है, इसलिए वे रोग से घबराते नहीं हैं, रोग से उनका रत्नत्रय नहीं बिगड़ जाता। अरे! उन्हें स्वयं रोग मिटानेवाली औषधि / ऋद्धि (सनतकुमार मुनिराज के समान) प्रगटी होने पर भी उन्हें उसका लक्ष्य भी नहीं होता, वे तो चैतन्य के अनुभव की धुन में अन्य सभी से निरपेक्ष रहते हैं। बाहर में कोई शत्रु हो या मित्र हो, महल हो या श्मशान हो, कँचन हो या काँच हो, प्रशंसा होती हो या निन्दा होती हो, कोई अर्घ्य चढ़ाकर पूजा करता हो या तलवार से प्रहार करता हो – इन सभी स्थितियों में वे सदा समता धारण करते हैं और परिषहों में भी निर्भय होकर आत्मध्यान में लीन रहते हैं।

वाह रे वाह! मोक्ष को साधनेवाले शूरवीर मुनिराज धन्य हैं। ऐसे मुनिराज के दर्शन भी महाभाग्य से मिलते हैं। इस समय तो दर्शन दुर्लभ हैं।

अशरीरी सिद्ध पद को साधनेवाले मुनिराज को शरीर को स्वच्छ रखने की, वस्त्र से

ढँकने की, औषधि आदि सम्हालने की वृत्ति नहीं होती। यदि शरीर को वस्त्र से ढाँकने की वृत्ति भी उठे तो मुनिदशा नहीं रहती।

कुछ लोग कहते हैं कि आप तो अध्यात्मवादी हैं। परद्रव्य से भला-बुरा नहीं मानते। फिर मुनिराज वस्त्र रखें या न रखें? इससे क्या फर्क पड़ता है।

अरे भाई! तुझे अध्यात्मदृष्टि की खबर नहीं है। जिसे अध्यात्मदृष्टि प्रगट हो जाती है और जिसे अध्यात्म की खुमारी होती है, उसे निश्चित अंश में राग-द्वेष भी छूट जाते हैं और जिसको राग-द्वेष नहीं होते, उसे सहज ही वैसा बाह्य प्रसङ्ग भी नहीं होता। अध्यात्म में ऐसा सुमेल सहज होता है। जिसे अन्तर में ब्रह्मचर्य की खुमारी होती है, उसे बाहर में भी स्त्री का प्रसङ्ग नहीं होता। मोक्ष के साधक मुनिराज की अन्तरङ्गदशा में अध्यात्म की कोई अद्‌भुत खुमारी होती है, उन्हें चैतन्य के आनन्द की वीतरागता की ऐसी खुमारी होती है कि देह सम्बन्धी राग-द्वेष भी नहीं होते और जहाँ देह के प्रति भी राग नहीं होता, वहाँ वस्त्र धारण की क्रिया कैसे होगी? अरे! ठण्ड पड़ती हो और कोई भोला जीव भक्ति से चादर उड़ा जाए तो भी जैन साधु उसे उपसर्ग मानते हैं तो फिर स्वयं के वस्त्र ओढ़ने की बात ही कहाँ रही? अध्यात्मदृष्टिवालों को बराबर विवेक होता है। 'वस्त्र परद्रव्य है, उसमें क्या दोष?' - ऐसी स्वच्छन्द बुद्धि उन्हें नहीं होती। जैन साधु वस्त्र रखें तो क्या दोष है? - ऐसा कहनेवाले को जैन साधु की पवित्रता की पहचान नहीं है।

जिस प्रकार सज्जन पुरुष रोटी और माँस में अथवा पत्नी और माता में विवेक करते हैं; उसी प्रकार धर्मात्मा को परिग्रहसहित सग्रन्थदशा और परिग्रहरहित निर्ग्रन्थदशा में भेद का विवेक होता है।

हे जीव! यदि तुझसे कदाचित् उत्तम मुनिदशा का पालन न हो सके तो भी उसका स्वरूप तो जैसा है, वैसा समझना, विपरीत नहीं मानना। जो वस्त्रसहित मुनिदशा मानता है, वह जैनधर्म के साधु को नहीं पहचानता, उसे जैनधर्म के गुरुतत्त्व की श्रद्धा नहीं। बापू! जैन मुनियों की दशा कोई अलौकिक है। जिनके रोम-रोम में से वीतरागता छलकती है - ऐसे मुनिराज कायर हैं क्या, जो ठण्ड या गरमी से बचने के लिए वस्त्र ओढें? वे तो उपसर्ग और परिषह को समभाव से सहज स्वीकार करनेवाले वीर हैं।

मुनिराज निरन्तर ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं। वे कभी-कभी पिछली रात्रि में थोड़ी निद्रा लेते हैं, उन्हें विशेष प्रमाद नहीं होता। अहा, जिनका आत्मा चैतन्य की साधना में अत्यन्त जागृत है, उन्हें नींद लेना कैसे सुहाएगा? जागृत रहकर सिद्धपद को साधनेवाले मुनिराजों से जैनशासन की शोभा है। उनका समावेश 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में होता है।

देखो, यह मुनियों की क्रिया! मुनियों का आचरण!! वीतरागमार्ग में वर्तनवाले मुनियों की दशा अलौकिक है। उन्हें आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर वेदन होता है। शेर-हाथी जैसे सम्यग्दृष्टि जीवों को भी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। पञ्चम गुणस्थानी श्रावक को उनसे भी अधिक आनन्द है और छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों को तो प्रचुर आनन्द का वेदन होता है।

वे दिन में मात्र एक बार खड़े-खड़े आहार लेते हैं, वह भी निर्दोष और विधिपूर्वक होता है, तभी लेते हैं; अपने हाथ की अञ्जुलि में ही लेते हैं - इस प्रकार शुद्ध आहार न मिले तो आकुलता नहीं करते; आहार की वृत्ति तोड़कर, ध्यान और स्वाध्याय में चित्त को जोड़ते हैं। क्षुधा-तृषा आदि परीषहों को वैराग्य की उग्रभावना से जीतते हैं। आत्मचिन्तन में शान्तरस का भोजन करते हुए, क्षुधा-तृषा के परीषह सहज ही जीत लिए जाते हैं। उन्हें चैतन्य के वीर्य का जोर है; इसलिए वे बाईस परीषहों से नहीं डरते, परीषह आने पर वे शिथिल नहीं होते। वे आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप चैतन्यगुफा में बैठे-बैठे परम शान्ति की लहर में तृप्त रहते हैं। चैतन्यगुफा में बाह्य परीषहों का प्रवेश ही कहाँ है? इसलिए उसमें परीषह का भय कहाँ से होगा? उपसर्ग-परीषह आने पर भी मुनिराज समभाव को नहीं छोड़ते। परीषह उन्हें आत्मसाधना से डिगा नहीं सकते। परीषह आने पर भी वे मोक्षमार्ग से अच्युत रहकर बहुत निर्जरा करते हैं। वे वैराग्य की ढाल से अपने रत्नत्रय की रक्षा करते हैं और पञ्च परमेष्ठी पद में झूलते रहते हैं।

कुन्दकुन्दस्वामी आदि मुनियों की ऐसी दशा थी। भाई! तुझसे यदि ऐसी मुनिदशा का पालन न हो सकता हो तो उसका स्वरूप पहचान कर उसकी भावना तो रख! परन्तु उसका स्वरूप तो विपरीत मत मान। यदि मुनियों का स्वरूप विपरीत मानेगा तो तेरी श्रद्धा बिगड़ जाएगी, तुझे सच्चे देव-गुरु-धर्म की और जैनमार्ग की श्रद्धा भी नहीं रहेगी। यदि तू सच्चे मार्ग

की श्रद्धा करेगा तो तेरा सम्यक्त्व टिका रहेगा और तू भगवान के मार्ग में रहेगा। यदि विपरीत मान्यता करेगा तो तू मिथ्यादृष्टि होकर भगवान के मार्ग से भ्रष्ट हो जाएगा।

बापू! आत्मकल्याण करने का इतना अच्छा अवसर हाथ में आया है, यदि यह अवसर चूक जाएगा तो फिर बारम्बार ऐसा अवसर नहीं आएगा; इसलिए सावधान हो जा और मान छोड़कर आत्महित के मार्ग में लग जा! श्रीगुरु तुझे दु:ख दूर करनेवाली और सुख उत्पन्न करनेवाली शिक्षा देते हैं।

जैन मुनि को शत्रु-मित्र में समभाव होता है। वे स्वयं तो किसी जीव को शत्रु-मित्र नहीं मानते परन्तु यदि कोई जीव उनसे शत्रुता रखता है, उनकी निन्दा करता है तो वे उसके प्रति द्वेषभाव नहीं रखते और कोई जीव उन्हें उपकारी / मानकर उनकी पूजा-स्तुति करे तो वे उसके प्रति रागभाव नहीं रखते। वे उन दोनों से उपेक्षित रहकर स्वयं अपने समभाव में रहते हैं।

देखो! श्रेणिक राजा ने उपसर्ग किया तो भी यशोधर मुनिराज ने उसके प्रति द्वेषभाव नहीं रखा और ध्यान में ही बैठे रहे और उपसर्ग दूर होने पर चेलनादेवी के साथ-साथ श्रेणिक राजा को भी धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। चेलना ने भक्ति की और श्रेणिक ने उपसर्ग किया परन्तु मुनिराज ने उनमें भेद करके राग-द्वेष नहीं किया। मुनिराज का ऐसा वीतरागी समभाव देखकर श्रेणिक राजा आश्चर्यचकित हो गए, उनकी समझ में जैनधर्म की वीतरागता की महिमा आ गयी और जैनधर्म की श्रद्धा करके उन्होंने सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया। वे इसी भरतक्षेत्र में इक्यासी हजार पाँच सौ वर्ष बाद उत्सर्पिणी काल में प्रथत तीर्थङ्कर के रूप में जन्म लेंगे।

जहाँ जीवन-मरण के प्रति भी समभाव है, वहाँ अन्य की क्या बात है ? मुनिराज तो चैतन्य की परम शान्ति के वेदन में राग-द्वेष का कोलाहल सहन नहीं होता। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी लिखा है -

शत्रु मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अमान में वर्ते वही स्वभाव जब।
जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब॥

मुनिदशा में चैतन्यतत्त्व, रत्नत्रय धर्म से खिल उठता है। निज वैभव से भरे हुए चैतन्यमहल में बसनेवाले मुनिराज को बाहर में महल क्या और जंगल क्या ? उन्हें तो दोनों समान हैं। उनके लिए हीरा या काँच, सोना या पत्थर सभी एक जैसे ही हैं। विहार करते समय कदाचित् हीरों का खजाना दिख जाए तो भी उनका मन नहीं ललचाता। अरे! उन्हें कोई विशेष लब्धि प्रगट हुई हो तो वे उसका भी राग नहीं करते। जो चैतन्य की कैवल्यलब्धि साध रहे हैं, उन्हें बाह्य लब्धियों की क्या कीमत ? वे उनमें क्यों अटकें ?

धर्मी श्रावक, मुनिराज की ऐसी अद्भुतदशा को पहचानते हैं, उन्होंने स्वयं भी मुनियों जैसी वीतरागी शान्ति का स्वाद चखा है। मुनियों की तो क्या बात कहें ? उन्हें मात्र संज्वलन कषाय शेष रह गयी है, इसके अलावा तो वीतरागता ही है। वे केवलज्ञान के बिल्कुल समीप पहुँच गये हैं, संसार के कोलाहल से दूर चैतन्य की शान्ति में ठहरकर बर्फ जैसे हो गये हैं। वाह मुनिराज! आप में और केवली भगवान में क्या अन्तर है ?

शुद्धरत्नत्रय के पालन से और तीन कषाय के अभाव से मुनि को जितनी वीतराग परिणति है, उतना परीषहजय तो सदा ही है, जितने राग-द्वेष हैं, उतना परीषहजय नहीं है। मात्र बाह्य प्रतिकूलता को परीषहजय नहीं कहते परन्तु उसमें द्वेष न करके चैतन्य की शान्ति के वेदन से समताभाव रखना परीषहजय है।

भूख लगी हो और भोजन न मिले, पेट में और परिणामों में जलन हो और आहार मिलने पर प्रसन्नता हो तो क्षुधापरीषह सहन किया नहीं कहा जाएगा, क्योंकि उसे राग-द्वेष हुए। श्रीमद् राजचन्दजी ने लिखा है –

घोर तपश्चर्या में, तन संताप नहिं,
सरस अशन में भी हो नहीं प्रसन्न मन॥

अनेक उपवास आदि तप करते हुए भी मन में संक्लेश न हो और भीषण गर्मी में बहुत उपवास के पश्चात् आहार में, ठण्डा गन्ने का रस मिले तो उसमें सन्तोष न हो, जरा भी गृद्धि न हो। आहार मिलने के पहले और बाद में वैसा का वैसा चैतन्य का वीतरागी समभाव रहे तो वे परीषह जीता कहा जाए। बाह्य पदार्थों को सुख-दुःख का कारण न मानने पर ही ऐसा

परीषहजय होता है; क्योंकि परपदार्थों को सुख-दुःख का कारण न मानने पर राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहते।

धर्मात्मा जानते हैं कि अहा! मैं तो ज्ञाता हूँ...... संयोग मुझसे बाहर हैं, कोई भी संयोग मुझे सुख-दुःख का कारण नहीं है, मैं तो अपने ज्ञायकस्वभाव में रहकर अपनी शान्ति का वेदन करनेवाला हूँ। सम्यग्दृष्टि को भी ऐसा भान होता है, जबकि मुनिराज के परिणाम अपने ज्ञायकस्वभाव में बहुत अधिक स्थिर रहते हैं, उन्हें तीन कषाय के अभाव से बहुत वीतरागता प्रगट हो गयी है - ऐसे मुनिराज, परीषह से नहीं डरते और आत्मसाधना से नहीं डिगते; समभाव से आत्मध्यान और स्वाध्याय में लगे रहते हैं।

हे भव्य जीवों! तुम जैन साधुओं के ऐसे आचरण को देखो और अपनी अनुभूति को पहचानो। ●

(- वीतराग विज्ञान, भाग-6 से)

मुनिराज सिद्धों के साथ बातें करते हैं.....

वीतरागी गुरु तो वीतरागमार्ग का ही उपदेश देते हैं। जो राग की पुष्टि का उपदेश दे तो उसे वीतरागमार्गी कौन कहे? जो मिथ्यामार्ग का उपदेश दे, जो 'तू यह नया पाप कर' ऐसा पाप का उपदेश दे तो वह वीतरागमार्ग से विरुद्ध है। धर्मी तो कहता है हमारा तत्त्व राग से अत्यन्त भिन्नपने जयवन्त है। अहो! इस तत्त्व की महिमा की क्या बात?

वाह! देखो तो सही, मुनिराज तो सिद्धों के साथ बातें करते हैं। प्रभु! तेरे जैसा मेरा स्वभाव मैंने अपने में अनुभव किया; इसलिए मैं तेरे समीप ही हूँ, तुझसे जरा भी दूर नहीं हूँ।

(- आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-28, अङ्क-336, पृष्ठ-9-10)

मुनिराज : त्रय गुप्ति

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते॥

(छहढाला, ढाल 6, छन्द-3 पूर्वार्द्ध)

मुनिराज, जब मन-वचन-काया सम्बन्धी प्रवृत्ति छोड़कर, अर्थात् उनका सम्यक् प्रकार से निरोध करके अपने आत्मा में ही उपयोग को सावधान करते हैं, तब उन्हें तीन गुप्तियाँ होती हैं। इन गुप्तियों के समय मुनिराज ऐसे स्थिर हो जाते हैं कि उनकी स्थिर मुद्रा देखकर वन के हिरण उन्हें पत्थर समझकर उनसे अपनी खाज खुजाते हैं। मुनिराज तो ध्यान में लीन रहते हैं और हिरण निर्भय होकर उनके शरीर से अपना शरीर घिसते रहते हैं - ऐसी दशावाले मुनिराज को मन-वचन-काय गुप्ति होती है।

इन गुप्तियों को अट्ठाईस मूलगुणों में शामिल नहीं किया गया है। इनमें अट्ठाईस मूलगुणों की अपेक्षा विशेष शुद्धि है। यद्यपि गुप्ति के समय भी तीन कषाय का अभाव है और समिति के समय भी तीन कषाय का अभाव है; तथापि गुप्ति के समय स्वरूप में ही गुप्त रहने से विशेष शुद्धि है तथा समिति में, बाह्य प्रवृत्ति में उपयोग की सावधानी है। गुप्ति के समय उपयोग, स्वरूप में ही सावधान रहता है, अन्दर गुप्त हो जाता है। गुप्तियों सहित आनन्द मग्न मुनिराज, बिम्ब जैसे स्थिर होकर बैठे रहते हैं और सिंह, बाघ आदि शान्ति से उनके चरणों के पास आकर बैठ जाते हैं। खरगोश और हिरण उनके शरीर से टिक कर बैठ जाते हैं और अपनी खाज खुजाते हैं। अहो! वह दृश्य कैसा अद्भुत होगा?

देखो! यह जैनधर्म का मुनिमार्ग! मुनिमार्ग कहो या मुक्ति मार्ग कहो, वह शुद्धभावपूर्वक ही होता है। मुनिराज तो चैतन्यपिण्ड हैं, उन्हें चैतन्य के ध्यान की धुन लगी है, कषाएँ एकदम शान्त हो गयी हैं, वैराग्य का पूर उमड़ रहा है, चैतन्य के ध्यान में स्थिरता के समय उपयोग में मन-वचन-काय का लक्ष्य छूट जाता है। मन-वचन और काया - ये तीनों परद्रव्य हैं। जब उपयोग स्वद्रव्य में एकाग्र होता है, तब परद्रव्य में प्रवृत्ति नहीं रहती, अर्थात् उसका सम्यक् प्रकार से निरोध हो जाता है। उपयोग, स्वरूप में ही गुप्त हो जाता है; इसलिए उसे गुप्ति कहते हैं। मुनिराज को ऐसी दशा बारम्बार आती रहती है।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के काल में निर्विकल्प शुद्धोपयोग हुआ था, उसके बाद शुद्धोपयोगरूप ध्यान कभी-कभी होता है। उन्हें सम्यग्दर्शन निरन्तर कायम रहता है परन्तु उपयोग की एकाग्रता कायम नहीं रहती। मुनियों का उपयोग क्षण-क्षण में अन्तर्मुख होता है, अर्थात् उन्हें निर्विकल्प ध्यान होता है। ध्यान के समय वे शान्ति के वेदन में ऐसे लीन हो जाते हैं, जैसे कोई मूर्ति बैठी हो। हिरण अपना शरीर उनके शरीर से घिसे; सिंह गर्जना करे या ढोल बजते हों तो भी उस तरफ उनका लक्ष्य नहीं जाता। उनका उपयोग तो मात्र स्वज्ञेय में ही ठहर गया है। उस समय के अतीन्द्रिय महा-आनन्द की क्या बात कहें? जब स्वरूप में से उपयोग बाहर आता है, तब सविकल्पदशा में पाँच समिति होती हैं और तब उपयोग अन्दर स्वरूप में जाता है, तब निर्विकल्पदशा में गुप्ति होती है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने मुनिदशा की भावना व्यक्त करते हुए 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य में लिखा है —

विचरूँगा मैं एकाकी श्मशान में,
पर्वत में, जहाँ सिंह बाघ संयोग हो।
अडोल आसन, और न मन में क्षोभ हो,
मानो पाया परम मित्र का योग हो॥

अपूर्व अवसर में उन्होंने गुप्ति और समितियों का वर्णन भी किया है। आत्मा में स्थिरता गुप्ति है और गुप्तिरूप स्थिर न रहने पर जिन-आज्ञा अनुसार जो प्रवृत्ति होती है, उसे समिति

कहते हैं। वह प्रवृत्ति भी प्रतिक्षण घटती रहती है और उसमें भी स्वरूप में स्थिरता का लक्ष्य रहता है।

धर्मात्मा जीवों के हृदय में ऐसी गुप्ति-समितिरूप मुनिदशा की भावना निरन्तर होती रहती है। जिसने अपना वीतरागी चैतन्यपद देखा है - ऐसे सम्यग्दृष्टि को ही मुनिदशा या मोक्षदशा की सच्ची भावना होती है। अज्ञानी तो बाहर के संयोग-वियोग को देखता है, वह अन्तर के अतीन्द्रिय भावों को नहीं पहचानता। मुनिराज के अन्तरङ्ग दशा एकदम शान्त होती है, उनकी वृत्ति शरीरादि के प्रति उदासीन और निरपेक्ष होती है। रत्नत्रय के धारक और सिद्धपद के साधक, साधु भगवन्त जीवन-मरण के प्रति समभावी होते हैं। वे जिन-स्वरूप में गुप्त रहकर भी तीन गुप्ति के धारक होते हैं। ●

मुनिराज द्वारा मुक्तिवधू के स्वयंवर का आनन्दकारी उत्सव

यह तो मोक्षलक्ष्मी का स्वयंवर है। मुनिराज स्वयं मोक्षलक्ष्मी को वरण करने जाते हैं। वहाँ पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों को अपने आँगन में बुलाते हैं। अहो, परमेष्ठी भगवन्तों! अहो, विदेह में विराजमान सीमन्धर आदि भगवन्तों! हे गणधर भगवन्तों!! आप सब वीतरागता के इस आनन्द उत्सव में पधारो... पधारो... पधारो। मेरी शुद्ध चैतन्यसत्ता का निर्णय करके मैं उसमें आपको पधराता हूँ... और समस्त रागादि परभावों को पृथक् करता हूँ - ऐसे मङ्गलपूर्वक मोक्ष की साधना का यह मङ्गल स्तम्भ रोपा जा रहा है। *(-आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-28, अङ्क-332, पृष्ठ-31)*

मुनिराज के उपकरण

यद्यपि मुनिराज की दशा परम निर्ग्रन्थ होती है, तथापि अपवाददशा में उनकी भूमिका के योग्य अनिषिद्ध उपधियों या उपकरणों का विवेचन जिनागम में प्राप्त होता है परन्तु वे उपधियाँ या उपकरण अपवादमार्ग हैं; उत्सर्गमार्ग नहीं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मुनिराज के अपवादमार्गरूप उपकरणों में भी वस्त्र-पात्रादि सम्मिलित नहीं हैं। इस तथ्य का भाववाही विवेचन परम पूज्य कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार गाथा 223 से 225 तक किया है।

इन गाथाओं एवं इनकी टीका पर मुनिभक्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन अनुप्रेक्षणीय हैं।

वीतरागमार्ग में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनि की दशा कैसी होती है और उन्हें बाह्य में कैसे उपकरण हो सकते हैं ? उसका यह वर्णन है। जिसे इस बात का भान नहीं है, उसे तो देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा भी नहीं है; उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

जो उपधि, सर्वथा बन्ध की असाधक होने से अनिन्दित है, संयत के अतिरिक्त अन्यत्र अनुचित होने से असंयतजनों के द्वारा अप्रार्थनीय है और रागादिपरिणाम के बिना धारण की जाने से मूर्च्छादि के उत्पादनरहित है, वह वास्तव में अनिषिद्ध है। इससे यथोक्त स्वरूपवाली उपधि ही उपादेय है किन्तु किञ्चित्मात्र भी यथोक्त स्वरूप से विपरीत स्वरूपवाली उपधि उपादेय नहीं है।

इस प्रकार मुनिराज को जो उपधि कही गयी है, वह कैसी है ?

1. सर्वथा बन्ध की असाधक होने से अनिन्दित है... वस्त्रादि परिग्रह तो बन्धन का साधक है।

2. संयत के अतिरिक्त अन्यत्र अनुचित है; इसलिए असंयतजनों द्वारा अप्रार्थनीय है।

3. रागादिपरिणाम के बिना ही कमण्डल, मोर-पिच्छी इत्यादि होते हैं; इसलिए वे परिग्रह मूर्च्छारहित ही होते हैं – ऐसी उपधि ही अनिषिद्ध है; इसके अतिरिक्त वस्त्रादि सर्व परिग्रह तो निषिद्ध ही है।

इससे विरुद्ध अर्थात् वस्त्रादि परिग्रह तो बन्ध का साधक है; इसलिए वह तो मुनि के होता ही नहीं। **निश्चय से तो समस्त ही परिग्रह का निषेध ही है, तथापि छठवें गुणस्थान में विकल्प उत्पन्न होने पर कमण्डल इत्यादि के प्रति लक्ष्य जाता है; इसलिए वे अपवादरूप परिग्रह है परन्तु वस्त्रादि तो अपवादरूप से भी मुनिराज को नहीं होते।**

जहाँ शरीर को भी परिग्रह कहा और उसकी ममता भी छोड़ने को कहा तो फिर वस्त्रादि का परिग्रह तो मुनिराज को होगा ही कैसे ? आचार्यदेव तो भगवान की साक्षी देकर कहते हैं कि 'जो जिनवरेन्द्रों ने मोक्ष के अभिलाषी को देह परिग्रह है' – ऐसा कहकर देह में भी अप्रतिकर्मपने अर्थात् संस्काररहितपने का उपदेश किया है तो फिर उनका ऐसा आशय है कि उन्हें अन्य परिग्रह तो किसका होगा ?

यहाँ श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं किया गया है – ऐसे अत्यन्त उपात्त शरीर में भी 'यह शरीर परद्रव्य होने से परिग्रह है, वास्तव में यह अनुग्रहयोग्य नहीं है किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' – ऐसा कहकर भगवन्त अरहन्तदेवों ने अप्रतिकर्मपने का उपदेश दिया है, तब फिर वहाँ शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धि की सम्भावना के रसिक पुरुषों के शेष अन्य अनुपात्त परिग्रह बेचारा कैसे (अनुग्रह योग्य) हो सकता है ? – ऐसा उनका (अरहन्तदेवों का) आशय व्यक्त ही है। इससे निश्चित होता है कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है; अपवाद नहीं। यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि वस्तुधर्म होने से परम निर्ग्रन्थपना ही अवलम्बन योग्य है।

मुनि को चैतन्य भगवान के आनन्द के अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा नहीं होती। देह अत्यन्त नजदीक संयोग में वर्तती होने पर भी उस देह की भी उपेक्षा करने को ही भगवान ने कहा है। देह को नहलाना अथवा शृङ्गारित करने का निषेध करके भगवान ने तो मुनिवरों को अप्रतिकर्मपने का ही उपदेश दिया है तो फिर मुनियों को जो अन्यत्र दूर रहा –अनुपात्त परिग्रह तो विचारो अनुग्रह योग्य कैसा होगा ? अर्थात् नहीं होगा। ऐसे वीतराग तीर्थङ्कर भगवान का आशय प्रगट ही है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान कहते हैं कि **किं किंचनमिति** अर्थात् मुनियों को जरा भी परिग्रह कैसे हो सकता है ? मुनियों को देह के प्रति होनेवाले लक्ष्य का भी निषेध करके, उसे अपवाद में गिना है तो फिर वस्त्र-पात्र-पैसा इत्यादि का परिग्रह तो होगा ही कैसे ? शरीर तो समीपवर्ती स्वयं प्राप्त हुआ है और वस्त्रादि तो दूरवर्ती – अप्राप्त है; अतः मुनियों को उसका आदर कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है – ऐसा भगवान का आशय व्यक्त है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि भगवान का ऐसा आशय हमको व्यक्त ही भासित होता है। जो कुन्दकुन्दाचार्य का आशय है, वही अरहन्त भगवान का आशय है। इससे निश्चित होता है कि उत्सर्गमार्ग ही वस्तुधर्म है; अपवाद नहीं।

व्यवहार से शरीर आदि परिग्रह का होना बताया गया, परन्तु उसे अपवाद में गिनकर परमार्थ से तो उसका भी निषेध किया है। इसका तात्पर्य यह है कि परम निर्ग्रन्थपना ही वस्तुधर्म है; इसलिए वही अवलम्बन योग्य है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि

उदासीन वृत्ती हो सब परभाव से,
यह तन केवल संयम हेतु होय जब।

परमार्थ में सर्व परिग्रह का निषेध ही वस्तुधर्म है, ऐसा बतलाकर अब व्यवहार से अपवादरूप परिग्रह में क्या होता है ? – यह स्पष्ट बतलाते हैं क्योंकि लोग अपनी स्वच्छन्दता के कारण अपवाद शब्द का विपरीत अर्थ करते हैं।

यथाजातरूप जो लिङ्ग अर्थात् जन्मजात नग्नदशा, वह जिनमार्ग में उपकरण कहा गया

है; गुरु के वचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय भी उपकरण कहे गये हैं। यहाँ मुनियों के अनिषिद्ध उपधि अपवादरूप है, उसका वर्णन किया गया है। **अपवादरूप जो उपधि है, वह भी ऐसी ही है कि जो मुनियों को संयम में उपकार करनेवाली है।** इसलिए वही उपकरणभूत है; अन्य नहीं। उस उपकरणभूत उपधि के भेद इस प्रकार हैं –

1. सर्व आहार्यरहित सहजरूप से अपेक्षित (सर्व आहार्यरहित.) यथाजातरूपपने के कारण जो बहिरङ्ग लिङ्गभूत हैं – ऐसे कायपुद्‌गल;

आहार्य अर्थात् बाहर से लाया जानेवाला; कृत्रिम; औपाधिक [सर्व कृत्रिम –औपाधिकभावों से रहित मुनि के आत्मा का सहजरूप, वस्त्राभूषणादि सर्व कृत्रिमताओं से रहित यथाजातरूपपने की अपेक्षा रखता है अर्थात् मुनि के आत्मा का रूप/दशा सहज होने से शरीर भी यथाजात ही होना चाहिए; इसलिए यथाजातरूपपना वह मुनिपने का बाह्यलिङ्ग है।]

वस्त्रादि तो बाहर से लाये जाते हैं, ऐसा परिग्रह मुनि को नहीं होता। संयम के हेतु से शरीर–मन–वाणी के प्रति लक्ष्य जाए, वह भी उपधि है। काया के पुद्‌गल बाह्यलिङ्ग हैं और वह मुनि का उपकरण है परन्तु वस्त्र–पात्र कहीं मुनि का उपकरण नहीं है। **लिङ्गं यथाजातरूपम्** कहकर अत्यन्त निर्ग्रन्थता ही बतलायी गयी है।

2. जिनका श्रवण किया जाता है – ऐसे तत्कालबोधक गुरु द्वारा कहे जाने पर आत्मतत्त्व–द्योतक, सिद्ध उपदेशरूप वचनपुद्‌गल।

गुरु का वचन–श्रवण भी परिग्रह है।

देखो! गुरु के वचन कैसे हैं? तत्कालबोधक हैं। उसी काल में अर्थात् उपदेश के काल में ही बोध देनेवाले हैं। शास्त्र के शब्द सदा बोध में निमित्तभूत होने से नित्यबोधक कहे गये हैं और गुरु के वचन उपदेश के काल में ही बोध के निमित्तभूत होने से तत्कालबोधक कहे गये हैं।

जो आत्मा का भान करके निर्विकल्प हुआ है, उसे तो श्रीगुरु के तत्कालबोधक वचन का श्रवण भी नहीं होता अर्थात् वहाँ तो वचनपुद्‌गल भी परिग्रह नहीं हैं। छठवें गुणस्थान में विकल्प उत्पन्न होने पर श्रवण में निमित्तरूप गुरु के वचन होते हैं, उन्हें भी परिग्रह गिना गया है।

श्रीगुरु के वचन तत्कालबोधक हैं और रामबाण की तरह अमोघ हैं, आत्मतत्त्व-द्योतक हैं अर्थात् आत्मतत्त्व के स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले हैं। ऐसी पहले गुरुगम की बात की, पश्चात् शास्त्र की बात लेंगे। **गुरुगम के बिना, स्वच्छन्दता से शास्त्र पढे तो वे शस्त्ररूप हो जाते हैं।** मुनि के वचन तो रामबाणवत् शुद्ध उपदेशरूप हैं, जो कान में पड़ते ही पात्र जीव को रामबाण जैसा काम करते हैं तथा वे आत्मतत्त्वद्योतक हैं अर्थात् आत्मा को ही बतलाने की उनमें मुख्यता है।

गुरु, कोई भी बात करते हैं परन्तु उसमें आशय तो आत्मा का स्वरूप बताने का ही है; पुण्य-पाप बताने की बात नहीं है, वह तो नास्ति में आ जाती है; अस्ति में आत्मतत्त्व की ही बात ली गयी है। आत्मा को जानने पर जड़ का ज्ञान भी उसमें आ जाता है। मुनियों का - गुरुओं का उपदेश मुख्यरूप से आत्मतत्त्व को ही बतानेवाला होता है और ऐसा उपदेश तत्कालबोधक है, रामबाण जैसा है। सामने समझनेवाला जीव ही ऐसा पात्र है कि शीघ्र समझ जाता है; इसलिए उसके लिए गुरु के वचन रामबाण जैसा कार्य किये बिना नहीं रहते। मुनि के वचन सुनते हुए दूसरे मुनि को ज्ञान की पर्याय निर्मल होती जाती है, ऐसा उपदेश होता है; उसे वीतरागमार्ग में मुनि का लिङ्ग कहा है परन्तु शिथिलता करानेवाले वचनों का श्रवण तो मुनि के उपकरणरूप में नहीं गिना गया है।

'यहाँ श्रवण किये जाते हैं', ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि छठवें गुणस्थानवाला स्वयं श्रवण करने का अभिलाषी है; गुरु आगे बढ़कर उसे सुनाने नहीं जाते। छठवें गुणस्थानवाले मुनि, तीर्थङ्कर भगवान के समीप भी दिव्यवाणी सुनते हैं। वहाँ उनकी वाणी में से आत्मतत्त्व का आशय निकालें तो ही उसे सुना कहा जाता है। **भगवान की अथवा गुरु की वाणी पुरुषार्थ को शिथिल करानेवाली नहीं होती, वह तो आत्मा के विकास में ही निमित्त होती है, ऐसा ही उनका उपदेश होता है।**

छठवें गुणस्थानवाले मुनिराज जिनवचनों को सुनते हैं, वे उपदेश-वचन कैसे होते हैं? उसमें भी यह बात की है कि आत्मा के धर्म की वृद्धि करानेवाले ही वचन होते हैं और उन्हें झेलनेवाला भी वैसा ही होता है।

छठवें गुणस्थान में उपादान में बहुत वीतरागभाव है, वहाँ निमित्त में भी उपकरण कैसा

होता है ? निर्ग्रन्थ यथाजातरूपवाला शरीर ही वहाँ निमित्तभूत होता है; वस्त्रवाला शरीर निमित्तरूप नहीं होता।

श्रवण में निमित्तरूप वचन कैसे होते हैं ? आत्मा को बताकर धर्म की वृद्धि करानेवाले अमोघ वचन होते हैं। सुननेवाला भी ऐसा है कि उन्हें धर्म की वृद्धि में ही कारण बनाता है; शिथिलता का आश्रय लेता ही नहीं। सुनानेवाले भी वैसा ही सुनाते हैं कि जो वीतरागरूप से जागृत होता है, वह आत्मा है; पुण्य-पाप वास्तविक आत्मा नहीं है।

देखो, मुनि के उपकरण का वर्णन करते हुए आचार्यदेव ने तीर्थङ्कर और गुरु के वचन कैसे होते हैं ? यह पहचान भी करायी है। ऐसे वचन सुनना भी मोक्षमार्ग में मात्र अपवादरूप है। काया अथवा वचन के प्रति लक्ष्य जाना, वह कोई वस्तुधर्म नहीं है अर्थात् वह उत्सर्गमार्ग नहीं है। उत्सर्गमार्ग तो निर्विकल्प शुद्धोपयोग में स्थिरता ही है। उसमें स्थिर न रह पाने पर ऐसा अपवादमार्ग होता है।

छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि कभी तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि भी सुनते हैं। भगवान की वाणी में तो सब एक साथ आता है परन्तु मुनि अपनी योग्यता से धर्म-वृद्धि हो - ऐसा ही आशय झेलते हैं। कर्म का उदय आयेगा और मैं गिर जाऊँगा - ऐसा शिथिल आशय नहीं निकालते है।

गुरु के वचन आत्मतत्त्वद्योतक हैं, अर्थात् सामने आत्मतत्त्व को देखनेवाला जीव है। हमारे कारण उसे आत्मा जानने में आता है; इस प्रकार आत्मा को पराधीन बतानेवाली वाणी गुरु की नहीं होती, परन्तु तेरे स्वभाव से तू आत्मा को जान! इस प्रकार गुरु की वाणी स्वाधीनता बताती है। जब वह जीव स्वयं आत्मतत्त्व को पहिचाने, तब ऐसी वाणी निमित्तरूप होती है, उसका यहाँ ज्ञान कराया है।

यहाँ तो मुनि के उपकरण में भी ऐसे ही शब्द होते हैं तो अन्य धर्मात्माओं को भी इसी प्रकार के वचन निमित्तरूप होते हैं, यह बात भी इसमें से निकलती है।

अहो! मुनिवरों के उत्सर्गमार्ग की तो क्या बात करें, परन्तु उनका अपवादमार्ग भी ऐसा अद्‌भुत है। इससे विशेष राग के निमित्त, मुनि की भूमिका में नहीं होते।

प्रश्न – यहाँ वचन को तत्त्वबोधक और रामबाण जैसा सिद्ध किया है, तो क्या इसमें निमित्त की मुख्यता हो गयी अथवा निमित्त से कुछ होता है, ऐसा सिद्ध हो गया ?

उत्तर – यहाँ चरणानुयोग में निमित्त का ज्ञान कराया है और सामने सुननेवाला तो छठवें गुणस्थान में वर्तता हुआ मुनि है। इसलिए उसके लिए वे वचन, रामबाण जैसे निमित्त होते ही हैं क्योंकि उपादान में उतनी तैयारी है।

इस प्रकार निर्ग्रन्थदशा और गुरु के तत्कालबोधक अमोघवचन – इन दो उपकरणों की बात की। अब, तीसरा उपकरण कहते हैं –

3. जिनका अध्ययन किया जाता है – ऐसे नित्यबोधक अनादिनिधन शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ, श्रुतज्ञान के साधनभूत शब्दात्मक सूत्रपुद्गल।

स्वभाव की अस्ति और पर की नास्ति – ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में जिनसूत्र समर्थ हैं। मुनि को मुख्यरूप से श्रुतज्ञान का अवलम्बन है। उस श्रुतज्ञान में निमित्तभूत शब्दश्रुत है, वह अनादिनिधन आत्मस्वभाव को बतलाता है। किसी मुनि को अवधि-मन:पर्ययज्ञान होता है परन्तु स्वभाव को साधने में तो भावश्रुतज्ञान ही साधन है। उस भावश्रुत में निमित्त शब्दश्रुत है, उसके प्रति लक्ष्य जाने पर वह भी मुनि का उपकरण है। मुनियों को ऐसे शुद्धात्मतत्त्व को प्रकाशित करनेवाले शास्त्रों के स्वाध्याय आदि का विकल्प होता है; इसलिए वह भी मुनि का उपकरण है।

वीतरागमार्ग में निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा में ही मुनिपना होता है। छठवें-सातवें गुणस्थान में मुनि को वस्त्र-पात्र नहीं होते। यहाँ अपवादरूप में होनेवाले मुनि के उपकरणों का वर्णन किया जा रहा है। **ऐसी मुनिदशा न प्रगट सके तो उसकी श्रद्धा करना; परन्तु विपरीत मानने से तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।**

मुनि को शरीरमात्र परिग्रह होता है परन्तु उसके प्रति ममता नहीं होती। शरीर, वचन, और शास्त्र – ये तीन उपकरण कहे गये हैं। मुनि को तीन कषाय चौकड़ी का तो अभाव हुआ है, वे अन्तर की निर्विकल्प अनुभवदशा में बारम्बार झूलते हैं और विकल्प उत्पन्न होने पर कैसे निमित्तों के प्रति लक्ष्य जाता है, यह बताते हुए यहाँ कहा गया है कि –

✦ विकल्प के काल में किसी समय क्षणिक शरीर के प्रति लक्ष्य जाता है; इसलिए शरीर को उपकरण कहा है।

✦ गुरु के वचन अथवा तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि का श्रवण भी मुनि का उपकरण कहा गया है। गुरु की वाणी तत्कालबोधक है। वह शुद्धात्मा को बतानेवाली है; इसलिए वाणी को उपकरण कहा है।

✦ मुनि को कभी शास्त्र अध्ययन के प्रति लक्ष्य जाता है; इसलिए शास्त्र को भी उपकरण कहा है।

उपकरण का चौथा प्रकार इस प्रकार है –

4. शुद्ध आत्मतत्त्व को व्यक्त करनेवाली जो दर्शनादिक पर्यायें, उनरूप से परिणमित पुरुष के प्रति विनीतता का अभिप्राय प्रवर्तित करनेवाले चित्तपुद्गल।

मुनि को स्वयं ही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट हुए हैं, इसलिए शुद्धात्मा व्यक्त हुआ है और अन्य वीतरागी मुनियों को सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट हुए हों, उनके प्रति विनय आता है। अन्दर में आत्मा का भान करके उसमें स्थिरता करने से मुनिराज को शुद्धात्मतत्त्व की प्रगटता हुई है। वे मुनि, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप वीतरागी पर्यायरूप परिणमित हुए हैं, वैसे मुनि के प्रति विनय का अभिप्राय प्रवर्ततानेवाले जो चित्त पुद्गल हैं, वे भी अपवादरूप ही उपकरण हैं।

इस प्रकार शरीर, गुरु–वचन, शास्त्र तथा विनयभाव में प्रवर्तमान चित्तपुद्गल – इन चार प्रकार के निमित्तों के प्रति छठवें गुणस्थान में मुनि का लक्ष्य जाता है। मोरपिच्छी और कमण्डल तो शरीर उपकरण में समाहित हो जाते हैं क्योंकि शरीर के प्रति लक्ष्य जाता है, तब मोरपिच्छी अथवा कमण्डल के प्रति लक्ष्य जाता है। मुनि, भगवान की भक्ति करते हैं, वह भी विनय में आ जाती है, वह उपकरण है। उस ओर का विकल्प उत्पन्न होना शुभभाव है। वह स्वभावधर्म नहीं, अपितु अपवाद है। ये चार प्रकार के भाव, मुनि को आते हैं परन्तु ये कोई वीतरागभावरूप धर्म नहीं है, अपितु बीच में इतनी मर्यादा का ही राग आता है, उसका ज्ञान कराया है। इससे विशेष राग मुनि को नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि काया की तरह वचन और मन भी वस्तुधर्म नहीं है। जैसे, काया / शरीर के प्रति लक्ष्य जाए, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार गुरु के वचन अथवा मन के प्रति लक्ष्य जाए और राग हो, वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। यद्यपि छठवें गुणस्थान में मुनिराज को वैसा राग होता है परन्तु मुनि उसे धर्म नहीं मानते हैं –

1. जिस श्रमण को श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारणभूत सर्व कृत्रिमताओं से रहित यथाजातरूप सन्मुख वृत्ति जाए, उसे काया का परिग्रह है।

2. जिस श्रमण को गुरु उपदेश के श्रवण में वृत्ति रुकती है, उसे वचन पुद्गलों का परिग्रह है।

3. जिस श्रमण को सूत्र अध्ययन में वृत्ति रुकती है, उसे श्रुत पुद्गलों का परिग्रह है।

4. जिस श्रमण को योग्य पुरुष के विनयरूप परिणाम होते हैं, उसे मन में चित्त पुद्गलों का परिग्रह है।

इस प्रकार अपवाद परिग्रह के चार प्रकार हैं। उत्सर्गमार्ग में किसी परिग्रह का लक्ष्य नहीं है। यद्यपि ये परिग्रह उपकरणभूत होने से अपवादमार्ग में इनका निषेध नहीं है, तथापि ये वस्तुधर्म नहीं है।

सर्वज्ञ के आगम कैसी दशा को सम्यक् मुनिपना फरमाते हैं ? – इसे समझने के लिए यह बात है। तीर्थङ्करों के शासन की बात यह कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने इस प्रवचनसार में की है, वह यहाँ स्पष्ट की गयी है। शरीर, मन अथवा वचन के प्रति लक्ष्य जाए, तब उसे उपकरण कहा जाता है। यद्यपि स्वरूप में निर्विकल्प स्थिरता तो मुनिराजों का उत्सर्गमार्ग है, तथापि उक्त कथनानुसार परिग्रह के प्रति लक्ष्य जाए तो भी छठवें गुणस्थान की दशा का छेद नहीं होता। ●

(– सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, गुजराती दैनिक, दिनाङ्क 24 अप्रैल से 27 अप्रैल 1951)

मुनिदशा में

अल्प परिग्रह का फल भी निगोद

(सूत्रपाहुड़, गाथा-18 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

आगे कहते हैं कि अल्प परिग्रह ग्रहण करे उसमें दोष क्या है ? —

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिण्हदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम्॥ 18॥

यथाजातरूपसदृशः तिलतुषमात्रं न गृह्णति हस्तयोः।
यदि लाति अल्पबहुकं ततः पुनः याति निगोदम्॥ 18॥

जन्मते शिशुवत् अकिंचन नहीं तिल-तुष हाथ में।
किंचित् परीग्रह साथ हो तो श्रमण जाँयें निगोद में॥ 18॥

अर्थात् मुनि यथाजातरूप है। जैसे, जन्मता बालक नग्नरूप होता है, वैसे ही नग्नरूप दिगम्बर मुद्रा का धारक है, वह अपने हाथ से तिल के तुषमात्र भी कुछ ग्रहण नहीं करता है और यदि कुछ थोड़ा-बहुत लेवे-ग्रहण करे तो वह मुनि ग्रहण करने से निगोद में जाता है।

☆☆☆

यह भगवान की परम्परा का परम सत्य है। भगवान के श्रीमुख से निकला, सन्तों द्वारा स्वीकार किया हुआ और सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में आया हुआ परम सत्य है।

जैसा, माता के उदर से जन्मा हो, वैसा (यथाजात नग्न) साधु होता है। पर्याय में विकार का अभाव करने और निर्दोषता प्रगट करने के पन्थ में गतिशील मुनिपना, माता से जन्मा वैसा होता है। जैनशासन के मार्ग में अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करने के पन्थ में मुनि यथाजातरूप होते हैं। श्रावक को भी ऐसी श्रद्धा होती है। जिनके अन्तरस्वभाव की दृष्टि से अरागी परिणमन हुआ है, उनके लज्जा नहीं होती है। उनके सेवक उन्हें 'जगत् पिता' कहते हैं। वे पञ्च परमेष्ठी पद में शामिल हैं। उन्हें गणधर भी नमस्कार मन्त्र में नमस्कार करते हैं। केवली भगवान ने ऐसे मुनिपने की आज्ञा की है। वे हाथ में तिल-तुषमात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते हैं; कदाचित् अल्प भी (परिग्रह) ग्रहण करे तो वह ग्रहण करनेवाला निगोद में जाता है। मिथ्यात्व का फल निगोद है। यह बात 'मोक्षमार्गप्रकाशक' (छठवें अधिकार में) आ गयी है।

आत्मा में अरागीदशा, वह चारित्रदशा है, वह केवलज्ञान का कारण है। वह चारित्र कैसा होता है - यह बात यहाँ चल रही है। यह बात सम्प्रदाय के आग्रहवालों को समझ में आये - ऐसी नहीं है; अतः शान्ति से समझने योग्य है।

आत्मा, ज्ञान और आनन्द स्वरूप है; उसकी प्रतीति करके उसमें रमणता करना ही चारित्र है। शरीर, मन, वाणी से भिन्न पड़कर, पुण्य-पाप की रुचि, छोड़कर स्वभाव में लीन होना ही चारित्र है; यह चारित्र मुक्ति प्रदाता है और मुक्ति परम आनन्द का कारण है। इस चारित्र के विषय में सर्वज्ञ की आज्ञा क्या है - यह बताते हैं —

वस्त्रसहित मुनिपना मानना मिथ्यात्व है और उसका फल निगोद है।

मुनियों का शरीर नग्न होता है। उन्हें बाह्य में वस्त्र-पात्र का परिग्रह नहीं होता - ऐसी निर्ग्रन्थदशा होती है। जिनके पुण्य-पाप की रुचि की गाँठ छूट गयी है, पूर्णानन्दस्वभाव की प्रतीति हुई, तदुपरान्त बहुत राग का अभाव हुआ है और स्वभाव की स्थिरता हुई है - ऐसे मुनि को, जैसे माता ने जन्म दिया, वैसा नग्न शरीर होता है। यथाजातरूप होता है। आकाश ही जिनके वस्त्र होते हैं - ऐसे दिगम्बर मुनि होते हैं।

जो दिगम्बर मुद्रा के धारक हैं - ऐसे मुनि, आत्मा के आनन्द में निमग्न अपने हाथ से तिल के तुषमात्र भी परिग्रह धारण नहीं करते हैं और मुनि नाम धराकर, चारित्र नाम धराकर,

केवलज्ञान के साधक नाम धराकर जरा भी परिग्रह रखे तो मिथ्यात्व के कारण निगोद में जाते हैं क्योंकि उसने वस्तुस्वरूप से विपरीत माना है। उसने चारित्र का स्वरूप विपरीत माना और मनवाया; उसे संवर-निर्जरा के स्वरूप का पता नहीं है, स्वभाव के आश्रय से अरागीदशा कैसी होती है ? कितना राग घटता है ? - इसका भी पता नहीं है; इस कारण उसके मिथ्यात्व होता है। यह मिथ्यात्व, अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करने का कारण है। सम्प्रदाय वृद्धि से वस्त्र-पात्रसहित मुनि मानने-मनवाने और अनुमोदन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं। सर्वज्ञ के यथार्थ आदेशवाले शास्त्रों में ऐसा वर्णन है और ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इसमें अपने घर की बात नहीं है जो अपने को मुनि मनाता है, चारित्रदशा होना मनाता है और वह थोड़ा-बहुत भी परिग्रह रखता है, उसको मिथ्यात्व के फल में मोक्ष तो नहीं, बल्कि निगोद होगा।

मुनि, बालक की तरह यथाजात-नग्न दिगम्बर होता है, तथापि जो थोड़ा भी परिग्रह रखता है, उसको भगवान के सूत्र की श्रद्धा नहीं है। सर्वज्ञ का फरमान है कि मुनि को एक भी वस्त्र नहीं रखना चाहिए, वस्त्र-पात्र की ममता छूटने पर ही मुनिपना होता है। जो एक लंगोटी रखकर भी साधुपद मनाता है, उसको सर्वज्ञ भगवान के आगम की श्रद्धा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्व का फल निगोद है। वर्तमान में शुभभाव होवे तो (भले ही) स्वर्ग में जाए; परन्तु फिर परम्परा से एकेन्द्रिय होकर संसार ही में भ्रमण करेगा, क्योंकि वह सर्वज्ञ के आगम का आदेश नहीं मानता है। कदाचित ब्रह्मचर्य पालन से, दया पालन से पुण्य बँधे और उससे स्वर्ग में देव अथवा राजा आदि हो जाए; तथापि परम्परा से निगोद में चला जाएगा। उसके संसार का परिभ्रमण नहीं मिटेगा।

इसी प्रकार मुनि नाम धराकर उद्दिष्ट आहार ले तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। भगवान का ऐसा हुक्म है कि मुनि होकर वस्त्र का एक धागा भी रखे तो भ्रष्ट होकर निगोद में जाएगा। किञ्चित् पुण्य के कारण देव होकर तत्पश्चात् तिर्यञ्च होकर निगोद में जाएगा, उसके भव कम नहीं होते हैं। जीव ने आत्मा का धर्म, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उसे एक समयमात्र भी समझा नहीं, सम्यग्दर्शन को समझे तो ज्ञान चारित्र को समझे। बन्धभाव को भलीभाँति समझे तो अबन्धभाव को समझे। आत्मा को समझे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को समझे।

यहाँ **प्रश्न** होता है कि मुनि के शरीर होता है, वे आहार लेते हैं, मोर पिच्छी, पुस्तक और कमण्डलु रखते हैं; जबकि यहाँ तिल-तुषमात्र भी रखना नहीं कहा है - वह कैसे ?

समाधान - यदि विपरीत अभिप्राय करके, राग को निज मानकर, विषय-कषाय के पोषण के लिये इन्हें रखे तो परिग्रह कहलाये। बाह्य वस्त्र होने पर भी मुनिपना माने और राग को अपना माने तो उसके परिग्रह है - ऐसे मिथ्यात्वसहित परिग्रह रखने का निषेध है परन्तु मुनि के संयम के लिये परिग्रह का सर्वथा निषेध नहीं है। (जैसे), शरीर छोड़ने से नहीं छूटता क्योंकि उसका आयुकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु शरीर से ममता छोड़ने को कहा है। मुनि के आहार ग्रहण की वृत्ति होती है; आहार, शरीर को टिकने में निमित्त है; शरीर संयम में निमित्त है - इस कारण आहार लेने की वृत्ति आती है; अतः निर्दोष आहार लेते हैं। अपने लिए बनाया हुआ आहार और पानी नहीं लेते हैं। दोषरहित आहार लेते हैं तथा शरीर से रागरहित होकर लेते हैं और खड़े-खड़े आहार लेते हैं - यह संयममार्ग है।

मुनिराज के पिच्छी संयम में, कमण्डलु शौच में और पुस्तक ज्ञान में निमित्त है; इसलिए ये परिग्रह नहीं हैं। मुनिराज, मल-मूत्रादि करने गये हों, तब मलयुक्त शरीर से शास्त्र का छूना, मन्दिर आदि में जाना किस प्रकार सम्भव है ? तथा मलसहित रहना लोकनिंद्य होता है। वे कमण्डलु में पानी लेते हैं, सो शौच के लिए लेते हैं, पीने के लिए पानी नहीं लेते हैं। आहार के समय पानी ले लेते हैं, अन्य समय पानी नहीं पीते हैं तथा पिच्छी दया का निमित्त है। शरीर पर मच्छर आदि हो अथवा नीचे चींटी आदि हो, उनकी प्रतिलेखना के लिए पिच्छी होती है तथा पुस्तक ज्ञान का उपकरण है। यदि वह नहीं रखे तो पठन-पाठन किस प्रकार होगा ? तथा ममत्वपूर्वक कमण्डलु, पिच्छी और पुस्तक नहीं रखते हैं, उनके प्रति रागभाव नहीं है।

जहाँ तक आहार-विहार, पठन-पाठन का शुभभाव वर्तता है, वहाँ तक केवलज्ञान नहीं होता है। यद्यपि वे उस राग को अपना नहीं मानते हैं, तथापि छठवें गुणस्थान तक राग आता है। अब जब वे उस राग को छोड़कर, शरीर की ममता छोड़कर आत्मध्यान में लीन होते हैं और श्रेणी माँडते हैं, तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है। जहाँ तक आहार आदि का राग होता है, वहाँ तक केवलज्ञान नहीं होता - ऐसा निर्ग्रन्थपना आगम में कहा गया है।

श्वेताम्बर कहते हैं कि भवस्थिति पूर्ण होने पर सभी अवस्थाओं में केवलज्ञान होता है – तो यह कहना मिथ्या है, यह जिनसूत्र के वचन नहीं हैं। ऐसा कहनेवाले सभी शास्त्र कल्पित हैं, वे दुष्काल के समय से अलग हुए हैं। मुनि के (वस्त्र–पात्रादि) उपकरण कहनेवाले शास्त्र सच्चे नहीं हैं। श्वेताम्बर कहते हैं कि एलाचीकुमार को नृत्य करते हुए और माता मरुदेवी को हाथी के ओहदे पर केवलज्ञान प्रगट हुआ। इस प्रकार गृहस्थवेष में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ – ऐसा कहा है, वह कल्पित बात है। यह बात सर्वज्ञ के शास्त्रानुसार सत्य नहीं है। ये सब कल्पित है, जिनसूत्र के वचन नहीं हैं।

प्रश्न – श्वेताम्बर कहते हैं कि किसी भी लिङ्ग अथवा किसी भी वेष में केवलज्ञान हो सकता है?

समाधान – भगवान महावीर के छह सौ वर्ष के पश्चात् दुष्काल पड़ा था, उस समय वे नग्नरूप में नहीं रह सके थे; अत: वस्त्र–पात्र रखने लगे, इसलिए उनके शास्त्र में कल्पित कथन है।

श्वेताम्बर कहते हैं कि तुम कहते हो, वह उत्सर्गमार्ग है; अपवादमार्ग में वस्त्रादि उपकरण रखना कहा है। प्रवचनसार में कोमल मार्ग कहा है, वह हमारा साधुपना है?

समाधान – प्रवचनसार में ऐसा नहीं कहा है। वस्त्रसहित मुनिपना हो ही नहीं सकता।

फिर वे **तर्क** करते हैं कि जिस प्रकार मोर–पिच्छी, कमण्डलु और पुस्तक धर्म के उपकरण हैं; उसी प्रकार वस्त्र भी उपकरण है। जिस प्रकार क्षुधा की बाधा आहार से सधती है; उसी प्रकार सर्दी आदि की बाधा वस्त्र से सधती है – इसमें क्या अन्तर पड़ता है?

समाधान – इसमें महादोष आता है। वस्त्र रखकर मुनिपना मानने में महादोष आता है। कोई कहे कि कामविकार उत्पन्न होता है, इसलिए स्त्री रमणता करने में क्या दोष है? इसकी जैसी यह दलील / तर्क है; इसलिए तुम्हारा मानना योग्य नहीं है। क्षुधा की बाधा आहार से मिटाना युक्त है, आहार के बिना देह असक्त होती है और छूट जाती है, इससे अपघात का दोष आता है और वृत्ति का विवेक नहीं रहता। शीत आदि की बाधा अल्प है, वह ज्ञानाभ्यास से मिट जाती है। प्रतिकूलता के समय अन्दर की शान्ति में लीन हो जाए तो वह मिट सकती है।

वस्त्रसहित मुनिपना अपवादमार्ग नहीं; किन्तु मिथ्यादृष्टिपना है।

अपवादमार्ग उसे कहा है कि जिसमें मुनिपद रहे – ऐसी क्रिया करना, वह अपवादमार्ग है; वस्त्र को अपवाद नहीं कहा है। वस्त्र रखने से तो गृहस्थवत् हो जाता है, इसलिए वह अपवादमार्ग नहीं है। दिगम्बर मुद्राधारी, कमण्डलु-पिच्छीसहित आहार-विहार, उपदेशादिक में प्रवर्तता है, वह अपवादमार्ग है और सर्व प्रवृत्ति को छोड़कर ध्यान में रहकर शुद्धोपयोगी होता है, वह उत्सर्गमार्ग है। अन्तर आनन्द में लीन होना मुख्यमार्ग है। इस प्रकार वीतराग की आज्ञा में (अपवाद व उत्सर्गमार्ग का स्वरूप) कहा गया है, अत: अपवाद, अर्थात् दोष है, वहाँ तक केवलज्ञान नहीं होता। आनन्दस्वरूप आत्मस्वरूप में लीन होना ही मुख्यमार्ग है – उत्सर्गमार्ग है। आहार-पानी लेना, विहार, उपदेशादि का विकल्प उत्पन्न होना, अपवादमार्ग है, अन्य अपवादमार्ग नहीं है।

भाई! निर्ग्रन्थ मुनिदशा का पालन नहीं कर सके तो उसकी श्रद्धा रखना परन्तु विपरीत मत मानना। ऐसा मुनिपना नहीं साधा जा सके तो विपरीतश्रद्धा और आग्रह किसलिए रखना? मुनिपना नहीं लिया जा सके तो श्रावक रहना। यहाँ मुनिदशा, अर्थात् मात्र नग्न रहने की बात नहीं है, अर्थात् जो आत्मा के भानसहित आनन्दकन्द में झूलते हैं, वे मुनि हैं। ऐसा मुनिपना नहीं लिया जा सके तो श्रावकपना लेना, पश्चात् उसका अभाव करके मुनि होकर मुक्ति हो जाएगी। पाँचवें गुणस्थान में (साक्षात्) मुक्ति नहीं होती, इसलिए परम्परा (से मुक्ति होगी – ऐसा) कहते हैं। वीतराग के शास्त्रों की यथार्थ श्रद्धा रखने से सिद्धि है, इसके बिना अन्य सर्व संसारमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं – ऐसा जानना चाहिए। यह भगवान के आगम का सार है। वस्त्रसहित मुनिपना मानना, मुनि होकर बैठे-बैठे भोजन लेना, दो-दो बार आहार लेना – यह मुनिमार्ग नहीं है। गणधर के वस्त्र होना तथा आहार ले आना माननेवाले यथार्थ नहीं है।

भाई! वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाले की त्रस पर्याय की स्थिति पूरी होने को आ गयी है।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय में श्वेताम्बर मत निकल चुका था; इसलिए वे स्पष्टीकरण करते हैं। वस्त्र-पात्रसहित मुनिपना माने; नैगमनय से मुनिपना माने, उसकी त्रय की स्थिति पूर्ण होने को आयी है। 'दर्शनपाहुड़' गाथा 12 वीं के भावार्थ में कहा है कि – **इस पञ्चम**

काल में मिथ्यामत के आचार्य बनकर लोक में विनय-पूजादिक चाहते हैं, उनके लिये जानना कि उनका त्रस राशि का काल पूरा हुआ है और वे एकेन्द्रिय होकर निगोद में निवास करेंगे।

जैसे, पुण्य फिरता है तो पैसे जाते हैं; वैसे ही तीव्र मिथ्यात्व होने पर त्रस की स्थिति पूरी होती है। नग्न होकर इंजेक्शन लगवावे, घास रखे, वे मुनि नहीं हैं। अकेले नग्न हो जाना ही मुनित्व नहीं है। उग्र प्रतिज्ञा लेकर तोड़ना योग्य नहीं है – महान् पाप है। जो सूत्र की आज्ञा को मान्य रखता है, उसको सिद्धि होती है। सूत्र की आज्ञा से विपरीतवाला तो निगोद में जाता है। यह सनातन सत्य है। आचार्य कुन्दकुन्द तो साक्षात् भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहे थे, भगवान की वाणी सुनी थी – इसका विवेक करो! विरुद्ध अभिप्राय को छोड़ो!! दुनिया की लज्जा छोड़ो! परिवार आदि कोई भी सहायक नहीं है। भाई! इस मिथ्यात्व का फल निगोद है। वस्त्र को अपवाद कहनेवाले निगोद के पात्र हैं। ● *(– अष्टपाहुड़ प्रवचन, पृष्ठ 318-326)*

वीतरागी सन्तों का नाद : जीव! तू जाग रे जाग!!

वीतरागी सन्तों के नाद से आत्मा डोल उठता है.... और स्वभाव के पन्थ में चढ़ जाता है। जैसे अफीम के आदी व्यक्ति को 'चढ़ा-चढ़ा' कहते ही नशा चढ़ता है इसी प्रकार जो आत्मा को साधने के लिए कटिबद्ध हुआ है, जिसे आत्मा को साधने की धगश-छटपटाहट है, उसे सन्त आत्मा का उल्लास चढ़ाते हैं। अरे जीव तू जाग रे जाग.... तेरे चैतन्य में अपूर्व सामर्थ्य है, उसे तू सम्हाल! तुझमें केवलज्ञान का भण्डार है। सन्तों का ऐसा नाद सुनते ही मुमुक्षु का आत्मा उल्लास से जाग जाता है और उपयोग को अन्तरोन्मुख करके वह आत्मा का अनुभव कर लेता है।

(– आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-28, अङ्क-331, पृष्ठ-29)

नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान किसको ?

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 360 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन)

तिविहे पत्तम्मि सया, सद्धाइईगुणेहिं संजुदो णाणी।
दाणं जो देदि सयं, णवदाणविहीहिं संजुत्तो ॥ 360 ॥

अर्थात् जो ज्ञानी श्रावक उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों को दाता के श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होकर, नवधाभक्ति से संयुक्त होता हुआ, नित्यप्रति अपने हाथ से दान देता है, उस श्रावक के तीसरा अतिथिसंविभाग नामक शिक्षाव्रत होता है।

ज्ञानी श्रावक, उत्तम-मध्यम-जघन्य - इन तीन पात्रों को आहारदान देता है। दाता के श्रद्धादि गुणोंसहित, अपने हाथ से, विनयरूप नवधाभक्तिसहित प्रतिदिन दान देता है। सम्यग्दृष्टि भी अन्य अविरतसम्यग्दृष्टि को योग्य विनयपूर्वक दान देता है, वह शुभभाव है; उसको स्वभाव के अवलम्बन से जितना राग घटा, उतना संवर है। अविरति श्रावक धर्मात्मा को आहार देने का भाव पुण्य है; पाप नहीं।

आहार, औषध, अभय, और शास्त्र - यह चार प्रकार का दान है। पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक है, वह भी अविरतसम्यग्दृष्टि को भी आहारादि दान देता है। अशुभ में नहीं जाने के लिए पूजा, भक्ति, विनय, दया, प्रभावनादि कार्य में हमेशा दान देता है। तीनों पात्रों को दान देता है।

पञ्चम गुणस्थानवाला श्रावक, चौथे गुणस्थानवाले को भी योग्य आदरपूर्वक दान देता है तथा मुनियों को भी दान देता है। यह दान, अतिशय साररूप उत्तम है, सर्वसिद्धि और सुखप्रदायक है।

लौकिक दान की अपेक्षा इस दान की विशेषता है क्योंकि इसमें वीतरागी स्वभाव की पुष्टि की अनुमोदना है। वह शुभराग को धर्म नहीं मानता; देह की क्रिया, आहारादि देने की क्रिया मैं कर सकता हूँ – ऐसा नहीं मानता। इस कारण स्वभाव के लक्ष्य से राग मिटाकर, जितनी शुद्धि होती है, वह सर्वसिद्धि और सुख का कारण है और उसी के आरोप द्वारा दान के शुभभाव को भी अतिशय साररूप कहा जाता है।

कोई कहता है कि ग्यारहवीं प्रतिमाधारी क्षुल्लक, ऐलक श्रावकपदवी में हैं, उनकी भी नवधाभक्ति करना – इसके लिए वह इस गाथा का आधार देता है परन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचार 123वें श्लोक में इस गाथा का अर्थ, मुनि-श्रावक के जैसा पद हो, उसके योग्य पदवी अनुसार विनय करना आदि कहा है।

यहाँ तो पाँचवे गुणस्थानवाले श्रावक की बात है। पञ्चम गुणस्थानवाला, चौथे गुणस्थानवाले की नवधाभक्ति किस प्रकार करेगा ? इसलिए जो नवधाभक्ति कही है, वह योग्यतानुसार समझना चाहिए। मुख्यरूप से मुनि को नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान की विधि है और श्रावक आदि का योग्य आदर-बहुमान आदि करना चाहिए।

आशय यह है कि तीन प्रकार के पात्रों में उत्कृष्टपात्र तो मुनि हैं; मध्यम अणुव्रती श्रावक और जघन्य अविरतसम्यग्दृष्टि हैं।

दातार के **श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति** – ये सात गुण हैं तथा अन्य प्रकार से भी हैं – **इस लोक के फल की वाञ्छारहित, क्षमावान, कपटरहित, अन्य दाता से ईर्ष्यारहित, दान देने के बाद तत्सम्बन्धी विषादरहित, देने के हर्षवाला और गर्वरहित** – इस प्रकार भी सात गुण कहे गये हैं।

तथा **प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पाद-प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और आहारशुद्धि** – इस प्रकार नवधाभक्ति है।

इस प्रकार जो दातार के गुणोंसहित, नवधाभक्तिपूर्वक पात्र को प्रतिदिन चार प्रकार का दान देता है, उसके तीसरा (अतिथि संविभाग) शिक्षाव्रत होता है। यह भी मुनिपने की शिक्षा के लिए है क्योंकि यदि देना सीखे तो तदनुसार स्वयं मुनि होने के पश्चात् लेना होगा।

श्रावक द्वारा नवधाभक्तिपूर्वक विनय होने पर ही मुनि आहार लेते हैं। वे ऐसी सिंह वृत्तिपूर्वक उग्र वैराग्यवन्त होते हैं कि शरीर के लिए सदोष आहार अथवा विनयरहित आहार नहीं लेते।

(1) मुनि को आते देखकर पधारो... पधारो... पधारो – ऐसा तीन बार परम विनयसहित कहना **प्रतिग्रह** है। श्रावक, ऐलक, क्षुल्लक आदि की विनय भी उनकी पदवी अनुसार करना चाहिए। (2) **उच्च आसन,** (3) **पाद-प्रक्षालन** – पैर धोना, (4) पूजन सामग्री से विधिपूर्वक **पूजन** करना, (5) **प्रणाम,** (6) **मनशुद्धि** – संसार, व्यापार सम्बन्धी अशुभ विकल्प नहीं करना, (7) **वचनशुद्धि** – किसी के प्रति कठोर वचन नहीं बोलना, (8) **कायशुद्धि** – बाह्य शारीरिक अशुद्धि नहीं रखना, और (9) **आहारशुद्धि** – उद्देशिक अथवा अध:कर्मी इत्यादि सदोष आहार नहीं हो, अपितु (दातार ने) स्वयं के लिए बनाया हो। यह नवधाभक्ति है।

नग्न दिगम्बर मुनि, महान वीतरागी सन्त होते हैं, उनसे महाभक्ति – विनय से कहें कि प्रभु! मुझे मन-वचन-काया की शुद्धता है, मलिनता नहीं – ऐसा मुनि के समीप स्वीकार करना चाहिए। मुनिराजों को पुरुषार्थ और निरालम्बनता की उग्रता ऐसी है कि वे नवधाभक्ति के बिना जहाँ-तहाँ से आहार लेते ही नहीं।

श्रावक ऐसी प्रसन्नतापूर्वक आहार देता है कि अहो! धन्य मेरा अवतार!! मेरे आँगन में मुनिराज का आहार हुआ!!! इस प्रकार उत्तमपात्र-मुनि को नवधाभक्तिपूर्वक और मध्यम-जघन्यपात्र को उनके योग्य विनयसहित, दाता के गुणों से सहित श्रावक प्रतिदिन चार प्रकार का दान देता है।

श्रावक को इस प्रकार का भाव होता है, इसका नाम **अतिथिसंविभाग** नामक शिक्षाव्रत है। ●

(- 29 जुलाई 2952 का प्रवचन)

धन्य सन्त! धन्य आज का दिन!!

वीतरागी दिगम्बर जैन सन्त को अपने आँगन में पाकर धर्मात्मा श्रावक के हृदय में उत्पन्न होनेवाले बहुमान; उन्हें आहार कराकर होनेवाली प्रसन्नता इत्यादि का भावपूर्ण वर्णन, आचार्यश्री पद्मनन्दिदेव ने पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में समागत देशव्रतोद्योतन अधिकार में किया है। इस विषय पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अन्तर उद्‌गार इस प्रवचन में प्रस्तुत हैं।

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटं
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्‌वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते॥

सामान्यर्थ – सर्व जीव सुख चाहते हैं; वह सुख प्रगटरूप से मोक्ष में है; उस मोक्ष की सिद्धि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय द्वारा होती है; रत्नत्रय, निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु को होता है; साधु की स्थिति शरीर के निमित्त से होती है; शरीर की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है, और वह भोजन श्रावकों द्वारा दिया जाता है – इस प्रकार इस अतिशय क्लिष्टतर काल में भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावकों के निमित्त से ही हो रही है।

प्रथम, धर्मी श्रावक को आहारदान के कैसे भाव होते हैं ? – वह यहाँ बतलाते हैं।

व्यवहार का कथन है, इसलिए (श्लोक में) प्रायः शब्द रखा है; निश्चय से तो आत्मा के शुद्धभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग टिका हुआ है और उस भूमिका में यथाजातरूपधर

निर्ग्रन्थ शरीर, आहार आदि बाह्य निमित्त होते हैं अर्थात् दान के उपदेश में 'प्राय:' इसके द्वारा ही मोक्षमार्ग प्रवर्तता है – ऐसा निमित्त से कहा जाता है; वास्तव में कोई आहार या शरीर से मोक्षमार्ग टिकता है – ऐसा नहीं बताना है। अरे ! मोक्षमार्ग के टिकने में जहाँ महाव्रत आदि के शुभराग का सहारा नहीं, वहाँ शरीर और आहार की क्या बात ? इसके आधार से मोक्षमार्ग कहना, वह सब निमित्त का कथन है।

यहाँ तो आहारदान देने में धर्मी जीव का, श्रावक का ध्येय कहाँ है ? – यह बतलाना है। दान आदि के शुभभाव के समय ही धर्मी गृहस्थ को अन्तर में मोक्षमार्ग का बहुमान है; पुण्य का बहुमान नहीं, बाह्य क्रिया का कर्तृत्व नहीं; परन्तु मोक्षमार्ग का ही बहुमान आता है –

अहो! धन्य ये सन्त! धन्य आज का दिन!! कि मेरे आँगन में मोक्षमार्गी मुनिराज पधारे; आज तो जीता-जागता मोक्षमार्ग मेरे आँगन में आया। अहो! धन्य यह मोक्षमार्ग!! ऐसे मोक्षमार्गी मुनि को देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल उठता है; मुनि के प्रति उसे अत्यन्त भक्ति और प्रमोद उत्पन्न होता है।

अरे ! सच्चा साथ तो साधर्मी का ही होता है। अन्य लौकिक सम्बन्ध की अपेक्षा उसे धर्मात्मा के प्रति विशेष उल्लास आता है। मोही जीव को स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन आदि के प्रति प्रेमरूप भक्ति आती है; वह तो पापभक्ति है। धर्मी जीव को देव, गुरु, धर्मात्मा के प्रति परम प्रीतिरूप भक्ति उछल पड़ती है; वह पुण्य का कारण है और उसमें वीतराग-विज्ञानमय धर्म के प्रेम का पोषण होता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं है, उसे धर्म के प्रति भी भक्ति नहीं है क्योंकि धर्मी के बिना धर्म नहीं होता। **जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे धर्मात्मा के प्रति उल्लास आए बिना नहीं रहता।**

धर्मी श्रावक, अन्य धर्मात्मा को देखकर आनन्दित होते हैं और उन्हें जो बहुमान से आहारदान आदि का भाव आता है, उसका यह वर्णन है। मुनि को तो शरीर के प्रति राग नहीं है, वे तो चैतन्य की साधना में लीन रहते हैं और जब कभी देह की स्थिरता के लिए आहार की वृत्ति उठती है, तब आहार के लिए नगरी में पधारते हैं। ऐसे मुनि को देखते ही गृहस्थ को

ऐसे भाव आते हैं कि **अहो! रत्नत्रय को साधनेवाले इन मुनि को शरीर की अनुकूलता रहे – ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे ये रत्नत्रय को निर्विघ्न साध सकें।**

इस प्रकार व्यवहार से शरीर को धर्म का साधन कहा है और उस शरीर का निमित्त अन्न है अर्थात् **वास्तव में तो आहारदान देने के पीछे गृहस्थ की भावना परम्परा से रत्नत्रय के पोषण की ही है, उसका लक्ष्य रत्नत्रय पर ही है और उस भक्ति के साथ अपने आत्मा में रत्नत्रय की भावना पुष्ट करता है।** श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी जैसे भी मुनियों को परम भक्ति से आहार देते थे।

मुनियों के आहार की विशेष विधि है। मुनि जहाँ-तहाँ आहार नहीं करते; वे जैनधर्म की श्रद्धावाले श्रावक के यहाँ ही नवधाभक्ति आदि विधिपूर्वक आहार करते हैं। श्रावक के यहाँ भी भक्ति से पड़गाहन के बिना मुनि आहार के लिए नहीं पधारते। श्रावक भी अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नौ प्रकार की भक्ति से निर्दोष आहार मुनि के हाथ में देते हैं। **जिस दिन मुनि के आहारदान का प्रसङ्ग अपने आँगन में हो, उस दिन उस श्रावक के आनन्द का पार नहीं होता।**

श्रीराम और सीता जङ्गल में मुनि को भक्ति से आहारदान दे रहे थे, इसी समय एक गृद्धपक्षी जटायु भी उसे देखकर उसकी अनुमोदना करता है और उसे जातिस्मरण ज्ञान होता है। श्रेयांसकुमार ने जब ऋषभमुनि को प्रथम आहारदान दिया था, तब भरत चक्रवर्ती उसे धन्यवाद देने उसके घर गये थे।

दान की महिमा का वर्णन करते हुए उपचार से ऐसा भी कहा है कि मुनि का आहारदान, श्रावक को मोक्ष का कारण है; यहाँ वास्तव में तो श्रावक को उस समय में जो पूर्णता के लक्ष्य से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है, वही मोक्ष का कारण है; राग कहीं मोक्ष का कारण नहीं –ऐसा समझना चाहिए।

● सब जीवों को सुख चाहिए। ● पूर्ण सुख मोक्षदशा में है। ● मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। ● रत्नत्रय निर्ग्रन्थ मुनि को होता है। ● मुनि का शरीर, आहारादि के निमित्त से टिकता है। ● आहार का निमित्त गृहस्थ श्रावक है; इसलिए परम्परा से गृहस्थ मोक्षमार्ग का कारण है।

जिस श्रावक ने मुनि को भक्ति से आहारदान दिया, उसने मोक्षमार्ग टिकाया – ऐसा परम्परा निमित्त की अपेक्षा से कहा है परन्तु इसमें आहार लेनेवाला और देनेवाला दोनों सम्यग्दर्शनसहित हैं, दोनों को राग का निषेध और पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव का आदर वर्तता है। आहारदान देनेवाले को भी सत्पात्र और कुपात्र का विवेक है। चाहे जैसे मिथ्यादृष्टि अन्यलिङ्गी को गुरु मानकर आदर करने में तो मिथ्यात्व की पुष्टि होती है।

धर्मी श्रावक को तो मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति का प्रेम है क्योंकि सुख तो मोक्षदशा में है – ऐसा उसने जाना है अर्थात् उसे अन्यत्र कहीं सुखबुद्धि नहीं है। ऐसे मोक्षसुख को रत्नत्रयधारी दिगम्बर मुनि साध रहे हैं; इसलिए मोक्षाभिलाषी जीव को ऐसे मोक्ष-साधक मुनि के प्रति परम उल्लास, भक्ति और अनुमोदना आती है, वहाँ आहारदान आदि के प्रसङ्ग सहज ही बन जाते हैं।

देखो! यहाँ तो श्रावक ऐसा है कि जिसे मोक्षदशा में ही सुख भासित हुआ है; जिसे संसार में अर्थात् पुण्य में – राग में – संयोग में कहीं सुख नहीं भासता। जिसे पुण्य में मिठास लगे, राग में सुख लगे, उसे मोक्ष के अतीन्द्रियसुख की प्रतीति नहीं है और उसे मोक्षमार्गी मुनिवर के प्रति सच्ची भक्ति भी उल्लसित नहीं होती। मोक्षसुख तो रागरहित है; उसे पहिचाने बिना जो राग को सुख का कारण मानता है, उसे मोक्ष की अथवा मोक्षमार्गी सन्तों की पहिचान नहीं है और पहिचान बिना की गयी भक्ति को सच्ची भक्ति नहीं कहते।

मुनि को आहार देनेवाले श्रावक का लक्ष्य मोक्षमार्ग पर है कि अहो! ये धर्मात्मा मुनिराज, मोक्षमार्ग को साध रहे हैं। श्रावक भी मोक्षमार्ग के बहुमान से और उसकी पुष्टि की भावना से आहारदान देता है; अतः उसे मोक्षमार्ग टिकाने की भावना है और अपने में भी वैसा ही मोक्षमार्ग प्रगट करने की भावना है; इसलिए कहा है कि आहारदान देनेवाले श्रावक द्वारा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है।

इसका एक दृष्टान्त आता है कि किसी ने भक्ति से एक मुनिराज को आहारदान दिया और उसके आँगन में रत्नवृष्टि हुई। दूसरा कोई लोभी मनुष्य ऐसा विचारने लगा कि मैं भी इन मुनिराज को आहारदान दूँ, जिससे मेरे घर भी रत्नों की वृष्टि होगी। देखो! इस भावना में तो लोभ का पोषण है। श्रावक को ऐसी भावना नहीं होती; श्रावक को तो मोक्षमार्ग के

पोषण की भावना है कि **अहो! चैतन्य के अनुभव से जैसा मोक्षमार्ग मुनिराज साध रहे हैं, वैसा मोक्षमार्ग मैं भी साधूँ।** ऐसी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति की भावना उसे वर्तती है; इसलिए इस क्लिष्ट पञ्चम काल में भी प्राय: ऐसे श्रावकों द्वारा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति है – ऐसा कहा जाता है।

मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति **प्रायः** गृहस्थ द्वारा दिये हुए दान से चलती है। इसमें **प्रायः** शब्द यह सूचित करता है कि यह नियमरूप नहीं है। जहाँ शुद्धात्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग टिके, वहाँ आहारादि को निमित्त कहा जाता है अर्थात् यह तो उपचार ही हुआ। शुद्धात्मा के आश्रय से ही मोक्षमार्ग टिकता है; इसके बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता – यह नियमरूप सिद्धान्त है।

आनन्दस्वरूप आत्मा में श्रद्धा–ज्ञान–स्थिरता मोक्ष का कारण है और बीच के व्रतादि शुभपरिणाम, पुण्यबन्ध के कारण हैं। आत्मा के आनन्दसागर को उछालकर उसमें जो मग्न है – ऐसे नग्न मुनि रत्नत्रय को साध रहे हैं, उसके निमित्तरूप देह है और देह के टिकने का कारण आहार है; इसलिए जिसने भक्ति से मुनि को आहार दिया, उसने मोक्षमार्ग दिया अर्थात् उसके भाव में मोक्षमार्ग टिकने का आदर हुआ। इस प्रकार भक्ति से आहारदान देनेवाला श्रावक इस दु:षमकाल में मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति का कारण है। धर्मात्मा श्रावक ऐसा समझकर मुनि आदि सत्पात्र को रोज भक्ति से दान देता है।

अहो! मेरे घर कोई धर्मात्मा सन्त पधारें, ज्ञान–आनन्द का भोजन करनेवाले कोई सन्त मेरे घर पधारें तो भक्ति से उन्हें भोजन दूँ – ऐसा भाव गृहस्थ श्रावक को रोज–रोज आता है। ऋषभदेव के जीव ने पूर्व के आठवें भव में मुनिवरों को परम भक्ति से आहार दिया था और तिर्यञ्चों ने भी उसका अनुमोदन करके उत्तम फल प्राप्त किया था – यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है। श्रेयांसकुमार ने आदिनाथ मुनिराज को आहारदान दिया था – ये सब प्रसङ्ग प्रसिद्ध हैं।

सम्यग्दर्शनरहित जीव, मुनिराज आदि उत्तम पात्र को आहारदान दे अथवा अनुमोदना करे तो उसके फल में वह भोगभूमि में उत्पन्न होता है, वहाँ असंख्य वर्ष की आयु होती है और दस प्रकार के कल्पवृक्ष उसे पुण्य का फल देते हैं। ऋषभदेव आदि जीवों ने पूर्व में मुनियों

को आहारदान दिया, इससे वे भोगभूमि में जन्मे और वहाँ मुनि के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

सामनेवाला जीव, धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद, बहुमान और भक्ति का भाव उल्लसित होता है क्योंकि स्वयं को उस आराधना का तीव्र प्रेम है अर्थात् उसके प्रति भक्ति से 'मैं उस पर उपकार करता हूँ' - ऐसी बुद्धि से नहीं, परन्तु आदरपूर्वक शास्त्रदान, आहारदान आदि के भाव आते हैं। इस बहाने वह स्वयं अपने राग को घटाता है और आराधना की भावना को पुष्ट करता है।

यहाँ पुण्य का फल बताकर कोई उसका लालच नहीं कराते, परन्तु राग घटाने का उपदेश देते हैं। जिस प्रकार स्त्री, शरीर आदि के लिए अशुभभाव से शक्ति-अनुसार उत्साहपूर्वक खर्च करता है, वहाँ अन्य को यह कहना नहीं पड़ता कि तू इतना खर्च कर। इसी प्रकार जिसे धर्म का प्रेम है, वह जीव स्वप्रेरणा से देव-गुरु-धर्म की भक्ति, पात्रदान आदि में बारम्बार अपनी लक्ष्मी का उपयोग करता है, इसमें वह किसी के कहने की राह नहीं देखता। राग तो अपने लिए घटाना है न? किसी अन्य के लिए राग नहीं घटाना है; इसलिए धर्मी जीव को चतुर्विध दान द्वारा अपने राग को घटाना चाहिए - ऐसा उपदेश है। ●

(- श्रावकधर्म प्रकाश, पृष्ठ 68 से 73 एवं 92 व 94 से सङ्कलित)

आहार ग्रहण करते हुए भी अनाहारी

(प्रवचनसार गाथा 226-227 पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन)

अब, अनिषिद्ध शरीरमात्र उपधि के पालन की विधि का उपदेश करते हैं अर्थात् जिसका निषेध नहीं किया गया है – ऐसे शरीरमात्र परिग्रह के पालन करने की विधि के अन्तर्गत युक्ताहार-विहारी श्रमण का स्वरूप बताते हैं –

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्हि लोयम्हि।

जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो॥ 226॥

अर्थात् श्रमण, कषायरहित वर्तता हुआ, इस लोक में निरपेक्ष और परलोक में अप्रतिबद्ध होने से युक्ताहार-विहारी होता है।

देखो! मुनि कैसे होते हैं?

अनादिनिधन एकरूप शुद्ध आत्मतत्त्व में परिणत होने से श्रमण, समस्त कर्मपुद्गल के विपाक से अत्यन्त भिन्न स्वभाव के द्वारा कषायरहित होते हैं।

अन्तर में अनादि-अनन्त ज्ञायकस्वभाव में लीन मुनि समस्त कर्म से भिन्न ही हैं। जहाँ स्वभाव में स्थिर हुए, तब कर्म के साथ सम्बन्ध कहाँ रहा? यहाँ तो कहा है कि मुनि का आत्मा समस्त कर्म से भिन्न हो गया है। अरे रे! अभी तो लोग यह मानते हैं कि कर्म मुझे परिभ्रमण कराता है, लेकिन ऐसी मान्यतावालों को मुनिदशा कैसे हो सकती है?

श्रमण, वर्तमानकाल में मनुष्यत्व के होते हुए भी स्वयं समस्त मनुष्यव्यवहार से बहिर्भूत होने के कारण इस लोक के प्रति निरपेक्ष (निस्पृह) हैं।

मुनिराज को मनुष्यदेह का संयोग है परन्तु वे तो रागरहित होकर चैतन्य में स्थिर हैं; इसलिए जो वीतरागपर्याय प्रगट हुई है, वही मुनियों का आत्मव्यवहार है और वे समस्त बाह्य मनुष्यव्यवहार से रहित हैं; इसलिए मुनि इस लोक में निरपेक्ष हैं। जहाँ शरीर की भी उपेक्षा है, वहाँ अन्य बाह्य पदार्थों की तो क्या बात है ? मुनिराज तो लोकव्यवहार से बाहर निकल गये हैं और अन्तर में चैतन्य की निर्मलपर्याय हुई है, वही उनका व्यवहार है।

तथा वे श्रमण, भविष्य में होनेवाले देवादि भवों के अनुभव की तृष्णा से शून्य होने के कारण परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध हैं।

श्रीमद् कुन्दकुन्दभगवान और श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव यहाँ मुनिरूप में थे। वे यहाँ से स्वर्ग में जानेवाले थे, परन्तु वहाँ के भोगों की तृष्णा उनको नहीं थी। सम्यग्दृष्टि और मुनि तो वैमानिक स्वर्ग में ही जाते हैं, आराधक धर्मात्मा भी ऊँचे स्वर्ग में ही जाते हैं। वे स्वर्ग से आकर राजा इत्यादि पुण्यवन्त के यहाँ ही जन्म लेते हैं; दरिद्रता में उनका जन्म नहीं होता, लेकिन उन धर्मात्माओं को उन भोगों के अनुभव की तृष्णा नहीं है। मुनि को ख्याल है कि मेरी साधकदशा पूर्ण नहीं होगी; इसलिए स्वर्ग में अवतार होगा, परन्तु उन्हें वहाँ के भोगों की अभिलाषा नहीं है। अतः वीतरागभाव होने से वे परलोक के प्रति भी निरपेक्ष हैं; प्रतिबद्ध नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा यहाँ से मरकर सीधे महाविदेहक्षेत्र में नहीं जाते तथा स्त्रीपर्याय में भी उत्पन्न नहीं होते। मुनियों को ऐसी वीतरागता है कि उन्हें स्वर्ग के वैभव की तृष्णा ही नहीं है; अल्पराग रह गया है, इसलिए पुण्य बँध जाता है और वैभव प्राप्त होता है अर्थात् वे इन्द्र होते हैं, लौकान्तिक, ब्रह्म-ऋषि इत्यादि होते हैं परन्तु चैतन्य में अन्तर्मुख परिणति होने से वे धर्मात्मा, उस वैभव की तृष्णा से रहित हैं।

मुनिराज को वर्तमान शरीर की स्पृहा नहीं है तथा भविष्य में प्राप्त होनेवाले वैभव की तृष्णा भी नहीं है; इसलिए वे इसलोक तथा परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध हैं - ऐसी उनकी वीतरागपरिणति हो गयी है।

जैसे, ज्ञेयपदार्थों के ज्ञान की सिद्धि के लिए अर्थात् घटपटादि पदार्थों को देखने के लिए ही दीपक में तेल डाला जाता है और दीपक को स्थानान्तरित किया जाता है; उसी प्रकार श्रमण, शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि की सिद्धि के लिए अर्थात् शुद्धात्मा को प्राप्त करने के लिए ही शरीर को खिलाता और चलाता है; इसलिए युक्ताहार-विहारी होता है।

देखो, चरणानुयोग में निमित्तप्रधान कथन है। साधक की भूमिका में इस प्रकार का विकल्प उत्पन्न होता है और बाह्य में वैसी क्रिया भी हो जाती है। वहाँ इसका ज्ञान कराने के लिए कहा है कि शरीर को खिलाते और चलाते हैं परन्तु शरीर के प्रति मोह-ममता नहीं है। आत्मा शरीर की क्रिया कर सकता है - यह कहने का यहाँ आशय नहीं है; किन्तु मुनि को राग उत्पन्न होने पर उस प्रकार के आहार-विहार का विकल्प उत्पन्न होता है, उस विकल्प का आरोप करके मुनि, शरीर को खिलाते और चलाते हैं, यह कहा है। पूर्ण वीतरागपर्याय प्रगट नहीं हुई है और विकल्प उत्पन्न हुआ है; इसलिए देह के प्रति लक्ष्य जाने से आहार आदि की वृत्ति उत्पन्न होती है।

मिथ्यादृष्टि जीव तो शरीर का स्वामी होता है परन्तु यहाँ तो पहले ही यह कहा कि मुनि शरीर से निरपेक्ष हैं। तत्पश्चात् यह निमित्त का ज्ञान कराया कि मुनि शरीर को आहार-विहार कराते हैं। वहाँ छठवें गुणस्थान में उतना विकल्प उत्पन्न होता है, उससे अधिक राग होने नहीं देते - इस अपेक्षा से कहा है कि शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि की सिद्धि के लिए वे शरीर को खिलाते और चलाते हैं - ऐसे मुनि युक्ताहार-विहारी हैं। वे तीव्र रागपूर्वक गृद्धतासहित आहारादि में प्रवृत्त नहीं होते; इसलिए युक्ताहार-विहारी हैं।

सम्यग्दर्शन का ध्येय तो सम्पूर्ण द्रव्य ही है, यह बात तो कभी विस्मृत होती ही नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव पर के आश्रय से, विकल्प के आश्रय से अथवा पर्याय के आश्रय से लाभ माने - ऐसा तीन काल में कभी नहीं होता। वीतरागी पर्याय में से वीतरागता नहीं आती; इसलिए उस पर्याय का आश्रय भी सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में नहीं है; श्रद्धा में तो द्रव्य का ही आश्रय है, उस द्रव्य पर दृष्टि रखकर यह सब बात है।

यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि श्रमण कषायरहित हैं; इसलिए वे वर्तमान मनुष्यशरीर

के या भावी दिव्य देवशरीर के अनुराग से आहार-विहार में अयुक्तरूप से प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि की साधक श्रामण्यपर्याय के पालन के लिए ही केवल युक्ताहारविहारी होते हैं।

मुनि को छठवें गुणस्थान में निर्दोष आहार-विहार का विकल्प उत्पन्न होता है। वे मुनि, शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के साधनभूत श्रामण्यपर्याय के पालन के लिए ही केवल युक्ताहार -विहारी होते हैं, यह भी निमित्तप्रधान चरणानुयोग का कथन है; परमार्थ से तो द्रव्य के आश्रय से ही लीनता होती है, उसके जोर से ही साधकपना टिकता और बढ़ता है।

अपने लिए आहार के चौका बनाये हों और वे आहार लें – ऐसा तो मुनिदशा में होता ही नहीं। ऐसा आहार लेनेवाले को युक्ताहार नहीं कहा जाता और वहाँ मुनिपना भी नहीं होता। इस यथार्थ मुनिदशा का वीतरागभाव प्रगट न हो तो अपने को मुनि नहीं मानना, परन्तु यथार्थ मुनिपने को पहचानकर उसकी श्रद्धा करना; उससे विरुद्ध माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य अष्टपाहुड़ में कहते हैं –

जहजायरुवसरिसो, तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं, तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम्॥

(– सूत्रपाहुड़, गाथा 18)

अर्थात् मुनि यथाजातरूप हैं। जैसा जन्मता बालक नग्नरूप होता है; वैसी नग्नरूप दिगम्बर मुद्रा के धारक मुनिराज हैं। वे अपने हाथ में तिल के छिलके बराबर भी कुछ ग्रहण नहीं करते। यदि थोड़ा-बहुत ग्रहण करें तो वे मुनि उसके ग्रहण से निगोद जाते हैं।

भाई! यदि शक्ति हो तो ऐसे मुनिपने का पालन करना, यदि शक्ति न हो तो वैसी श्रद्धा करना, क्योंकि कुन्दकुन्द भगवान कहते हैं –

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं, सद्दहमाणस्स सम्मत्तं॥

(– दर्शनपाहुड़, गाथा 22)

अर्थात् जो करने में समर्थ हों तो वह करें और जो करने में समर्थ नहीं हो तो उसका श्रद्धान करें, क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करनेवाले को सम्यक्त्व कहा है।

देखो, आचार्यदेव ने यहाँ मुनिदशा का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन किया है–

अब, युक्ताहारविहारी साक्षात् अनाहारविहारी अर्थात् अनाहारी और अविहारी ही हैं, ऐसा उपदेश करते हैं –

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥

अर्थात् जिसका आत्मा एषणारहित है अर्थात् जो अनशनस्वभावी आत्मा का ज्ञाता होने से स्वभाव से ही आहार की इच्छा से रहित हैं, उसे वह भी तप है और उसे प्राप्त करने के लिए अर्थात् अनशनस्वभाववाले आत्मा को परिपूर्णतया प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करनेवाले श्रमणों के अन्य अर्थात् स्वरूप से पृथक् बाह्य भिक्षा एषणारहित होती है; इसलिए वे श्रमण अनाहारी हैं।

मुनि को आहार ग्रहण की भावना ही नहीं है, अपितु आहाररहित अनाहारी चैतन्यस्वभाव में ही लीनता की भावना है, इसलिए उस मुनि का आत्मा अनाहारी है; अतः मुनियों को वह तप है। उन्हें स्वभाव में एषणा है अर्थात् स्वभाव में स्थिरता की मुख्यता में आहार ग्रहण की मुख्यता नहीं है। प्रतिक्षण, प्रतिपल अन्तर के आनन्द को शोधकर उसमें लीन होते हैं और अन्दर से अमृत झरता है – ऐसी दशा में वर्तते मुनि को स्वभाव से ही तप होता है। हाथ में आहार का ग्रास पड़ा हो, उस समय भी मुनियों की दशा तो अन्तर के अनाहारी आत्मस्वभाव में है; इसलिए उन्हें स्वभाव से आहार की इच्छा नहीं है, आहाररहित स्वभाव में ही स्थिरता की मुख्यता है; इसलिए मुनियों का आत्मा, एषणारहित है, उसे तप कहा गया है।

आहार के एक रजकण का भी ग्रहण मुझमें नहीं है – ऐसा भान होने से मुनि को आहार की इच्छा नहीं है; इसलिए उन्हें वह भी तप है। भले ही आहार का विकल्प उत्पन्न हो, परन्तु भावना तो अनाहारी आत्मा की ही मुख्य है। यह दशा वीतरागभावपूर्वक होती है। मुनिराज को

अनाहारीस्वभाव की भावना और एकाग्रता बहुत विशेष बढ़ गयी है। सम्यग्दृष्टि को अनाहारीस्वभाव की दृष्टि है परन्तु मुनि जितनी भावना अथवा एकाग्रता नहीं है। यहाँ तो जिन्हें बहुत वीतरागता बढ़ गई है – ऐसी मुनि की दशा का वर्णन है।

(1) स्वयं अनशनस्वभाववाला होने से अर्थात् अपने आत्मा को स्वयं अनशनस्वभाववाला जानने से, और (2) एषणादोषशून्यभिक्षावाला होने से युक्ताहारी श्रमण, साक्षात् अनाहारी ही है।

अन्तरस्वरूप में झूलूँ.... आनन्द में लवलीन हो जाऊँ.... पूर्ण चैतन्य और केवलज्ञान को प्राप्त करूँ – ऐसी भावनावाले मुनि को आहार की वृत्ति उत्पन्न हो तो निर्दोष आहार की वृत्ति ही उत्पन्न होती है; इस अपेक्षा से उस मुनि को अनाहारी ही कहा गया है।

आत्मा का भान करने के पश्चात् भी यह दशा अङ्गीकार करना पड़ेगी। आत्मा की पहचान करके ऐसी दशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान और मुक्ति नहीं होगी। बँगले में बैठे-बैठे ऐसी मुनिदशा नहीं आती; इसलिए आत्मा की पहिचानसहित इस वीतरागी मुनिदशा की भावना करनी चाहिए।

देखो, प्रथम तो मुनि को आत्मा का भान होता है कि मैं देहादि जड़ से पृथक् ज्ञानमय आत्मा हूँ और रागादि होते हैं, वह मेरी पर्याय की अशुद्धता है; वह मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा भान होने के पश्चात् स्वभाव में स्थिरता करके आनन्द का अनुभव करने से मुनि को तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हो जाता है – ऐसी दशा में मुनि को आहार की वृत्ति उत्पन्न होती है, तब उनका आहार कैसा होता है ? यह बात यहाँ चल रही है।

आत्मा, स्वयं आहार-पानी के ग्रहण से रहित है अर्थात् वह स्वयं स्वभाव से ही अनशनस्वभाववाला है – ऐसे आत्मा को जानने से और अनुभव करने से मुनिराज को अनशन तप है तथा आहार की वृत्ति उत्पन्न होती है, तब भी दोषरहित युक्ताहारी होने से वे साक्षात् अनाहारी ही हैं। दोषसहित आहार उनके नहीं होता। यहाँ मुनि को युक्ताहारी कहा, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

सदा ही समस्त पुद्‌गलाहार से शून्य ऐसे आत्मा को जानता हुआ समस्त अशन

तृष्णारहित होने से जिसका स्वयं अनशन ही स्वभाव है, वही उनके अनशन नामक तप है क्योंकि अन्तरङ्ग की विशेष बलवत्ता है।

मुझ आत्मा में पुद्गल का आहार तो है ही नहीं और आहार की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह भी पर्याय की कमजोरी है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। समस्त प्रकार के आहार से मेरा आत्मा शून्य है; इसलिए मुझे किसी प्रकार के आहार की तृष्णा नहीं है। मेरा आत्मा सर्व प्रकार के आहार की तृष्णा से भी रहित है। विकल्प उत्पन्न हो, परन्तु भावना तो अनाहारी ज्ञातास्वभाव की ही वर्तती है; इसलिए मुनि के आत्मा का स्वभाव ही स्वयं अनशनस्वरूप है। स्वयं अर्थात् अपने आप, अपने से ही सहजरूप। तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा को स्वयं अनशनस्वभावी जानना ही अनशन नामक तप है।

मैं आहार के रजकणरहित चिदानन्दस्वरूप हूँ – ऐसी दृष्टि जिसे हुई है, वह आत्मा स्वयं अनशन स्वभाववाला है। अशन अर्थात् आहार; वह जिसे नहीं है, सो स्वयं अनशन है। आत्मा का स्वभाव सदा ही आहार बिना ही टिका है, आत्मा स्वयं अनशनस्वभावी है। मेरा द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप स्वचतुष्टय, मुझमें है और जड़ के स्वचतुष्टय, जड़ में हैं; इस प्रकार पहचानकर अन्तर में जो मुनि स्थिर हुए, उन मुनियों के स्वयं अनशनतप है। आत्मा का स्वभाव ही अनशन है; रोटी खाना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

मुनियों ने कैसे आत्मा को जाना है ? – जो समस्त पुद्गल के आहार से शून्य है, एक रजकण का भी ग्रहण करना अथवा छोड़ना आत्मा में नहीं है। शरीर अथवा शरीर से भिन्न परमाणु मुझमें नहीं हैं; इसलिए उन्हें छोड़ना अथवा ग्रहण करना आत्मा में नहीं है। आहार लेना अथवा मल–मूत्र का त्याग होना, शरीर का धर्म है; वह आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आत्मा, आहार–पानी ग्रहण करे अथवा बलपूर्वक मल–मूत्र आदि का त्याग करे – ऐसी क्रिया आत्मा में है ही नहीं। आत्मा में आहार लेना अथवा छोड़ना नहीं है।

मुनिराज को आहार–जल की तृष्णा नहीं है, आहार–ग्रहण करने में भी तृष्णा नहीं है। जैसे, निर्धन मनुष्य, धनवानपने की भावना करता है; उसी प्रकार यह आत्मा की भावनावाले, मुनिपने की भावना करते हैं। जैसा वीतरागी सन्तों का हार्द/हृदय है; उसी प्रकार मोक्षमार्ग को जानते और वर्तते हैं। यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ द्वारा कथित चारित्रमार्ग का स्पष्टीकरण है।

इससे विरुद्ध मानने-मनवानेवाला जैनमार्ग को लूटता और लुटाता है।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य और श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि आत्मा का साक्षात् अनुभव करके मोक्षमार्ग के प्रणेता हम यह खड़े हैं। केवली भगवान कहते हैं, तदनुसार ही हम कह रहे हैं। मुनि को आहार-ग्रहण की वृत्ति पाप तो नहीं है परन्तु उसे अनशन नाम का तप कहा है। अपने स्वभाव में आहार नहीं है – ऐसे स्वभाव को जानते हैं और भूमिका के अनुसार एषणादोषरहित आहार लेते हैं; इसलिए उनके आहार की वृत्ति को अनशन तप कहा है, यह चारित्र की भूमिका का स्वरूप है।

मुनिराज को आहार लेने की वृत्ति उत्पन्न होती है तो वे दोषरहित आहार-ग्रहण करते हैं। उनके लिए बनायी गयी वस्तु हो; केला, अनार आदि विक्रय के लिए लाये गये हों तो उनसे मुनिराज नहीं लेते। निर्दोष आहार लेने की उनकी वृत्ति होती है। अन्तरङ्गस्वरूप में तो आहार नहीं है और बाहर में दोष लगने नहीं देते हैं – ऐसा जानना चाहिए। भाई! साधुपद का ऐसा स्वरूप जाने बिना जिस-तिस को साधुपद मान लेने में तो विपरीत दृष्टि हो जाती है।

– ऐसा समझकर जो श्रमण, (1) आत्मा को स्वयं अनशनस्वभाव भाते हैं अर्थात् समझते हैं या अनुभव करते हैं, और (2) उसकी सिद्धि के लिए अर्थात् पूर्ण प्राप्ति के लिए एषणादोष से शून्य ऐसी अन्य (पररूप) बाह्य भिक्षा आचरते हैं; वे आहार करते हुए भी मानों आहार नहीं करते हों – ऐसे होने से साक्षात् अनाहारी ही हैं क्योंकि युक्ताहारीपने के कारण उनको स्वभाव तथा परभाव के निमित्त से बन्ध नहीं होता।

अपना आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, उस आत्मा से उत्पन्न आनन्द का मुनिराज अनुभव करते हैं। वे आहार ग्रहण करते हैं, यह व्यवहार का कथन है। उनका आहार निर्दोष होता है, औद्देशिक आहार का ग्रहण मुनिराज नहीं करते – ऐसा होने से वे युक्ताहारी हैं; इसलिए साक्षात् अनाहारी हैं। आत्मा आनन्दकन्द है, उसकी अनुभूतिसहित चारित्रदशा प्रगट हुई है अर्थात् सिद्ध समान आंशिक वीतरागचारित्र का अनुभव करते हैं।

णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं – ऐसे तीन पद

में कौन आते हैं ? उसकी यह बात चल रही है। आत्मा में पुण्य–पापरहित आनन्द का अनुभव है, चारित्रपूर्वक आनन्द का स्वाद लेते हैं और आहार लेते हैं तो दोषरहित। इसलिए उन्हें युक्ताहारी कहा है, इस कारण वे साक्षात् अनाहारी कहे गये हैं।

जैनमार्ग में मुनि कैसे होते हैं ? अपना आत्मा, ज्ञातास्वभावी होने से स्व–पर को जानने की सामर्थ्य रखता है किन्तु आहार–जल लेने की ताकत नहीं रखता, क्योंकि वह तो जड़ की स्वतन्त्र अवस्था है; उसे आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता। मुनिराज तो आत्मस्वभाव की ही भावना भाते हैं। मेरे आत्मा में आनन्दरस झरता है, वही मेरा भोजन है; आहार मेरा भोजन नहीं है – ऐसे अनुभववाला अनाहारी ज्ञातास्वभाव को भाता है।

सिद्ध समान सदा पद मेरो अर्थात् आत्मा सिद्धसमान है। आहार–ग्रहण करने की आत्मा की सामर्थ्य नहीं है। अट्ठाईस मूलगुण पालन करने का भाव, पुण्य है, बन्ध का कारण है – ऐसा वे जानते हैं, आत्मा को अनशनस्वभावी मानते हैं। मुझमें कर्म नहीं है, मुझमें आहार–जल नहीं है – ऐसे आत्मा की श्रद्धा–ज्ञान–रमणता करते हैं परन्तु अभी केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होने से कमजोरीवश संयम के हेतु से दोषरहित आहार–ग्रहण करते हैं; अन्य हेतु से नहीं। यहाँ अन्य क्यों कहा ? कि मेरे स्वभाव में आहार की वृत्ति नहीं है और आहार के कारण स्वभाव का टिकना नहीं है – ऐसा भान है। राग अत्यधिक अल्प रह गया है; अट्ठाईस मूलगुण का पालन है, एक बार आहार लेना भी शुभराग है, पुण्य है, बन्ध का कारण है; धर्म नहीं – ऐसे आत्मा का अनुभव हुआ है। तत्पश्चात् चारित्र की भूमिका की बात है। चारित्र, पूर्णता की प्राप्ति में साक्षात् कारण है। उसमें सहकारी हेतु शरीर है, शरीर की ओर अल्पराग है; इसलिए संयम के हेतु से निर्दोष आहार लेते हैं, तथापि अनाहारी हैं।

तीर्थङ्कर के धर्मवजीर गणधरदेव भी नमस्कारमन्त्र बोलते समय ऐसे साधु को नमस्कार करते हैं। यहाँ से उत्तरदिशा में पच्चीस हजार योजन दूर मेरुपर्वत है, उस मेरुपर्वत के पूर्वभाग में विदेहक्षेत्र के सोलह देश/नगरी हैं। पश्चिम भाग में सोलह देश हैं। उसमें पूर्वविदेह में पुण्कलावती नामक एक देश है, उसमें सीमन्धर भगवान साक्षात्रूप से विराजमान हैं। उनके सन्तों के नायक श्री गणधरदेव भी नमस्कारमन्त्र बोलते समय **णमो लोए सव्व साहूणं** बोलते हैं। हे सन्तों ! तुम्हारे चरण–कमलों में मेरा नमस्कार है। ऐसे मुनि अलौकिक हैं, वे मुनि स्वयं

को अनाहारी समझकर युक्ताहार लेते हैं; इसलिए मुनि अनाहारी हैं। तीनों काल जहाँ-जहाँ मुनि होते हैं, वे ऐसे ही होते हैं।

प्रश्न - ऐसी मुनिदशा की समझ की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर - सात तत्त्व की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, उनमें मुनिराज, संवर-निर्जरातत्त्व में आते हैं। देव, मोक्षतत्त्व में आते हैं। सात तत्त्व की पहचान में देव-गुरु की पहचान आती है। जिसे सात तत्त्व की पहचान नहीं है, उसे देव-गुरु की पहचान नहीं है। मुनिराज निर्दोष आहार लेते हैं; इसलिए उन्हें साक्षात् अनाहारी कहा गया है। इसका कारण यह है कि युक्ताहारीपने के कारण उन्हें स्वभाव तथा परभाव के निमित्त से बन्ध नहीं होता। स्वभाव से भी बन्ध नहीं होता तथा आहार लेने की वृत्ति से भी बन्ध नहीं होता।

जीव-अजीव, आस्रव-बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष - ये सात तत्त्व हैं। मोक्ष की पहचान में देव की पहचान और देव की पहचान में मोक्ष की पहचान आती है। संवर-निर्जरा की पहचान में गुरु की पहचान और गुरु की पहचान में संवर-निर्जरा की पहचान आती है। मुनिराज अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव करते हैं और निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं; इसलिए उन्हें अबन्धस्वभावी कहा है। वस्तुतः वे आहार नहीं, अपितु तप करते हैं; इस प्रकार वे साक्षात् अनाहारी हैं, वे ही तपोधन हैं।

इस प्रकार जैसे युक्ताहारी साक्षात् अनाहारी ही हैं - ऐसा कहा गया है; उसी प्रकार (1) स्वयं अविहार स्वभाववाला होने से, और (2) समितिशुद्ध अर्थात् ईर्यासमिति से शुद्ध - ऐसे विहारवाला होने से युक्तविहारी (युक्तविहारवाला श्रमण) साक्षात् अविहारी ही है - ऐसा अनुक्त होने पर भी (गाथा में नहीं कहा जाने पर भी) समझना चाहिए।

अब, इसी प्रकार विहार की बात करते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु यह समझते हैं कि मैं शरीर को चला नहीं सकता; मैं अविहारस्वभावी हूँ।

वास्तव में आचार्य, उपाध्याय और साधु कैसे होते हैं ? - स्वयं अविहारस्वभावी हैं। सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने आत्मा को शरीर और आहार-पान से रहित मानता है, वरना उसे सम्यक्त्व नहीं रहता। चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि, पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक

और छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि ऐसा ही मानते हैं। चौथे गुणस्थान से ही अपने आत्मा को शरीर, मन, वाणी और कर्म से रहित मानते हैं। कर्म अजीवतत्त्व है, अजीवतत्त्व मुझमें नहीं है – ऐसी मान्यता न हो तो सम्यग्दृष्टि नहीं रहता। लक्ष्मी, मकान आदि अजीवतत्त्व हैं। अजीवतत्त्व, जीव में नहीं है, अजीवतत्त्व में मेरा आत्मा नहीं है। यहाँ तो मुनिराज की बात है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही मुनिदशा होती है।

मुनिराज अविहारस्वभावी हैं, शरीर जड़ की अवस्था है, उसे चलना हो तो चलता है, मैं उसे नहीं चलाता हूँ। चौथे गुणस्थान के सम्यग्दृष्टि भी ऐसा मानते हैं। शरीर के हलन-चलन की क्रिया का कर्ता, आत्मा को माननेवाला ईश्वरकर्ता की मान्यतावत् मिथ्यादृष्टि है। मुनि स्वयं अविहारस्वभावी हैं, जड़ की क्रियावतीशक्ति के कारण देह की अवस्था होती है और आत्मा की क्रियावतीशक्ति के कारण आत्मा का क्षेत्रान्तर होता है; मैं तो ज्ञातातत्त्व हूँ।

इस प्रकार गाथा में तो मुनि को अनाहारी कहा है परन्तु जिस प्रकार वे अनाहारी हैं; उसी प्रकार वे अविहारी भी हैं। यह बात भी इसमें आ जाती है – यह समझना चाहिए।

अज्ञानी तो प्रतिक्षण चैतन्यस्वभाव का भान चूककर, जड़ की क्रिया का स्वामी होता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आत्मा, जड़ की क्रिया को करता है – ऐसा माननेवाले को मुनिदशा तो होती ही नहीं, सम्यग्दर्शन भी नहीं होता; वह तो मिथ्यादृष्टि है। इसलिए ऐसी वीतरागी मुनिदशा प्रगट होने से पूर्व वस्तुस्वरूप की पहचान करनी चाहिए। यह पहचान होने के पश्चात् अन्तरस्वरूप में स्थिरता करने पर मुनिदशा प्रगट होती है। ●

श्रमण का युक्ताहार

(प्रवचनसार गाथा 228-229 पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥ 228 ॥

अर्थात् केवलदेही (जिसके मात्र देहरूप परिग्रह वर्तता है, ऐसे) श्रमण ने, शरीर में भी 'मेरा नहीं है' ऐसा समझकर परिकर्मरहित वर्तते हुए, अपने आत्मा की शक्ति को छुपाये बिना, तप के साथ शरीर को युक्त किया है।

जड़ देह, चैतन्य से भिन्न है, वह देह मेरी नहीं है - ऐसा भान तो समस्त मुनियों को होता ही है और मुनिराजों को तो प्रचुर वीतरागता होने से देह के प्रति उपेक्षाभाव हो गया है अर्थात् उन्हें देह के प्रति राग नहीं है। इसलिए देह की शोभा-शृङ्गार भी मुनि के नहीं होता और अपने आत्मा की जितनी शक्ति है, उसे छुपाये बिना तप करते हैं। आहार का अथवा देह का एक रजकण भी मेरा नहीं है - ऐसे भानसहित उसमें ज्ञान स्थिर हो गया है। अन्तर में आनन्द का शान्तरस उछल रहा है, वही मुनि को तप है। मैं ज्ञायक हूँ और देहादि सभी परज्ञेय हैं; मैं उस ज्ञेय का नहीं हूँ और वे ज्ञेय मेरे नहीं हैं; इस प्रकार दोनों की भिन्नता का भान करके, अन्दर आनन्द के अनुभव में स्थिर हैं, वहाँ देह की उपेक्षा हो गयी है; इसलिए उन्हें शक्तिप्रमाण तप होता है।

श्रामण्यपर्याय के सहकारीकारण के रूप में देहमात्र उपधि को श्रमण बलपूर्वक हठ से निषेध नहीं करता; इसलिए वह केवल देहवान है।

निश्चय से तो भान है कि एक रजकण भी मेरा नहीं है – ऐसे भान से अन्दर में वीतरागता प्रगट हुई है और व्यवहार में श्रामण्यपर्याय का निमित्त शरीर है क्योंकि राग उत्पन्न होने पर कभी वहाँ लक्ष्य जाता है; मुनि को हठपूर्वक देह का निषेध होता ही नहीं। जब तक योग्यता हो, तब तक शरीर का संयोग रहता है। यद्यपि शरीर की ममता छूट गयी है परन्तु शरीर को छोड़ दूँ – ऐसा हठ नहीं है; इसलिए केवल देह का संयोग है।

सर्वभाव से उदासीन वृत्ति करें,
मात्र देह वह संयम हेतु होय जब।

अन्दर में उदासीन वीतरागभाव हुआ है, वह तो शुद्ध उपादान है। उसमें निमित्तरूप मात्र शरीर ही होता है। शरीर होने पर भी उसके संस्कार–शृङ्गार इत्यादि की वृत्ति मुनिराज के नहीं होती। यद्यपि मुनिदशा उस शरीर के कारण नहीं टिक रही है, अपितु चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही मुनिदशा टिकी हुई है। उस समय शरीर को निमित्तरूप सहकारी कहा है।

अन्तर में चैतन्यस्वभाव में स्थिर होने से निराकुल वीतरागी आनन्द प्रगट हुआ है, वह मुनिदशा है। शरीर तो बाह्य है, उसमें से कहीं वीतरागता नहीं आती। वीतरागता, पुण्य–पाप में से नहीं आती और पूर्व की पर्याय में से भी वह वीतरागी पर्याय नहीं आती। अन्तर के अखण्डानन्दी चैतन्य में एकाग्र होने पर, उसमें से ही वीतरागी पर्याय आती है। उस चैतन्य का भान करने के पश्चात् उसमें स्थिरता हुई और मुनिदशा हुई, तब संयोगरूप देह कैसी होती है ? यहाँ उसका ज्ञान कराया है परन्तु यदि वीतरागी मुनिदशा न हो तो शरीर को किसका सहकारी कहा जाएगा ? इसलिए सहकारी कहते ही उपादान स्वयं अपने से है – यह सिद्ध हो जाता है क्योंकि उपादान बिना सहकारी किसका ?

मुनियों को केवल देह होती है, देह होने पर भी वे परिकर्मरहित हैं।

ऐसा (देहवान) होने पर भी, 'किं किंचण' इत्यादि पूर्वसूत्र (गाथा 224) द्वारा प्रकाशित किये गये परमेश्वर के अभिप्राय का ग्रहण करके 'यह (शरीर) वास्तव में मेरा नहीं है, इसलिए यह अनुग्रह योग्य नहीं है किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' – इस प्रकार देह में समस्त संस्कार को छोड़ा होने से परिकर्मरहित है। इसलिए उसके देह के ममत्वपूर्वक अनुचित आहारग्रहण का अभाव होने से युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जगत् के समक्ष, भगवान परमेश्वर का अभिप्राय प्रसिद्ध किया है। अपनी पात्रता के बिना यह जीव, त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर के समीप जाकर भी समझे बिना वापस आ गया है; इसलिए 'केवली आगल रह गया कोरा' क्योंकि पर्याय को अन्तर्मुख स्वभाव में नहीं झुकाया है।

देह का संयोग होने पर भी मुनि को यह भान है कि यह देह मेरा नहीं है; इसलिए वह अनुग्रह योग्य नहीं है अर्थात् ममता करने योग्य नहीं है किन्तु उपेक्षा योग्य ही है। ऐसे भगवान तीर्थङ्कर के अभिप्राय को जानकर, मुनियों ने देह के समस्त संस्कार को छोड़ दिया है तथा परिकर्मरहित हैं। मैं, त्रिकाल चिदानन्दस्वभावरूप से अस्तिरूप हूँ और देह की मुझमें तीनों काल नास्ति है – ऐसे भानपूर्वक मुनियों को देह की ममता छूट गयी है; इसलिए ममतापूर्वक होनेवाले अनुचित आहारादि उन्हें नहीं होते। इस कारण उनको युक्ताहारीपना सिद्ध होता है। इस प्रकार यह युक्ताहारीपने की एक बात हुई।

अब, युक्ताहारीपने की दूसरी अपेक्षा बतलाते हैं।

और (अन्य प्रकार से) उसने (आत्मशक्ति को किञ्चित्मात्र भी छुपाये बिना) समस्त ही आत्मशक्ति को प्रगट करके, अन्तिम सूत्र (गाथा 227) द्वारा कहे गये अनशनस्वभाव-लक्षण तप के साथ उस शरीर को सर्वारम्भ (उद्यम) से युक्त किया है (जोड़ा है); इसलिए आहारग्रहण के परिणामस्वरूप योगध्वंस का अभाव होने से उसका आहार युक्त का (योगी का) आहार है; इसलिए उसके युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।

मुनिदशा तो परमेश्वरपद है। वह पद, पञ्च पद में गर्भित हैं। वह आत्मा की वीतरागीदशा है। अज्ञानी को द्रव्य का भान नहीं है; इसलिए उसे द्रव्य की शक्ति अभिव्यक्त नहीं है परन्तु मुनिराज तो आत्मा का भान करके उसमें स्थिर हुए हैं; इसलिए उन्हें आत्मा की समस्त शक्तियाँ प्रगट हुई हैं। इस प्रकार आत्मा की शक्ति प्रगट करके अनशनस्वभावी चिदानन्द आनन्दकन्द स्व-स्वरूप में लवलीन हुए हैं। उन्हें आहार ग्रहण से चैतन्य में लीनता का अभाव नहीं होता; इसलिए उनका आहार युक्ताहार ही है। चैतन्य की सन्मुखता का जुड़ान छूटकर, उन्हें आहार नहीं होता; इसलिए उनका आहार युक्ताहार ही है, इसलिए वे युक्ताहारी ही हैं।

आत्मा का भान होने के पश्चात् साधुपद में कैसी वीतरागता होती है ? – यह उसका वर्णन है। ऐसी वीतरागता हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता। यह कोई दूसरे की बात नहीं है किन्तु आत्मा की ऐसी दशा हुए बिना उसकी मुक्ति नहीं होती। सर्व प्रथम आत्मा के ज्ञानस्वभाव की पहचान से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् चारित्रदशा का यह वर्णन है।

मुनियों को देह का लक्ष्य छूटकर स्वभाव की ओर का जुड़ान बहुत बढ़ गया है; इसीलिए उन मुनियों को 'मैं आहार ग्रहण करता हूँ' – ऐसे परिणामस्वरूप योगध्वंस का अभाव है। आहार ग्रहण, आत्मा का स्वभाव है – ऐसा माननेवाले को सम्यग्दर्शन का भी अभाव है। दृष्टि में तो आहार –ग्रहण करने की बुद्धि नहीं है और स्थिरता में भी कषाय का इतना अभाव हो गया है कि जिससे योग का ध्वंस हो – ऐसे आहार–ग्रहण के परिणाम ही नहीं होते; इसलिए वे मुनि युक्ताहारी हैं; उनका आहार, युक्ताहार है। चारित्र का अभाव हो – ऐसा सदोष आहार मुनिराज के नहीं होता।

अनशनस्वभाव लक्षण तप अर्थात् अनशनस्वभाव जिसका लक्षण है – ऐसा तप। जो आत्मा के अनशनस्वभाव को जानता है, उसे अनशनस्वभाव लक्षण तप वर्तता है और योगध्वंस अर्थात् योग का अभाव अर्थात् आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव है – ऐसे परिणाम से परिणमना योगध्वंस है। श्रमण को ऐसा योगध्वंस नहीं होने से वे युक्त अर्थात् योगी हैं और इसीलिए उनका आहार युक्ताहार अर्थात् योगी का आहार है।

इस प्रकार श्रमण दो प्रकार से युक्ताहारी सिद्ध होता है; (1) शरीर पर ममत्व न होने से उसके उचित ही आहार होता है; इसलिए वह युक्ताहारी अर्थात् उचित आहारवाला है, और (2) 'आहार–ग्रहण आत्मा का स्वभाव नहीं है' – ऐसा परिणामस्वरूप योग श्रमण के वर्तता होने से, वह श्रमण युक्त अर्थात् योगी है और इसलिए उसका आहार युक्ताहार अर्थात् योगी का आहार है।

जिस प्रकार व्यापारी, व्यापार करने में लाभ–हानि की जवाबदारी का ख्याल रखता है; इसी प्रकार यहाँ मुनि से कहते हैं कि हे मुनि! तुम्हें बहुत वीतरागता तो हुई है, अब तुम्हारी भूमिका में आहारादि का विशेष राग नहीं होता। यदि विशेष राग हो जाए तो मुनिदशा नहीं रहेगी। मुनिदशा में तो अन्तर में बहुत लीनता हो रही है, वहाँ राग का अत्यन्त अभाव है।

मुनिपने का यह यथार्थ मार्ग, सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहा गया, कुन्दकुन्द भगवान द्वारा झेलकर अनुभव किया गया है। वे स्वयं चरणानुयोग चूलिका की शुरुआत में कहते हैं कि **इस श्रामण्य को अङ्गीकार करने का जो यथानुभूत मार्ग, उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं।** देखो कथनी! हम स्वयं श्रामण्य में / छठवें-सातवें गुणस्थान में वर्त रहे हैं और दूसरों को भी उस मार्ग के दिखानेवाले प्रणेता हम यह साक्षात् खड़े हैं। अहो, वीतरागी सन्तों का जो मार्ग है, उसमें हम वर्त रहे हैं, हम उसके प्रणेता हैं।

श्रीमद् ने इन कुन्दकुन्दाचार्य को वन्दन किया है। कोई श्रीमद् को तो मानता है परन्तु कुन्दकुन्दप्रभु के इस कथन को नहीं मानता तो उसने वस्तुतः श्रीमद् को भी नहीं माना है।

अब, युक्ताहार का स्वरूप विस्तार से उपदेश करते हैं -

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं॥ 229॥

***अर्थात्* वास्तव में वह आहार (युक्ताहार) एक बार, ऊनोदर, यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो, वैसा), भिक्षाचरण से, दिन में, रस की अपेक्षा से रहित और मधु-माँसरहित होता है।**

एक बार आहार ही युक्ताहार है क्योंकि उतने से ही श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारणभूत शरीर टिका रहता है। [एक से अधिक बार आहार लेना, युक्ताहार नहीं है - ऐसा निम्नानुसार दो प्रकार से सिद्ध होता है]

(1) शरीर के अनुराग से ही अनेक बार आहार का सेवन किया जाता है; इसलिए अत्यन्तरूप से हिंसायतन किया जाने के कारण युक्त (योग्य) नहीं है, अर्थात् वह युक्ताहार नहीं है, और (2) अनेक बार आहार का सेवन करनेवाला, शरीरानुराग से सेवन करनेवाला होने से, वह आहारयुक्त (योगी) का नहीं है अर्थात् वह युक्ताहार नहीं है।

अनेक बार आहार तो शरीर के अनुराग से सेवन किया जाता है; इसलिए वह अत्यन्त हिंसा का आयतन होने से युक्ताहार नहीं है। जैसे, व्यापारी को व्यापार की बहुत सीजन हो तो

उसे भी खाने की वृत्ति और पीने की लोलुपता बहुत नहीं होती; इसी प्रकार यहाँ मुनि तो आत्मा के अन्तरस्वरूप के आनन्द के अनुभव में ऐसे लीन हैं कि उन्हें अनेक बार आहार-ग्रहण की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। मुनियों को आत्मा के अनाकुलता के अनुभव के व्यापार की ऐसी सीजन है कि उन्हें शरीर के प्रति अनुराग समाप्त हो गया है; इसीलिए बारम्बार आहार की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। अन्दर में हठ नहीं है परन्तु सहजरूप से आहार की वृत्ति टूट जाती है। मुनिराज एक ही बार आहार ग्रहण करते हैं। जहाँ अन्दर में आत्मा के आनन्द की धारा स्फुरित होती है, वहाँ मुनिराज को दो बार आहार नहीं हो सकता। दो बार आहार ग्रहण करनेवाला, मुनि नहीं हो सकता।

अपूर्णोदर आहार ही युक्ताहार है क्योंकि वही प्रतिहत योगरहित है। [पूर्णोदर आहार, युक्ताहार नहीं है, ऐसा निम्नानुसार दो प्रकार से सिद्ध होता है।] (1) पूर्णोदर आहार तो प्रतिहत योगवाला होने से कथञ्चित् हिंसायतन होता हुआ युक्त (योग्य) नहीं है, और (2) पूर्णोदर आहार करनेवाला प्रतिहत योगवाला होने से वह आहार युक्त (योगी) का आहार नहीं है।

आहार के कारण कहीं योग का नाश नहीं होता, परन्तु अन्तरङ्ग में उस प्रकार का प्रमाद अथवा गृद्धिभाव हो जाए तो उससे मुनि के योग का छेद होता है। गृद्धिभाव से पेट भरकर एक बार तो भोजन कर लें, ऐसा लोलुपभाव मुनि को नहीं होता। यह तो वीतरागी सन्तों का मार्ग है, जिन्हें अल्पकाल में केवलज्ञान लेना है - ऐसी साधक मुनिदशा, साधारण जीव नहीं ग्रहण कर सकते।

मुनि को देह का संयोग होने पर भी देह के प्रति कितनी उदासीनता होती है, वह यहाँ बताया है। ऐसे मुनि को पहचानकर जो उनसे विरुद्ध हों, उन्हें मुनि नहीं मानना चाहिए। यदि पूरा पेट भरकर भोजन करे तो वहाँ वह आहार प्रतिहत योगवाला होने से उसे कथञ्चित् हिंसायतन कहा है। आहार के कारण हिंसा नहीं है परन्तु अन्दर तीव्र रागभाव हो गया है; इस कारण वहाँ प्रमाण से अन्दर की शान्ति का नाश होता है, वही हिंसा है।

दूसरे दिन उपवास करना हो अथवा विहार करना हो; इसलिए आज अधिक भोजन कर लूँ - ऐसी वृत्ति मुनि को नहीं होती है। यह तो मुनियों का सहज अलौकिक, सहजात्मस्वभाव

का मार्ग है। उन्हें तो चैतन्य की डोर चूके बिना, आनन्द की धारा प्रवाहित होती है। जैसे, नट डोरी पर थाली में उल्टे सिर चलता है, उससे भी यह मार्ग तो अलौकिक है। यह तो सहज शान्ति का मार्ग है। लोगों को बाहर से इस दशा का ख्याल नहीं आ सकता। देह और रागरहित चैतन्य का भान होने के पश्चात् की यह दशा है।

यथालब्ध आहार ही युक्ताहार है क्योंकि वही (आहार) विशेषप्रियतास्वरूप अनुराग से शून्य है। (1) अयथालब्ध आहार तो विशेषप्रियतास्वरूप अनुराग से सेवन किया जाता है; इसलिए अत्यन्तरूप से हिंसायतन किया जाने के कारण युक्त (योग्य) नहीं है और अयथालब्ध आहार का सेवन करनेवाला विशेषप्रियतास्वरूप अनुराग द्वारा सेवन करनेवाला होने से, वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

जैसे, गड्ढा भरना हो तो वह स्वर्ण से भी भरा जा सकता है और कङ्कड़ से भी भरा जा सकता है। इसी प्रकार मुनिराज को तो आहार की वृत्ति मिट गयी है, वे मात्र क्षुधा के नाश जितना आहार ग्रहण करते हैं; वहाँ कैसा भी (अर्थात् सरस-नीरस) आहार मिले, लेते हैं।

भिक्षाचरण से आहार ही युक्ताहार है क्योंकि वही आरम्भशून्य है। (1) अभिक्षाचरण से (भिक्षाचरणरहित) जो आहार, उसमें आरम्भ का सम्भव होने से हिंसायतनपना प्रसिद्ध है; अतः वह आहार युक्त (योग्य) नहीं है, और (2) ऐसे आहार के सेवन में (सेवन करनेवाले की) अन्तरङ्ग अशुद्धि व्यक्त/प्रगट होने से वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

मुनिराज स्वयं भिक्षा के लिए जाते हैं, कोई उन्हें जङ्गल में आहार देने आवे और मुनि उसे ग्रहण करे - ऐसा नहीं होता और वे पात्र में आहार लेकर आवें - ऐसा भी नहीं होता, क्योंकि मुनिराज के पात्र ही नहीं होते। अपने लिए बनायी हुई किसी भी चीज को मुनिराज नहीं लेते; अपने लिए बनाया हुआ आहार लेनेवाले को तो परिणाम की अशुद्धता है।

दिन का आहार ही युक्ताहार है क्योंकि वही सम्यक् (बराबर) देखा जा सकता है। (1) अदिवस (दिन के अतिरिक्त समय में) आहार तो सम्यक् नहीं देखा जा सकता; इसलिए उसके हिंसायतनपना अनिवार्य होने से वह आहार युक्त (योग्य)

नहीं है, और (2) ऐसे आहार के सेवन में अन्तरङ्ग अशुद्धि व्यक्त होने से आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

रस की अपेक्षा से रहित आहार ही युक्ताहार है क्योंकि वही अन्तरङ्ग शुद्धि से सुन्दर है। (1) रस की अपेक्षावाला आहार तो अन्तरङ्ग अशुद्धि द्वारा अत्यन्तरूप से हिंसायतन किया जाने के कारण युक्त (योग्य) नहीं है, और (2) उसका सेवन करनेवाला अन्तरङ्ग अशुद्धिपूर्वक सेवन करता है; इसलिए वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

दूध-दही इत्यादि रसवाला आहार हो तो ठीक है। दाँत नहीं हैं, इसलिए हलवा मिले तो ठीक - ऐसे रस की अपेक्षा मुनिराजों को नहीं होती। रोग है, इसलिए अमुख स्वादिष्ट आहार मिले तो ठीक - ऐसी वृत्ति भी उन्हें नहीं होती। मुनि को तो अन्दर में चैतन्य के ध्यान की ऐसी जमावट होती है कि देह और आहार से उपेक्षा हो गयी है। चक्रवर्ती के यहाँ बढ़िया आहार प्राप्त होने पर भी वहाँ रस की गृद्धि नहीं होती। गृहस्थ श्रावक तो अपनी भक्तिभावना से कैसा भी आहार दें, वे तो समझते हैं कि अहो! मेरे आँगन में धर्म का कल्पवृक्ष आया है; इसलिए वे तो भक्तिपूर्वक आहार देते हैं परन्तु मुनि को तो आत्मा के अमृत के स्वाद का अनुभव है, उन्हें आहार के रस की गृद्धि नहीं होती।

मधु-माँसरहित आहार ही युक्ताहार है क्योंकि उसी के हिंसायतनपने का अभाव है। (1) मधु-माँससहित आहार तो हिंसायतन होने से युक्त (योग्य) नहीं है, और (2) ऐसे आहार के सेवन में अन्तरङ्ग अशुद्धि व्यक्त होने से वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

रुधिर, मद्य, माँस तो मुनि को होता ही नहीं, परन्तु उन्हें स्पर्शित भी कोई आहार मुनिराज ग्रहण नहीं करते। मद्य के आहार में भी बड़ा पाप है। शास्त्र तो कहते हैं कि एक मद्य के बिन्दु के आहार में सात गाँव सुलगने जितना पाप लगता है। साधारण जैन को भी मद्य-माँस का आहार नहीं होता, वह तो महाहिंसा है। मद्य-माँस का लेप हो - ऐसा कोई भी आहार अथवा दवा, मुनिराज को नहीं होती है।

यहाँ मधु-माँस हिंसायतन का उपलक्षण है; इसलिए ('मधु-मांसरहित आहार

युक्ताहार है' इस कथन से ऐसा समझना चाहिए कि) समस्त हिंसायतन शून्य आहार ही युक्ताहार है।

मुनिराज को शरीरमात्र परिग्रह होने पर भी उसके निभाने में इतनी उपेक्षा हो गयी है कि कहीं विशेष राग नहीं होने देते। अन्दर में इतनी लीनता बढ़ गयी है। अन्दर स्वसंवेदन के आनन्द में सराबोर दशा है। जिस प्रकार गर्म पूरणपोली घी से झरती हुई और रस टपकती हुई होती है; उसी प्रकार मुनियों का आत्मा, चैतन्य गोला शान्तरस भरपूर आनन्द स्वभाव ऐसा रसपूर्ण हो गया है कि आनन्द की धारा टपकती है, शान्तरस की धारा बहती है। अन्तर में वीतरागता होने पर, वैसी दशा सहज होती है।

अरे रे! आपने कहा, इसलिए इतना सब पालना पढ़ता है - ऐसा मुनि को नहीं होता, परन्तु सहज होता है। हमारी जो सहजदशा है, वह भगवान ने जानकर वर्णन की है; वैसी ही हमारी सहजदशा है। इस प्रकार मुनियों को ऐसी सहजदशा होती है - ऐसा राजमार्ग है। ●

मुनि का दर्शन प्राप्त होना महान आनन्द की बात

अहो! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष को साध रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा ही मोक्ष सधता है, दिगम्बर साधु अर्थात् साक्षात् मोक्ष का मार्ग.... वे तो छोटे सिद्ध हैं.... अन्तर के चिदानन्द स्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। **पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनियों की महिमा की क्या बात! ऐसे मुनि का दर्शन प्राप्त होना भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं! हम उनके चरणों में नमते हैं.... धन्य वह मुनिदशा! हम भी उसकी भावना भाते हैं।**

(- आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-28, अङ्क-332, कवर पृष्ठ-2)

चरणानुयोग की दृष्टि में

शुद्धोपयोग-अशुद्धोपयोग

(प्रवचनसार गाथा 215 से 219 पर पूज्यश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

अब, मुनिराज को निकट का सूक्ष्म परद्रव्य-प्रतिबन्ध अर्थात् परद्रव्य के प्रति सूक्ष्म प्रतिबन्ध भी, श्रामण्य के छेद का आयतन होने से निषेध्य है - ऐसा उपदेश करते हैं।

आगमविरुद्ध आहार-विहारादि तो मुनियों के छूटा हुआ ही होने से उसमें प्रतिबन्ध होना तो मुनि के लिए दूर का है लेकिन मुनिराज आगमकथित आहार-विहारादि में प्रवर्तते हैं; इसलिए उसमें प्रतिबन्ध हो जाना सम्भवित होने से, वह प्रतिबन्ध नजदीक का है।

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।

उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि॥ 215॥

अर्थात् मुनि आहार में, क्षपण में (उपवास में) आवास में (निवासस्थान में) और विहार में, उपधि में (परिग्रह में), श्रमण में (अन्य मुनि में) अथवा विकथा में प्रतिबन्ध नहीं चाहता।

यहाँ अशुभराग की तो बात ही नहीं है परन्तु भूमिकानुसार जो शुभराग होता है, उस राग में भी प्रतिबन्ध का निषेध है अर्थात् निर्दोष आहार-विहार इत्यादि में भी कहीं परिणाम प्रतिबद्ध न हो जाएँ, पृथक् के पृथक् रहें - ऐसी मुनिराज को वीतरागता होती है।

जिनकी अन्तर्बाह्य महा-निर्ग्रन्थदशा है, उन मुनिराज को कभी निर्दोष आहार की वृत्ति

उत्पन्न हो अथवा महिने-महिने के उपवास भी हों, विहार हो अथवा अन्य मुनियों का सङ्ग, विकथा, मोरपिच्छी और कमण्डलु – इनमें कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं होते। शुभराग में भी उपयोग की मलिनता होती है; इसलिए उसमें भी प्रतिबद्धता होने देना योग्य नहीं है।

छद्मस्थ मुनि को धार्मिक कथा-वार्ता करते हुए भी निर्मल चैतन्यस्वरूप आत्मा विकल्पयुक्त होने से आंशिक मलिनता होती है; इसलिए उस धार्मिक कथा को भी विकथा अर्थात् शुद्धात्मद्रव्य से विरुद्ध कथा कही है।

स्त्री आदि की विकथा तो पाप है, वैसी विकथा तो मुनि को होती ही नहीं, परन्तु अन्य के साथ शास्त्र की चर्चा इत्यादि कथा में भी शुभविकल्प है और उतने अंश में अन्दर का शुद्धोपयोग रञ्जित होता है; इसलिए उस शुभराग में भी मुनिराज को प्रतिबद्ध होना योग्य नहीं है। स्वद्रव्य के शुद्धोपयोग में ही प्रतिबद्ध होना योग्य है – ऐसे मुनिपने में तो आनन्द की लहर है।

जिसे आत्मा का कल्याण करना है, उसे प्रथम शरीरादि परद्रव्य से भिन्न आत्मा को पहचानकर, अन्तर्मुख स्वभाव की दृष्टि करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए, यही प्रथम धर्म है। पहले ऐसा सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही मुनिदशा होती है, यह उस मुनिदशा का वर्णन है। ऐसी मुनिदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। मुनियों को अन्तरस्वभाव में रमणतापूर्वक बाह्य में अत्यन्त निर्ग्रन्थदशा हो गयी है, उन्हें परद्रव्य के प्रतिबन्धरहित दशा कैसी होती है ? वह यहाँ बताया जा रहा है। जहाँ उपादान में शुद्धभाव प्रगट होता है, वहाँ निमित्त कैसा होता है ? – यह भी जानना चाहिए।

जहाँ उपयोग अन्दर में चैतन्यस्वरूप का अवलम्बन करके स्थिर हुआ है, वहाँ बाह्य में वस्त्रादि के अवलम्बन की वृत्ति नहीं रहती। साधुपद तो परमेष्ठी पद है। इस दशा में अन्दर में ज्ञायकस्वभाव का अत्यधिक आश्रय वर्तता है/अत्यन्त स्थिरता वर्तती है। ऐसे मुनियों को छठवें गुणस्थान में आहारादि की वृत्ति उत्पन्न हो, वहाँ शास्त्र आज्ञा से विरुद्ध अशुभभाव तो होता ही नहीं, परन्तु शास्त्र आज्ञा के अनुसार जो शुभभाव है, उसमें भी उन्हें प्रतिबन्ध नहीं होता है।

प्रश्न – सम्यग्दर्शन हुआ, तभी तो यह सब चिन्ताएँ मिटीं ?

उत्तर – सम्यग्दर्शन हुआ, इसीलिए श्रद्धा में से तो सर्व चिन्ताओं का अभाव हो गया है। अकेले ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई है परन्तु अभी स्थिरता करके अन्तरस्वरूप में लीन होना शेष है। मुनियों का आत्मा तो जङ्गल में... आत्मा के आनन्द में झूलता/डूबकी खाता होता है। आत्मज्ञान के पश्चात् ऐसी दशा आये बिना केवलज्ञान नहीं होता।

यहाँ टीका में सात बोल हैं, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

(1) श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतुमात्ररूप से ग्रहण किए जानेवाले आहार में प्रतिबन्ध निषेध्य है।

अन्तरस्वभाव के आश्रय से श्रामण्यदशा टिकी है और उसमें बाह्य निमित्त, शरीर है। यद्यपि वह शरीर तो शरीर के कारण निभता (टिकता) है, तथापि उसमें निमित्तरूप में आहार है। मुनियों को वह आहार की वृत्ति उत्पन्न होने पर भी अन्तर में चैतन्य की सन्मुखता नहीं टूटती। शुद्धोपयोग की जो भूमिका है, उसमें वे भङ्ग नहीं पड़ने देते; इसलिए आहार की वृत्ति में प्रतिबद्धपना मुनियों को नहीं होता।

मुनिराज सदोष आहार तो लेते ही नहीं, परन्तु निर्दोष आहार की वृत्ति में भी प्रतिबद्ध नहीं हो जाते। उन्हें अन्तरस्वभाव का अनुभव चूककर आहार की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। मुनिदशा ऐसी उग्र होती है, इस दशा को पहचानना चाहिए।

(2) तथाविध शरीर की वृत्ति के साथ विरोध आये बिना, शुद्धात्मद्रव्य में नीरङ्ग और निस्तरङ्ग विश्रान्ति की रचनानुसार प्रवर्तमान क्षपण (अर्थात् शरीर के टिकने के साथ विरोध न आये, इस प्रकार शुद्धात्मद्रव्य में विकाररहित और तरङ्गरहित स्थिरता होती जाये, तदनुसार प्रवर्तमान अनशन) में प्रतिबन्ध निषेध्य है।

मुनिराज अपने स्वरूप की धारा को टूटने नहीं देते। महिने-महिने के उपवास होने पर भी अन्दर में खेद नहीं होता। शरीर की वृत्ति के साथ विरोध न आवे, इस प्रकार अर्थात् शक्तिप्रमाण उपवास करते हैं। एकदम हठ से उपवास करके शरीर छूट जाए – ऐसा नहीं होता और अन्दर शुद्धात्मद्रव्य में निस्तरङ्ग स्थिरता होती जाती है।

अहो! मानो आहार करने की वृत्ति से थकान लगी हो, उस प्रकार अन्तरस्वरूप में विश्राम भी लेते हैं। आहार की वृत्ति टूटकर स्वरूप में स्थिर हुए, वहाँ आनन्द है, विश्राम है

परन्तु थकान अथवा खेद नहीं है। आहार की वृत्ति के राग से थक गये, उस थकान को स्वरूप में विश्राम लेकर उतारते हैं। निराकुलस्वरूपी द्रव्य में स्थिर हुए हैं, वहाँ आहार की आकुलता नहीं होती – ऐसी दशा को भगवान उपवास कहते हैं। उपवास सहज होता है; उसमें हठ अथवा प्रतिबन्ध नहीं होता।

जैसे, दश गायें चलते-चलते थक गयी हों तो तालाब में जाकर विश्राम करती हैं; उसी प्रकार मुनिराज आहार की वृत्ति से थककर अन्दर चैतन्य के तालाब में जाकर अर्थात् लीन होकर विश्राम करते हैं। स्वभाव में लीन होकर राग की थकान को उतारते हैं और अन्दर अविकारपरिणति की रचना होती जाती है।

(3) नीरङ्ग और निस्तरङ्ग अन्तरङ्ग द्रव्य की प्रसिद्धि (प्रकृष्ट सिद्धि) के लिए सेवन किए जानेवाले गिरीन्द्र-कन्दरादिक आवसथ (उच्च पर्वत की गुफा इत्यादि निवासस्थान) में प्रतिबन्ध निषेध्य है।

अन्तरस्वरूप में लीन होकर, उसका ध्यान धरकर, चैतन्यभगवान की प्रसिद्धि के लिए अर्थात् केवलज्ञान प्रगट करने के लिए गिरि-गुफा में रहते हों, वहाँ उस स्थान का प्रतिबन्ध नहीं होने देते। इसी गुफा में रहना है -ऐसा आग्रह नहीं होता। अन्दर में चैतन्य की भूमिका में प्रतिबद्ध हुए हैं, वहाँ बाह्य गिरि-गुफा के स्थानों का प्रतिबन्ध नहीं होता। विकल्प उत्पन्न होने पर ध्यान के स्थानों के प्रति लक्ष्य जाता है परन्तु उनका प्रतिबन्ध नहीं है।

(4) यथोक्त शरीर की वृत्ति की कारणभूत भिक्षा के लिए किए जानेवाले विहारकार्य में प्रतिबन्ध निषेध्य है।

यथोक्त शरीर की वृत्ति के कारणभूत भिक्षा के लिए किया जानेवाला जो विहार कार्य, उसमें भी मुनिराज को प्रतिबन्ध नहीं है।

(5) श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं है – ऐसे केवल देहमात्र परिग्रह में प्रतिबन्ध निषेध्य है।

श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं है – ऐसा जो केवल देहमात्र परिग्रह है, उससे भी ममता नहीं है; कमण्डलु और पिच्छी गौण है।

(6) मात्र अन्योन्य बोध्यबोधकरूप से जिनका कथञ्चित् परिचय वर्तता है – ऐसे श्रमण (अन्य मुनि) में प्रतिबन्ध निषेध्य है।

मात्र अन्योन्य बोध्य-बोधकरूप से जिनका कथञ्चित् परिचय वर्तता है – ऐसे जो श्रमण या अन्य मुनि उनके प्रति भी प्रतिबन्ध नहीं है।

मुनिराज को दूसरी उल्टी-सीधी बातें तो होती नहीं, परन्तु दूसरे मुनियों के साथ कोई ज्ञानवार्ता करते हों, किसी को समझाते हों अथवा किसी से समझते हों, इसके सिवाय अन्य कारण से मुनिवरों के साथ भी परिचय नहीं होता। स्त्री आदि का परिचय तो मुनि को होता ही नहीं और वे लौकिक सङ्ग में भी नहीं पड़ते; मुनिराज को कदाचित् अन्य मुनियों के साथ ज्ञान हेतु से परिचय वर्तता है, वह परिचय भी प्रतिबन्ध का कारण हो – ऐसा नहीं होता।

अन्दर में वीतरागी शुद्धभावसहित शुभभाव, छठवें गुणस्थान में कैसा होता है ? इसकी बात यहाँ की गयी है। अकेले शुभ की बात नहीं है, बाह्य गृह आदि की बात नहीं है। चरणानुयोग की शैली निमित्तप्रधान होती है।

(7) शब्दरूप पुदगलोल्लास (पुद्गलपर्याय) के साथ सम्बन्ध से, जिसमें चैतन्यरूपी भित्ति का भाग मलिन होता है – ऐसी शुद्धात्मद्रव्य से विरुद्ध कथा में भी प्रतिबन्ध निषेध्य है, त्यागने योग्य है अर्थात् उनके विकल्पों से भी चित्तभूमि को चित्रित होने देना योग्य नहीं है।

शब्दरूप पुद्गलोल्लास या पुद्गलपर्याय के साथ सम्बन्ध से जिसमें चैतन्यरूपी भित्ति का भाग मलिन होता है – ऐसी शुद्धात्मद्रव्य से विरुद्ध कथा में भी प्रतिबन्ध करने योग्य नहीं है। ज्ञायक आत्मा, ध्रुव है, वह चैतन्य भित्ति है; उसमें शुभविकल्प उत्पन्न होने पर चैतन्यभूमिका मलिन होती है।

– ऐसे ये सात प्रकार कहे, इन भावों में मुनिराज को कहीं प्रतिबन्ध करने योग्य नहीं है और शुभविकल्प से भी ज्ञानभूमिका चित्रित होती है, मलिन होती है; इसलिए उन विकल्पों से भी चैतन्य भूमिका को चित्रित होने देना योग्य नहीं है – ऐसा मुनिपना है।

प्रश्न – क्या अभी ऐसे मुनिपने का पालन किया जा सकता है ?

उत्तर – यदि जीव पुरुषार्थ करे तो अभी भी मुनिदशा होने का कोई निषेध नहीं है परन्तु अभी ऐसी दशावाले कोई मुनि हमारे देखने में नहीं आये। पहले इस दशा को पहचानना चाहिए,

पश्चात् ऐसी मुनिदशा आने से पूर्व उसकी यथार्थ श्रद्धा करके भावना की जा सकती है।

अहो ! हमारे वह धन्यदशा कब आएगी ? स्वरूपानन्द की अपूर्वदशा में कब झूलेंगे ? कब मुनि होंगे ?

सर्व भाव से उदासीन वृत्ति करी।
मात्र देह तो संयम हेतु होय जब॥

श्रीमद् राजचन्द्र मुनि नहीं हो सके थे परन्तु ऐसी मुनिदशा की भावना करते-करते समाधिमरणपूर्वक देह छोड़कर चले गये; उन्हें यद्यपि मुनिदशा नहीं हुई थी तथापि अपूर्व अवसर में तो निर्ग्रन्थता से लेकर ठेठ सिद्धदशा तक की भावना की है। अरे! भावना तो केवलज्ञान की भी होती है।

मुनिराज तो नग्न-दिगम्बर चैतन्यस्वरूप में झूलते हैं। अन्तरङ्ग में उस मुनिदशा की पहिचान करके उसकी भावना भी अभी लोगों को दुर्लभ हो गयी है। सिद्ध भगवान जैसा अनाकुल, शान्त, उपशमरस अन्दर में प्रगट हो, चैतन्य का फव्वारा फूटकर अन्दर से शान्तरस की धारा छूटे - ऐसी दशा को उपवास कहते हैं और वैसी ही मुनिदशा होती है।

तात्पर्य यह है कि आगमविरुद्ध आहार-विहारादि तो मुनि ने पहले ही छोड़ दिये हैं। अब, संयम के निमित्तपने की बुद्धि से मुनि के जो आगमोक्त आहार, अनशन, गुफादि में निवास, विहार, देहमात्र परिग्रह, अन्य मुनियों का परिचय और धार्मिक चर्चा-वार्ता पाये जाते हैं, उनके प्रति भी रागादि करना योग्य नहीं है, उनके विकल्पों से भी मन को रमने देना योग्य नहीं है; इस प्रकार आगमोक्त आहार-विहारादि में भी प्रतिबन्ध प्राप्त करना योग्य नहीं है क्योंकि उससे संयम में छेद होता है।

अब, छेद क्या है अर्थात् छेद किसे कहा जाता है ? - यह कहा जाता है -

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतय त्ति मदा॥ 216॥

अर्थात् श्रमण के शयन, आसन (बैठना), स्थान (खड़े रहना), गमन इत्यादि में जो अप्रयत चर्या है, वह सदा सतत हिंसा मानी गई है।

अशुद्धोपयोग, वास्तव में छेद है क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन

होता है और वही (अशुद्धोपयोग ही) हिंसा है क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हिंसन (हनन) होता है; इसलिए श्रमण के, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती - ऐसी शयन-आसन-स्थान-गमन-इत्यादि में अप्रयतचर्या (आचरण), वह वास्तव में उसके लिए सर्व काल में (सदा) ही सन्तानवाहिनी हिंसा ही है, जो कि छेद से अनन्यभूत है (अर्थात् छेद से कोई भिन्न वस्तु नहीं है।)

अशुद्धोपयोग से शुद्धोपयोगरूप मुनित्व (1) छिदता है, (2) हनन होता है, इसलिए अशुद्धोपयोग (1) छेद ही है, (2) हिंसा ही है। जहाँ सोने, बैठने, खड़े होने, चलने इत्यादि में अप्रयत आचरण होता है, वहाँ नियम से अशुद्धोपयोग तो होता ही है; इसलिए अप्रयत आचरण छेद ही है, हिंसा ही है।

छठवें गुणस्थान में मुनि को शुभराग तो है परन्तु भूमिका से विरुद्ध शुभराग हो जाए तो उसका नाम प्रमादचर्या है। यहाँ मुनि की भूमिका का जो शुभराग है, उसे अशुद्धोपयोग में नहीं गिना है क्योंकि उस शुभ के साथ भी अन्दर शुद्धता तो वर्तती है और विकल्प तोड़कर शुद्ध में ही जानेवाले हैं। जो इस बात को नहीं समझते, वे इस बात की आलोचना करते हैं कि आहारादि में भी शुद्धोपयोग क्यों कहा? परन्तु यहाँ क्या अपेक्षा है, इस बात की उन्हें खबर नहीं है; यहाँ चरणानुयोग का कथन है।

अन्दर शुद्धता की भूमिका को टिकाए रखकर वर्तनेवाला जो शुभोपयोग है, उसे भी यहाँ निमित्तरूप से शुद्ध में गिना है क्योंकि भूमिका के अयोग्य शुभभाव मुनि को नहीं होता। अहो! मुनिदशा कैसी होती है? - जगत को इस बात का भी पता नहीं है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि मुनि को अन्तर-रमणता की भूमिका में शुभविकल्प उत्पन्न होने पर भी उसमें प्रमाद नहीं होने देना चाहिए। यदि प्रमाद करे तो उससे शुद्धोपयोग भूमिका में छेद होता है। शुभविकल्प से अप्रमादरूप से विहारादि करने का नाम यहाँ अप्रयतचर्या नहीं कही है और उसे छेद में नहीं गिना है क्योंकि इतना शुभभाव आवे, वह तो मुनि की छठवें गुणस्थान की भूमिका का स्वरूप है परन्तु यदि उसमें प्रमादी हो जाए, तभी वह हिंसा और छेद है।

यद्यपि शुभविकल्प उत्पन्न होना भी परमार्थ से तो हिंसा है परन्तु यहाँ उसे हिंसा नहीं गिना है क्योंकि उससे छठवें गुणस्थान का नाश नहीं होता। मुनिदशा टिककर शुद्ध के साथ

निमित्तरूप से वर्तनेवाला जो शुभविकल्प है, उसे यहाँ हिंसा के रूप में नहीं गिना गया है परन्तु छठवें गुणस्थान की भूमिका से विरुद्ध राग हो जाए, लापरवाही हो जाए तो वहाँ संयम का छेद होता है और वह हिंसा है।

मुनि को अन्तरङ्ग में कैसी वीतरागदशा होती है, कैसी शुद्धता होती है, उस भूमिका में कैसा विकल्प होता है और उस भूमिका में सहजरूप से बाह्य निमित्त कैसे होते हैं? – इन सबका वर्णन यहाँ किया गया है। आचार्यदेव ने चरणानुयोग का वर्णन भी अद्‌भुत किया है। गृहस्थों को ऐसी दशा नहीं होती, परन्तु ज्ञानी को ऐसी दशा की भावना और ज्ञान तो करना चाहिए न! गृहस्थों को इस मुनिदशा का स्वरूप पहचानना चाहिए और इससे विरुद्ध हों, उसकी श्रद्धा छोड़नी चाहिए। सच्ची प्रतीति और ज्ञानपूर्वक हुई मुनिदशा कैसी होती है? – उसकी यह बात है। वह मुनिदशा न हो सके तो उसकी श्रद्धा-ज्ञान रखनेवाला भी सत्य के मार्ग में हैं।

मुनि को आहारादि का जो शुभविकल्प उत्पन्न होता है, वह तो औषध के समान है। जैसे, औषध की अमुक मर्यादा होती है। जैसे, किसी वैद्य ने दवा के रूप में थोड़ा मुरब्बा खाने को कहा हो, उसके बदले स्वाद का लोलुपी होकर अधिक मुरब्बा खाने लगे तो उससे उल्टा नुकसान ही करेगा; इसी प्रकार इस निर्ग्रन्थ मुनिदशा में अन्दर निर्विकल्प स्थिरता में न टिके, तब शुभविकल्प उत्पन्न हो, वह औषधि जैसा है परन्तु यदि उस शुभविकल्प में ही प्रमादी हो जाए और अन्दर की दशा को चूक जाए तो वहाँ चैतन्य की हिंसा होती है। यहाँ बाह्य हिंसा की बात नहीं है अपितु अन्दर में चैतन्य के उपयोग का घात हुआ, वही हिंसा है।

कोई कहता है कि 'यह तो जिनकल्पी मुनि की बात है, स्थविरकल्पी मुनि को तो वस्त्रादि होते हैं!' तो ऐसा नहीं है। भाई! जिनकल्पी अथवा स्थविरकल्पी, इन सभी मुनियों की दशा तो ऐसी ही होती है। जिनकल्पी अर्थात् जो अकेले रहते हैं और स्थविरकल्पी अर्थात् जो समुदाय में रहते हैं; मात्र इतना ही अन्तर है लेकिन स्थविरकल्पी का यह अर्थ नहीं है कि वे वस्त्रादि रखते हैं।

अनादि-अनन्त समस्त मुनियों की अन्तर और बाह्य दशा ऐसी होती है। महाविदेह के मुनि हों या भरतक्षेत्र के, किन्तु उनकी दशा तो ऐसी ही होती है; इससे विरुद्धदशा में अर्थात् वस्त्रादिसहित मुनिपना मनवानेवाला तो मिथ्यादृष्टि है। उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है परन्तु जिसे यथार्थ मुनिदशा हो, वह भी यदि गमन, आहार इत्यादि में प्रमादी हो जाए तो उसे भी

मुनिदशा में छेद होता है, हिंसा होती है; इसलिए मुनियों को भूमिकानुसार वर्तते शुभ में भी प्रमादी नहीं होना चाहिए।

यहाँ चरणानुयोग है, इसलिए चारित्र की भूमिका के अनुसार साथ में वर्तनेवाला जो शुभोपयोग है, उसे भी निमित्तरूप से शुद्धोपयोग में गिना है क्योंकि वहाँ मूल भूमिका टिक रही है। मूल भूमिका को विघ्न करनेवाला शुभभाव हो तो उसे यहाँ अशुद्धोपयोग गिना है। द्रव्यानुयोग में तो शुभविकल्प को भी अशुद्धोपयोग ही कहा जाता है और अन्तर में निर्विकल्प होकर लीन होने को शुद्धोपयोग कहा जाता है; इसलिए कहाँ क्या आशय है? उसे गुरुगम से समझना चाहिए।

जिन मूढ़ जीवों को इस बात का पता नहीं है, वे आचार्यदेव के इस कथन की आलोचना करते हैं कि विहार करते-करते भी शुद्धोपयोग क्यों कहा है? परन्तु यहाँ चरणानुयोग में कैसी शैली है? — यह बात समझने की सामर्थ्य उन जीवों में नहीं है।

अब, छेद के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दो प्रकार बतलाते हैं -

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥ 217॥

अर्थात् जीव मरे या जिये, अप्रयत आचारवाले के (अन्तरङ्ग) हिंसा निश्चित है; प्रयत के, समितिवान् के (बहिरङ्ग) हिंसामात्र से बन्ध नहीं है।

आत्मा का सम्यक् भान होने के पश्चात् रागरहित अन्तर स्थिरता हो, तब मुनिदशा होती है और वहाँ बाह्य में सहज निर्ग्रन्थता होती है। मुनिराज को प्रचुर वीतरागता प्रगट हुई है और अति अल्प राग रहा है। यदि वहाँ प्रमाद बढ़ जाए तो उस मुनि को हिंसा होती है; इसलिए प्रमादभाव हिंसा है। जो भूमिका अनुसार शुभविकल्प है, उसे यहाँ प्रमाद में नहीं गिना है परन्तु उस भूमिका के योग्य शुभविकल्प को उल्लङ्घनकर विशेष राग हो जाए तो वहाँ मुनि को प्रमादभाव से हिंसा होती है। बाहर में भले ही परजीव की हिंसा न होती हो, परन्तु यदि अन्तरङ्ग में प्रमादभाव हो तो वहाँ उस मुनि को हिंसा लगती है।

जहाँ ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यस्वभाव में लीनता हुई, वहाँ राग की वृत्ति निश्चित मर्यादित ही होती है। उतने राग को जानता है परन्तु उससे विशेष राग हो जाए तो वह प्रमाद और साथ ही

हिंसा है। स्वभाव के आश्रय से जितनी वीतरागता है, उतना तो निश्चय प्रयत्न है और वहाँ भूमिकानुसार वर्तनेवाले शुभविकल्प को व्यवहार प्रयत्न में गिना गया है और यदि भूमिका से विरुद्ध विकल्प उत्पन्न हों तो उसे अप्रयत आचार अर्थात् प्रमाद गिना गया है, वह प्रमाद ही हिंसा है। परजीव मरे अथवा न मरे, उनके साथ हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है।

यदि किसी को तीव्रराग हो और सामनेवाला जीव मर जाए तो वहाँ भी वह जीव मरा, उसकी हिंसा इस जीव को नहीं है किन्तु स्वयं का जो तीव्र रागभाव है, वही हिंसा है, वही पाप है। इसी प्रकार परजीव भले ही न मरे और यहाँ कषायभाव हो तो यहाँ हिंसा लगती ही है। यहाँ मुनि को कषायभाव न हो और सामनेवाला जीव मरे तो वहाँ मुनि को हिंसा नहीं लगती।

ज्ञानस्वभाव की जो स्व-पर प्रकाशक पर्याय खिलती है, उसका स्वभाव तो राग के क्रम को जानने का ही है; ज्ञान कभी राग के क्रम को बदलता नहीं है, ज्ञान तो राग से भिन्नरूप रहकर राग को जानता है। ज्ञान, राग को लाता भी नहीं और ज्ञान, राग का नाश भी नहीं करता। यदि भूमिका से अधिक राग हो जाए तो स्व-पर प्रकाशक ज्ञान में उसका ख्याल आता है। ज्ञान तो उसी क्षण स्व-पर प्रकाशक स्वभाव से राग को भी जानता ही है। तीव्रराग हो जाए तो भी ज्ञान तो उसे जानता ही है।

ज्ञान, अपने स्वभाव के सन्मुख रहकर राग को जानता है; राग के सन्मुख होकर राग को नहीं जानता। यह तो ज्ञानगुण के स्वभाव की बात हुई और जो राग होता है, वह चारित्र की विकारी पर्याय का वही काल है, उस पर्याय का वैसा ही क्रम है। छठवें गुणस्थान में अमुक राग होता है, इससे विशेष राग हो तो ज्ञान उसे जानता है कि इस भूमिका के लिए यह तीव्रराग अयोग्य है। वहाँ ज्ञान का स्वभाव तो उस समय वैसे राग को जानने का ही है। उस समय का पुरुषार्थ वैसा ही है और राग का भी वैसा ही क्रम है। वहाँ ज्ञान ने जाना कि यह राग इस भूमिका से विशेष अर्थात् विरुद्ध है, वह हिंसा है।

निर्विकल्प ज्ञायक आत्मा में जितनी अभेद परिणति हुई, उतनी निश्चय समिति है। शुद्धात्मस्वरूप में मुनि के लिए उचित 'सम्यक् इति' अर्थात् परिणति, वह निश्चय समिति है और उस दशा में वर्तनेवाली जो हठरहित ईर्या, भाषा सम्बन्धी शुभपरिणति है, वह व्यवहार समिति है। जहाँ शुद्धात्मस्वरूप में सम्यक्परिणतिरूप दशा न हो, वहाँ शुभपरिणति हठसहित होती है, वह शुभपरिणति तो व्यवहार समिति भी नहीं है।

दृष्टि तो अखण्ड ज्ञायकद्रव्य को ही स्वीकार करती है।

ज्ञान, स्व–पर प्रकाशक स्वभाव से उस–उस भूमिका के राग को भी जानता है।

चारित्र में भूमिकानुसार राग होता है, उस भूमिका की मर्यादा से अधिक राग हो जाए तो वहाँ हिंसा है।

राग तो उसके कालक्रम से आया है परन्तु उस भूमिका के लिए वैसा तीव्रराग हो तो वह हिंसा है – ऐसा ज्ञान में ख्याल कराया है।

आहार, सदोष हो, अध:कर्मी हो, परन्तु यदि मुनि को अन्तरङ्ग में उस प्रकार का विकल्प ही उत्पन्न नहीं हुआ तो वहाँ वह आहार लेने पर भी मुनि को भूमिका से विरुद्ध तीव्रराग नहीं होने से हिंसा नहीं लगती।

अशुद्धोपयोग अन्तरङ्ग छेद है, परप्राणों का व्यपरोप (विच्छेद), बहिरङ्ग छेद है।

छठवें गुणस्थान में निर्दोष आहार–ग्रहण इत्यादि की जो शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे यहाँ चरणानुयोग में अशुद्धोपयोग नहीं गिना है और उसमें अन्तरङ्ग छेद नहीं माना है परन्तु यदि अध:कर्मी आहार लेने की वृत्ति उत्पन्न हो तो वहाँ अशुद्धोपयोग होने से अन्तरङ्ग छेद माना है।

देखो, ऐसी दशा के बिना मुनिदशा नहीं होती और ऐसी मुनिदशा के बिना मन:पर्ययज्ञान नहीं होता, गृहस्थ को मन:पर्ययज्ञान नहीं होता। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं –

'हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन भी स्वरूपानुसन्धान में इस पामर को परम उपकारी हुए हैं, उसके लिए मैं आपको अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।'

देखो तो सही! भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य, श्रीमद् राजचन्द्र के भी गुरु हैं। पञ्चास्तिकाय की गाथाओं के गुजराती अनुवाद के माङ्गलिक में नमस्कार करते हुए स्वयं श्रीमद् राजचन्द्र लिखते हैं कि 'नम: सद्गुरुवे।' उन कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो ऐसी मुनिदशा का वर्णन किया है; इससे विरुद्ध मुनिदशा माननेवाले ने तो श्री कुन्दकुन्द भगवान को मिथ्यादृष्टि कहा है अर्थात् माना है। उस जीव को जैनधर्म का पता नहीं है।

जो मुनिदशा का ऐसा स्वरूप कहनेवाले कुन्दकुन्दप्रभु को गुरुरूप से स्वीकार करता है, वह वस्त्रसहित मुनिपना कैसे मानेगा? कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो वस्तु का स्वरूप कहा है। छठवें गुणस्थान की पर्याय का स्वभाव कैसा है? – वही बतलाया है। वहाँ वस्त्रादि ग्रहण करने

का अथवा लौकिक कार्य में पड़ने का रागभाव तो होता ही नहीं।

केवलज्ञान पर्याय का स्वभाव ऐसा है कि वहाँ आहार-पानी की वृत्ति अथवा वस्त्र-पात्र इत्यादि होते ही नहीं। इसके बदले केवली भगवान को आहारादि और मुनि को वस्त्रादि माननेवाले ने तो देव-गुरु-धर्म को भी नहीं जाना है अर्थात् वस्तुस्वभाव को नहीं जाना है। भाई ! ऐसा मुनिपना भले ही अपने को वर्तमान में न हो सके, परन्तु श्रद्धा तो वैसी ही रखना चाहिए। जैसा मुनिपना हो, उससे विपरीत स्वरूप मानने में तो मिथ्याश्रद्धा है।

अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग छेद में अन्तरङ्ग छेद ही विशेष बलवान हैं; बहिरङ्ग छेद नहीं, क्योंकि परप्राणों के व्यपरोप का सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता - ऐसे अप्रयत आचार से प्रसिद्ध होनेवाला अर्थात् जानने में आनेवाला अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके हिंसा के सद्भाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है।

आत्मा, द्रव्यस्वभाव से तो राग का भी कर्ता नहीं है परन्तु पर्याय में रागरूप परिणमता है; इसलिए व्यवहार में उस राग का और उसके निमित्त का भी ज्ञान करना चाहिए। अन्तरङ्ग में राग का सद्भाव ही हिंसा है; बाह्य में परजीव के मरनेमात्र से हिंसा नहीं है। जैनदर्शन में तो रागभाव की उत्पत्ति को हिंसा कहा गया है।

छठवें गुणस्थान में जो शुभराग है, वह परमार्थ से तो हिंसा ही है परन्तु यहाँ चरणानुयोग में भूमिका से बाह्य होनेवाले राग को हिंसा गिना गया है। वीतरागभाव ही अहिंसा धर्म है। छठवें गुणस्थान में अमुक राग होने पर भी, वहाँ उस भूमिकानुसार वीतरागता टिक रही है; वही अहिंसा धर्म है। शुभराग हो, वह कोई अहिंसा धर्म नहीं है।

ज्ञानी को भावना तो पूर्ण चारित्र और वीतरागता की ही होती है। यदि पूर्णता की भावना न हो, तब तो यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान में नहीं रहते। श्री जयसेनाचार्य, प्रवचनसार की 244 वीं गाथा की टीका में कहते हैं -

इत्थं वीतरागचारित्रव्याख्यानं श्रुत्वा केचन वदन्ति - सयोगिकेवलि-नामप्येकदेशेन चारित्रं, परिपूर्णचारित्रं पुनरयोगिचरमसमये भविष्यति तेन कारणेनेदानीमस्माकं सम्यक्त्वभावनया भेदज्ञानभावनया च पूर्यते चारित्रं पश्चाद्भविष्यतीति नैवं वक्तव्यम्.......।

तात्पर्य यह है कि वीतरागचारित्र का व्याख्यान सुनकर कितने ही ऐसा कहते हैं -

'सयोगकेवली को भी एकदेशचारित्र है, परिपूर्ण चारित्र तो अयोगकेवली के चरम समय में होगा; इस कारण अभी हमारे तो सम्यक्त्वभावना तथा भेदज्ञानभावना ही पर्याप्त है, चारित्र बाद में हो जाएगा' – तो ऐसा नहीं कहना चाहिए.... ।

वर्तमान में वैसी दशा भले ही न प्रगट हो तो भी अन्तरङ्ग में उसकी भावना तो वर्तमान में की जा सकती है। वीतरागता की भावना छोड़कर, राग की भावना करनेवाले के तो श्रद्धा-ज्ञान भी नहीं रहते। जिसने पूर्णस्वभाव को जाना, श्रद्धा में लिया, उसे पर्याय में भी पूर्णता की भावना ही होती है; हठ नहीं होता और भावना छूटती भी नहीं।

यहाँ जिसे प्रमादभावरूप अशुद्धोपयोग है, उसे हिंसा होती है और जिसे अशुद्धोपयोग नहीं होता, उसे हिंसा का भी अभाव ही है। जैसे, बाह्य में परजीव न मरने पर भी यदि अन्तरङ्ग में अशुद्धोपयोग हो तो वहाँ हिंसा की प्रसिद्धि है।

इस प्रकार जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है – ऐसे प्रयत आचार से प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगरूप असद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके परप्राणों के व्यपरोप के सद्भाव में भी बन्ध की अप्रसिद्धि होने से, हिंसा के अभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है।

तात्पर्य यह है कि बाह्य प्राणी मरे, उसकी हिंसा इस जीव को नहीं है। अन्तरङ्ग हिंसा ही दोष है और बाह्य हिंसा तो निमित्तमात्र है।

ऐसा होने पर भी (अर्थात् अन्तरङ्ग छेद ही विशेष बलवान है; बहिरङ्ग छेद नहीं –ऐसा होने पर भी) बहिरङ्ग छेद, अन्तरङ्ग छेद का आयतनमात्र है; इसलिए उसे (बहिरङ्ग छेद को भी) स्वीकार तो करना ही चाहिए अर्थात् उसे मानना ही चाहिए।

बाह्य में निमित्त है, उसका ज्ञान करना चाहिए और अन्तरङ्ग में विशेष राग न हो जाए, उसके लिए जागृति रखना चाहिए, क्योंकि अन्तरङ्ग में राग से ही हिंसा होती है।

भावार्थ यह है कि शुद्धोपयोग का हनन होना, वह अन्तरङ्ग हिंसा अर्थात् अन्तरङ्ग छेद है और दूसरे के प्राणों का विच्छेद होना, बहिरङ्ग हिंसा अर्थात् बहिरङ्ग छेद है।

जीव मरे या न मरे, जिसके अप्रयत आचरण है, उसके शुद्धोपयोग का हनन होने से अन्तरङ्ग हिंसा होती ही है और इसलिए अन्तरङ्ग छेद होता ही है। जिसके प्रयत आचरण है, उसके परप्राणों के व्यपरोपरूप बहिरङ्ग हिंसा अर्थात् बहिरङ्ग छेद के सद्भाव में भी, शुद्धोपयोग

का हनन नहीं होने से अन्तरङ्ग हिंसा नहीं होती और इसलिए अन्तरङ्ग छेद भी नहीं होता।

अब, सर्वथा अन्तरङ्ग छेद निषेध्य या त्याज्य है - ऐसा उपदेश करते हैं -

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥ 218 ॥

अर्थात् अप्रयत आचारवाला श्रमण, छहों काय सम्बन्धी वध का करनेवाला मानने में - कहने में आया है; यदि सदा प्रयतरूप से आचरण करे तो जल में कमल की भाँति निर्लेप कहा गया है।

छठवें गुणस्थान की भूमिकानुसार शुभभाव होने पर भी वहाँ मुनि की भूमिका में दोष नहीं लगता; इसलिए यहाँ उसे निर्लेप कहा गया है। राग का अल्प बंधन है परन्तु भूमिका से अधिक राग नहीं है अर्थात् भूमिका से च्युत नहीं होते; इसलिए वे निर्लेप हैं।

जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता - ऐसे अप्रयत आचार के द्वारा प्रसिद्ध (ज्ञात) होनेवाला अशुद्धोपयोग का सद्भाव, हिंसक ही है क्योंकि छह काय के प्राणों के व्यपरोप के आश्रय से होनेवाले बन्ध की प्रसिद्धि है और जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है - ऐसे प्रयत आचार से प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव, अहिंसक ही है।

देखो तो सही, जैनदर्शन में अहिंसा और हिंसा की यह व्याख्या! परजीव के साथ हिंसा -अहिंसा का क्या सम्बन्ध है ? अपनी भूमिका में विशेष राग हो जाए तो वहाँ ज्ञान जानता है कि इस तीव्रराग से चारित्र की भूमिका की हिंसा है। लोग तो स्थूलरूप से बाहर में अटक गये हैं और उन्हें इस मार्ग की समझ भी कठिन हो गयी है।

अहो! छठवें गुणस्थान में भी मुनि को निर्लेप कहा, क्योंकि वहाँ अविकारीभाव विद्यमान है। जितनी राग की हद या मर्यादा है, उतना ज्ञान जानता है और अशुभराग न हो जाए, उसकी जागृति वर्तती है।

ऐसे मुनि को पर के आश्रय से होनेवाले लेशमात्र भी बन्ध का अभाव होने के कारण, जल में झूलते हुए कमल की भाँति निर्लेपपने की प्रसिद्धि है; इसलिए उन-उन सर्व प्रकार से अशुद्धोपयोगरूप अन्तरङ्ग छेद निषेध्य अर्थात् छोड़ने लायक है; जिन-जिन प्रकारों से उसके आयतनमात्रभूत परप्राणव्यापरोपरूप बहिरङ्ग छेद दूर से ही निषिध्य हो।

जहाँ अन्तरङ्ग में छेद या हिंसा नहीं है, वहाँ बहिरङ्ग छेद भी नहीं है। जहाँ बाह्य हिंसादिक का निषेध किया हो, वहाँ उस प्रकार के अन्तरङ्ग अशुभभाव का निषेध है अर्थात् अन्तरङ्ग छेद छोड़ने योग्य है – ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ यह है कि शास्त्रों में अप्रयत–आचारवान् अशुद्धोपयोगी को छह काय का हिंसक कहा है और प्रयत–आचारवान् शुद्धोपयोगी को अहिंसक कहा है; इसलिए शास्त्रों में जिस–जिस प्रकार से छह काय की हिंसा का निषेध किया गया हो, उस–उस समस्त प्रकार से अशुद्धोपयोग का निषेध समझना चाहिए।

यह तो मुनिदशा का वर्णन है, ऐसी मुनिदशा होने से पूर्व सम्यग्दर्शन होना चाहिए। सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपना नहीं होता और देव–गुरु–शास्त्र की सच्ची श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; इसलिए सर्वज्ञदेव कैसे होते हैं ? निर्ग्रन्थ गुरु कैसे होते हैं ? उनका अन्तर–बाह्य स्वरूप कैसा होता है तथा शास्त्र कैसे होते हैं ? – यह सब समझना चाहिए। देव–शास्त्र–गुरु की समझ में भी जिसको भूल हो, उसे तो गृहीत मिथ्यात्व है। यहाँ जैसी कही जा रही है, वैसी मुनिदशा माने बिना तो व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं होती।

शास्त्र में अप्रयत आचरणवन्त अशुभोपयोगी को छह काय का हिंसक कहा है और प्रयत आचरणवन्त शुद्धोपयोगी को अहिंसक कहा है; इसलिए शास्त्र में जिस प्रकार छह काय की हिंसा का निषेध किया गया हो, वह–वह सर्व प्रकार से अशुद्धोपयोग का ही निषेध समझना चाहिए।

अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि शुभराग छठवें गुणस्थान की मर्यादानुसार हो, उससे विशेष तीव्रराग हो जाए तो उस मुनि को छह काय का हिंसक कहा है अर्थात् मुनिपने में तीव्रराग नहीं हो सकता। मुनिपने में छह काय की हिंसा का निषेध कहा है, उसमें वस्तुतः तो अन्तरङ्ग में तीव्रराग का ही निषेध है। वस्त्रादि रखने का भाव तीव्रराग है। जो शास्त्र, वस्त्रसहित मुनिपना मनवाते हैं, वे शास्त्र भी सच्चे नहीं हैं और वह मुनिपना भी सच्चा नहीं है।

मुनि को अन्तरङ्ग में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता है और बाह्य में वस्त्रादिरहित दिगम्बरदशा होती है, इसके अतिरिक्त वीतरागमार्ग में मुनिदशा नहीं होती। ऐसी दशा सर्वज्ञदेव द्वारा आदर की हुई एवं कही हुई है। यह मार्ग सन्तों ने सेवन किया है। अभी भी महाविदेहक्षेत्र

में यही मार्ग एक धारा से चल रहा है और इसी मार्ग का प्रतिपादन होता है। यह आत्मज्ञानपूर्वक की बात है; आत्मज्ञान बिना मुनिदशा होती ही नहीं। आत्मज्ञान के पश्चात् देह-देवल में विराजमान, किन्तु देह से भिन्न चैतन्य ज्ञाता में स्थिरता होने पर बहुत राग नष्ट हो जाता है और जैसा माता ने जन्म दिया, वैसी देह की दशा हो जाती है, तब मुनिपना होता है; इतनी मर्यादा के बिना मुनिपना नहीं होता।

अभी यहाँ ऐसे मुनि नहीं दिखते, किन्तु इससे कहीं मुनिदशा का स्वरूप बदल नहीं जाएगा। महाविदेहक्षेत्र में अभी लाखों सन्त-मुनिराज ऐसी भावलिङ्गी मुनिदशा में विराजमान हैं। भाई! मुनिपने का पालन न हो सके तो इसका जैनदर्शन में कोई दण्ड नहीं है परन्तु विपरीत प्रकार से मुनिपना मान ले तो उसे दण्ड है अर्थात् उसकी श्रद्धा मिथ्या है। आत्मा की और देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा भी जहाँ न हो, वहाँ मुनिपना मान ले तो वह मिथ्यात्व है।

अब, उपधि (परिग्रह) को ऐकान्तिक अन्तरङ्ग-छेदत्व होने से उपधि, अन्तरङ्ग छेद की भाँति त्याज्य है - ऐसा उपदेश करते हैं -

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं॥ 219॥

अर्थात् अब, (उपधि के सम्बन्ध में ऐसा है कि) कायचेष्टापूर्वक जीव के मरने पर बन्ध होता है अथवा नहीं होता; (किन्तु) उपधि से - परिग्रह से निश्चय ही बन्ध होता है; इसलिए श्रमणों (अरहन्तदेवों) ने सर्व परिग्रह को छोड़ा है।

शरीर की चेष्टा से परप्राण नष्ट हों, वहाँ यदि मुनि को तीव्रराग हो तो दोष लगता है परन्तु यदि प्रमादभाव न हो तो वहाँ दोष नहीं लगता, परन्तु वस्त्र के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है अर्थात् वस्त्रादि परिग्रह हों, वहाँ तो अवश्य ही अन्तरङ्ग में ममत्व आदि भाव होते ही हैं और इस कारण वहाँ अवश्य बन्ध होता है; इसलिए योगियों को समस्त परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

कोई मुनिराज आत्मध्यान में बैठे हों और कोई उन पर वस्त्र डाल जाए तो वहाँ तो वह उपसर्ग है; परिग्रह नहीं, क्योंकि मुनिराज को वस्त्र के ग्रहण की वृत्ति नहीं है। स्वयं ही वस्त्र रखे और कहे कि मुनिदशा है तो भगवान कहते हैं कि वह निश्चितरूप से मिथ्यादृष्टि है।

वस्त्रसहित सम्यग्दृष्टिपना हो सकता है, पञ्चम गुणस्थान हो सकता है, ब्रह्मचारीपना हो सकता है; परन्तु मुनिदशा तो हो ही नहीं सकती।

आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई! वस्तुस्थिति तो ऐसी है। तुझसे इतनी स्थिति तक नहीं पहुँचा जा सके तो भी श्रद्धा में तो विपरीतता मत करना। श्रद्धा में तो यथार्थ वस्तुस्थिति का स्वीकार करना, तभी तेरी श्रद्धा में समीचीनता टिकी रहेगी। मुनिराज की वीतरागी पर्याय का धर्म ही ऐसा है कि वहाँ वस्त्र के साथ चारित्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता ही नहीं - ऐसी वस्तुस्थिति होने से परम श्रमण/अरहन्त भगवानों ने समस्त परिग्रह का त्याग किया है, ऐसी ही मुनिमार्ग की अखण्ड धारा है.... इससे विरुद्ध माननेवाला वीतरागमार्ग की अवज्ञा करता है।

जैसे, कायव्यापारपूर्वक परप्राणव्यपरोप को अशुद्धोपयोग के सद्भाव और असद्भाव के द्वारा अनैकान्तिक बन्धरूप होने से उसे (कायव्यापारपूर्वक परप्राणव्यपरोप को) छेदपना अनैकान्तिक माना गया है, वैसा उपधि-परिग्रह का नहीं है।

बाह्य में परजीव मरे, तब मुनि को बन्धन हो ही अथवा न ही हो - ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है परन्तु यदि मुनि को प्रमाद हो तो बन्धन होता ही है और प्रमाद न हो तो बन्ध नहीं होता, क्योंकि सिद्धान्त यह है कि प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा अर्थात् यदि अन्तरङ्ग में प्रमादभाव हो तो ही हिंसा है। इस प्रकार वस्त्रादि परिग्रह के सम्बन्ध में नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ वस्त्रादि परिग्रह होता है, वहाँ कभी बन्ध हो और कभी न हो - ऐसा अपवाद नहीं है। वहाँ तो एक ही नियम है कि जहाँ वस्त्रादि परिग्रह हो, वहाँ जीव को अशुद्धोपयोग अर्थात् तीव्रराग होता ही है और उससे वहाँ बन्ध भी अवश्य होता ही है।

परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभावित्व है, उससे प्रसिद्ध होनेवाले ऐकान्तिक अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह तो ऐकान्तिक बन्धरूप है; इसलिए उसे अर्थात् परिग्रह को छेदपना ऐकान्तिक ही है।

परिग्रह और अशुद्धोपयोग के तो ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ही कि जहाँ वस्त्रादिक परिग्रह हों, वहाँ अन्तर में मुनिपने की शुद्धता नहीं होती अर्थात् वहाँ तो मुनिदशा का

सर्वथा छेद हो जाता है। वस्त्रसहित तो मुनिदशा होती ही नहीं – ऐसा नियम है।

इसीलिए भगवन्त अरहन्तों ने/परम श्रमणों ने स्वयं ही पहले ही सर्व परिग्रह को छोड़ा है और इसीलिए दूसरों को भी, अन्तरङ्ग छेद की भाँति प्रथम ही सर्व परिग्रह छोड़ने योग्य है क्योंकि वह (परिग्रह) अन्तरङ्ग छेद के बिना नहीं होता।

भगवान का इस भव में मोक्ष जाना निश्चित है परन्तु बाह्य में समस्त परिग्रह का परित्याग करके मुनि हुए बिना भगवान को भी केवलज्ञान नहीं होता। तीर्थङ्कर भगवन्तों ने तो ऐसी दशा से केवलज्ञान साधा है और दूसरे जीव उससे विपरीत मानें तो वे जीव, तीर्थङ्कर के मार्ग से बाहर हैं। निमित्त से लाभ-हानि माननेवाले को तो सम्यग्दर्शन भी नहीं है तो फिर मुनिपद अथवा आचार्यपद तो उसे होगा ही कैसे? जिसे आत्मा का भान हो, उसे भी वस्त्रसहित मुनिपना नहीं होता।

वस्त्रसहित मुनिदशा नहीं होती, इससे कहीं निमित्त का जोर नहीं आ जाता। निमित्त के कारण मुनिदशा रुक जाती है, यह भी इस कथन का आशय नहीं है परन्तु ऐसे निमित्त के सङ्ग के समय अन्दर में स्वयं को अशुद्धभाव है, इसी कारण मुनिदशा नहीं होती। जैसे, कोई बाह्य में अभक्ष्य आहार भक्षण करता हो और कहे कि हमें अन्दर में अशुभभाव नहीं है तो यह कैसे हो सकता है; अशुभभाव के बिना ऐसे निमित्तों के प्रति लक्ष्य नहीं जाता।

इसी प्रकार तीव्रराग के बिना वस्त्रादि के ग्रहण का भाव होता ही नहीं और जहाँ ऐसा तीव्रराग हो, वहाँ मुनिपना होता ही नहीं। जैसे, अन्तरङ्ग में माँस-भक्षण का भाव न हो, वहाँ भाषा भी ऐसी नहीं होती कि माँस अच्छा है तथा अन्तरङ्ग में ब्रह्मचर्य का भाव हो, वहाँ स्त्री का सङ्ग अच्छा है – ऐसी भाषा भी नहीं होती। यद्यपि भाषा तो भाषा के कारण होती है, तथापि भाव का और भाषा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

इसी प्रकार वस्त्ररहितपने का और मुनिपने का भी ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अन्दर में मुनिदशा का निर्मल वीतरागभाव हुआ हो और भाषा में ऐसा कहे कि वस्त्रादि रखने में कोई आपत्ति नहीं है – ऐसा हो ही नहीं सकता। जहाँ वस्त्रादि रखने की बुद्धि है, वहाँ मुनिपना नहीं है। ऐसा होने से सर्वज्ञ भगवन्तों ने मुनिपने में वस्त्रादि परिग्रह का निषेध किया है।

अशुद्धोपयोग का असद्भाव हो, तथापि काय की हलन-चलनादि क्रिया होने से परजीवों के प्राणों का घात हो जाता है; इसलिए कायचेष्टापूर्वक परप्राणों के घात से बन्ध होने का नियम नहीं है। अशुद्धोपयोग के सद्भाव में होनेवाले कायचेष्टापूर्वक परप्राणों के घात से तो बन्ध होता है और अशुद्धोपयोग के असद्भाव में होनेवाले कायचेष्टापूर्वक परप्राणों के घात से बन्ध नहीं होता; इस प्रकार कायचेष्टापूर्वक होनेवाले परप्राणों के घात से बन्ध का होना अनैकान्तिक होने से उसके छेदपना अनैकान्तिक है अर्थात् नियमरूप नहीं है।

जैसे, भाव के बिना भी परप्राणों का घात हो जाता है, उस प्रकार भाव न होने पर भी परिग्रह का ग्रहण हो जाए - ऐसा कभी नहीं हो सकता। जहाँ परिग्रह का ग्रहण होता है, वहाँ अशुद्धोपयोग का सद्भाव अवश्य होता ही है; इसलिए परिग्रह से बन्ध का होना ऐकान्तिक है, निश्चित है, नियमरूप है; अतः परिग्रह का छेदपना ऐकान्तिक है - ऐसा होने से ही परम श्रमण अर्थात् अरहन्त भगवन्तों ने पहले से ही सर्व परिग्रह का त्याग किया है और अन्य श्रमणों को भी पहले से ही सर्व परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

आत्मद्रव्य में प्रगट होनेवाली मुनिपने की निर्मलपर्याय का स्वभाव ऐसा ही है। जो इस निर्मलपर्याय के स्वभाव को नहीं पहचानता, उसने द्रव्यस्वभाव को भी नहीं पहचाना है। जिसने वस्त्रसहित मुनिपना माना है, उसे तो सच्ची श्रावकदशा भी नहीं रहती; उसकी तुलना में तो सच्ची श्रद्धावाला श्रावक श्रेष्ठ है। अहो! सन्तों ने ऐसा मुक्तिमार्ग कहा है। भाई! ऐसा मुक्तिमार्ग है, इसमें अपवाद नहीं करना, विपरीतता नहीं मानना, यह कोई पक्ष नहीं है। जो इसका विरोध करेगा, वह परिभ्रमण करेगा, किन्तु मार्ग दूसरे प्रकार से होनेवाला नहीं है।

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-
मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं
निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि॥ 14॥

अर्थात् जो कहने योग्य था, वह अवशेषरूप से कहा गया है। इतने मात्र से ही यदि यहाँ कोई चेत जाए या समझ ले तो व्यर्थ वाणी का अति विस्तार क्यों किया जाए, क्योंकि निश्चेतन अर्थात् जड़वत् नासमझों का व्यामोह का जाल वास्तव में अति दुस्तर है।

जिसे विवेक-बुद्धि नहीं है - ऐसे अचेतन अर्थात् जड़ जैसे नासमझ को कौन समझा सकता है ? जिसे वाद-विवाद ही करना है, ऐसे जड़ जैसों को किसी प्रकार नहीं समझाया जा सकता। जैसा मार्ग था, वैसा प्रसिद्ध करके आचार्य भगवन्त ने कहा है कि मुनियों का मार्ग तो ऐसा ही है, जो जिज्ञासु होगा... जो विवेकी होगा... वह तो इतने से ही सब समझ जाएगा, क्योंकि सब कुछ कहा जा चुका है।

सम्यग्दर्शन क्या ? सम्यग्ज्ञान क्या ? सम्यक्चारित्र क्या और उनका बाह्य व्यवहार क्या ? यह सब स्पष्टरूप से कहा गया है। समझनेवाले तो इतने से ही अवश्य समझ जाएँगे और जो बाह्य में जड़वत् होंगे, वे तो कुछ कुतर्क करेंगे - ऐसे नासमझों का तो मोह का जाल अति दुष्कर है अर्थात् उनके मिथ्यात्व का अभाव अत्यन्त कठिन है।

देखो, आचार्यदेव को करुणा उत्पन्न हुई है कि अरे! जो बेचारे जड़ जैसे हैं, वे जीव यह वीतरागमार्ग कैसे समझें। जिनमें 'चेतन' अर्थात् आत्मा की जागृति का भाव होगा, वे तो इतने से ही वस्तुस्थिति समझ जाएँगे। शेष मोही जीवों का तो मोह के जाल से छूटना कठिन है।

अहा मुनिदशा! वे तो आत्मा के आनन्द के अनुभव में झूलनेवाले हैं। कभी आहार की वृत्ति हो और आहार लेने जाएँ, वहाँ किसी के रुदन की आवाज कान में पड़ जाए तो आहार किए बिना वापिस लौट जाते हैं। वे विचारते हैं कि हम तो आनन्द मङ्गलकारी मोक्षदशा को साधने निकले हैं, वहाँ यह रुदन कैसा ? हम तो चैतन्य के आनन्द में झूलनेवाले, वहाँ बीच में ऐसे रुदन के निमित्त क्यों ?

इस प्रकार अन्तरङ्ग में आनन्द की उग्रता द्वारा आहार की वृत्ति का विकल्प तोड़ देते हैं। जहाँ कोई रो रहा हो, वहाँ मुनिराज आहार नहीं लेते। आनन्द के जोर से सहज ही आहार की वृत्ति टूट जाती है परन्तु अरे! हमारे आज आहार में अन्तराय पड़ा - ऐसा मुनिराज को नहीं लगता। मुनिदशा ऐसी आनन्दमय है।

इसमें मुनिदशा का स्वरूप सर्व प्रकार से कहा गया है। सरल जीवों को तो यह बात चित्त में अवश्य बैठ जाएगी। ●

(श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद, गुजराती दैनिक)

भारत में उत्तरप्रदेश प्रान्त की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१वीं शती का
विशुद्ध जिनायतन सङ्कुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

तीर्थधाम मङ्गलायतन

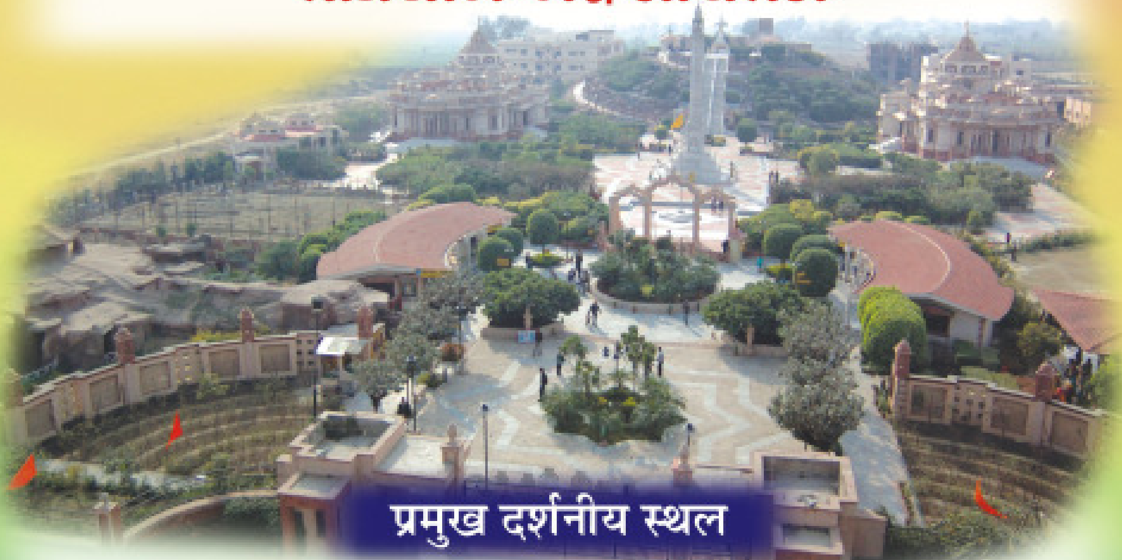

प्रमुख दर्शनीय स्थल

1. कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थङ्करों की निर्वाणस्थलियाँ - कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुरी, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
2. भगवान महावीर मन्दिर
3. भगवान बाहुबली मन्दिर
4. पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केन्द्र
5. आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तन केन्द्र
6. धन्य मुनिदशा (दिगम्बर मुनिराजों की दशा एवं चर्या)
7. आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
8. भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (हाथरस) उत्तरप्रदेश

email : pawanjain@mangalayatan.com; info@mangalayatan.com
website : www.mangalayatan.com

धन्य-मुनिदशा

(खण्ड - 1)

ISBN NO.
978-81-906776-1-5